राजशेखर-कृत

काव्यमीमांसा

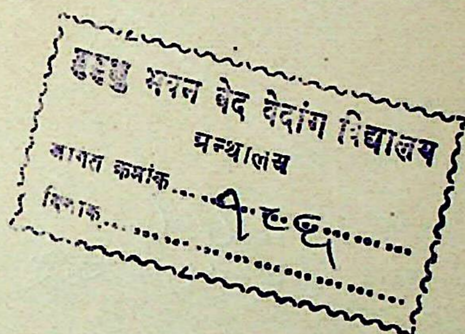
अनुवादक
स्वर्गीय पं० केदारनाथ शर्मा सारस्वत



बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्
पटना

राजशेखर-कृत

काव्यमीमांसा



अनुवादक
पण्डित केदारनाथ शर्मा सारस्वत
'सुप्रभातम्'–सम्पादक

बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्
पटना

प्रकाशक
बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्
पटना-४

प्रथम संस्करण : २,०००; विक्रमाब्द २०११; शकाब्द १८७१; खृष्टाब्द १९५४
द्वितीय संस्करण : २,०००; विक्रमाब्द २०२२; शकाब्द १८८२; खृष्टाब्द १९६५
मूल्य : नौ रुपये पचास पैसे

मुद्रक
गया प्रिन्टर्स
पुरानी गोदाम, गया

प्राक्कथन

काव्यमीमांसा के रचयिता कविराज राजशेखर काव्यशास्त्र के आचार्यों की उस प्राचीन परम्परा में आते हैं, जिसका प्रारम्भ सुदूर अतीत के धूमिल क्षितिज में केवल अस्पष्ट रूप से अभिव्यञ्जित है। स्वयं राजशेखर ने 'काव्यमीमांसा' के आरम्भ में लिखा है कि जिस कविरहस्य का उद्घाटन वे करने जा रहे हैं, उसका सर्वप्रथम निर्माण इन्द्र ने किया था। उसी सिलसिले में, काव्यशास्त्र के भिन्न-भिन्न अंगों के प्रथम प्रणेता के रूप में उन्होंने उक्तिगर्भ, सुवर्णनाभ, प्रचेता, यम, चित्राङ्गद, शेष, पुलस्त्य, औपकायन, पाराशर, उतथ्य, कुवेर, कामदेव, भरत, नन्दिकेश्वर, धिषण (बृहस्पति), उपमन्यु तथा कुचमार का उल्लेख किया है।[1] आज हम जिस परिस्थिति में हैं, उसमें यह कहना कठिन है कि इन नामों में से कितने प्रामाणिक हैं; क्योंकि अधिकांश के विषय में हमें कोई ज्ञान नहीं है। किन्तु, इतना निश्चय है कि इनमें से कई नाम ऐसे हैं, जो ऐतिहासिक तथा प्रामाणिक हैं। उदाहरणतः, 'कामसूत्र' में 'सुवर्णनाभ' और 'कुचमार' की चर्चा आई है। 'भरत' के नाट्यशास्त्र की प्रामाणिकता के सम्बन्ध में तो कोई शंका ही नहीं है। भरत के नाट्यशास्त्र के अन्त में 'नन्दिभरत' नाम का भी उल्लेख है। सम्भवतः, यह 'नन्दिभरत' और 'नन्दिकेश्वर' दोनों एक हों।

इस प्रसंग को अधिक विस्तृत न करते हुए हम इतना तो अवश्य कहेंगे कि भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा किसी-न-किसी रूप में वैदिक संहिताओं के युग से ही चलती आ रही है। किन्तु, काव्यशास्त्र का स्पष्ट और वैज्ञानिक रूप हमें प्रथम-प्रथम 'भरत' मुनि ने अपने नाट्यशास्त्र में दिया। वैसे तो 'अग्निपुराण' में भी साहित्यशास्त्र के सिद्धान्तों का स्थान-स्थान पर सुन्दर विवेचन मिलता है; किन्तु वे अंश, जिनमें यह विवेचन सम्पन्न हुआ है, कहाँतक भरत के नाट्यशास्त्र से प्राचीनतर हैं, यह सन्देहास्पद है। भरत के नाट्यशास्त्र का समय प्रायः ईसवी-सदी का पूर्व माना जाता है। उस समय से काव्यशास्त्र की जो धारा प्रवाहित हुई, वह अविच्छिन्न रूप से चलती चली आई है। काव्यशास्त्र के इन भरत-परवर्त्ती आचार्यों में हम निम्नलिखित नामों का उल्लेख करना चाहेंगे—

मेधावी, रुद्र, भट्टि, काव्यकार, भामह, दण्डी, उद्भट, वामन, रुद्रट, आनन्दवर्द्धन, (ध्वन्यालोककार), राजशेखर, भट्टनायक, शङ्कुक, कुन्तक, अभिनवगुप्त, धनञ्जय, महिमभट्ट, भोज, रामचन्द्र, शारदातनय, क्षेमेन्द्र, मम्मट रुय्यक, वाग्भट, हेमचन्द्र, जयदेव,

---

१. 'तत्र कविरहस्यं सहस्राक्षः समाम्नासीत्, औक्तिकमुक्तिगर्भः, रीतिनिर्णयं सुवर्णनाभः, आनुप्रासिकं प्रचेताः, यमकानि यमः, चित्रं चित्राङ्गदः, शब्दश्लेषं श्लेषः, वास्तवं पुलस्त्यः, औपम्यमौपकायनः, अतिशयं पाराशरः, अर्थश्लेषमुतथ्यः, उभयालङ्कारिकं कुबेरः, वैनोदिकं कामदेवः, रूपकनिरूपणीयं भरतः, रसाधिकारिकं नन्दिकेश्वरः, दोषाधिकारिकं धिषणः, गुणौपादानिकमुपमन्युः, औपनिषदिकं कुचमार इति।'

विद्याधर, विद्यानाथ, विश्वनाथ, भानुदत्त, रूपगोस्वामी, केशवमिश्र, विश्वेश्वर, अप्पय्य दीक्षित, जगन्नाथ और नागेशभट्ट।

हमारे हिन्दी रीति-साहित्य के आचार्यों ने भी काव्यशास्त्र की अनुपम विवेचना की है; किन्तु केशव, बिहारी, भूषण, मतिराम आदि से भानुकवि तक ने जो प्रतिपादन किया है, वह मुख्यांश में संस्कृत-साहित्य से ही अनुप्राणित है। ऐसी स्थिति में हमारा यह दृढ विश्वास है कि हिन्दी के काव्यशास्त्र के समुचित ज्ञान के लिए संस्कृत के आकरभूत काव्यशास्त्र से परिचय आवश्यक है। संस्कृत के काव्यशास्त्र में 'राजशेखर' और उनकी 'काव्यमीमांसा' का स्थान बहुत महत्त्वपूर्ण है। यह रस, गुण अथवा अलंकारों के प्रतिपादन को अपना प्रमुख लक्ष्य मानकर नहीं चलती; किन्तु शास्त्र-संग्रह, शास्त्रनिर्देश आदि आधारभूत तथा गम्भीर विषयों का प्रतिपादन करती है और उसी क्रम में रस, अलंकार आदि का भी विश्लेषण आता है। राजशेखर ने जिस विद्वत्ता के साथ काव्यमीमांसा की रचना की है, उसे ध्यान में रखते हुए 'बालरामायण' में एक स्थल पर यह श्लोक आया है—

बभूव वल्मीकभवः कविः पुरा
ततः प्रपेदे भुवि भर्तृमेण्ठताम्।
स्थितः पुनर्यो भवभूतिरेखया
स वर्त्तते सम्प्रति राजशेखरः॥

तात्पर्य यह है कि आदिकवि वाल्मीकि ही इतर जन्मों में क्रमशः भर्तृमेण्ठ, भवभूति और राजशेखर के रूप में प्रकट हुए। इससे हम राजशेखर के पाण्डित्य और उनकी प्रसिद्धि का अनुमान लगा सकते हैं।

हिन्दी में अबतक राजशेखर की काव्यमीमांसा का प्रामाणिक अनुवाद नहीं था। यह हमारे लिए सभी दृष्टियों से चिन्ताजनक स्थिति थी। बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् की ओर से पण्डित श्रीकेदारनाथ शर्मा सारस्वत जैसे अधिकारी विद्वान् द्वारा इसका अनुवाद प्रस्तुत करते हुए हमें गौरव का अनुभव होता है। सारस्वतजी ने प्रकांड विद्वान् स्वर्गीय महामहोपाध्याय पण्डित रामावतार शर्मा का शिष्यत्व प्राप्त किया है और 'सुप्रभातम्' जैसे विख्यात संस्कृत पत्र का सम्पादन कर विशिष्ट रूप से ख्याति-अर्जन किया है। हमें विश्वास है कि काव्य के मनीषी और साहित्य के प्रेमी इस अनुवाद का समुचित स्वागत करेंगे।

धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी शास्त्री
परिषद् मंत्री

प्राक्कथन

(द्वितीय संस्करण)

'काव्यमीमांसा' का मूल-सह अनूदित प्रथम संस्करण आज से ग्यारह वर्ष पूर्व, सन् १९५४ ई० में ही प्रकाशित हुआ था। तत्कालीन परिषद्-मन्त्री आचार्य श्रीशिवपूजन सहाय की सत्प्रेरणा से इस ग्रन्थ का सटिप्पण अनुवाद काशी के विश्रुत विद्वान् पण्डित श्रीकेदारनाथ शर्मा सारस्वत ने तैयार किया था। श्रीसारस्वतजी ने ग्रन्थ के कतिपय अन्तःसाक्ष्य और अनेक बहिःसाक्ष्यों के आधार पर पाण्डित्यनिष्ठ भूमिका तथा चार परिशिष्टों के साथ अपने इस अनुवाद-ग्रन्थ को परिपूर्ण बनाया था। किन्तु, इसे विधि का विधान ही कहा जाय कि जब इसका प्रथम संस्करण प्रकाशित होने लगा, तब श्रीसहायजी अपनी लम्बी और कठिन बीमारी के कारण अस्पताल चले गये। उनके स्थान पर परिषद् का कार्यभार डॉ० श्रीधर्मेन्द्र ब्रह्मचारी शास्त्री (तत्कालीन समाजशिक्षोपनिदेशक, बिहार) ने सँभाला था। डॉ० शास्त्री के कार्यकाल में ही इस ग्रन्थ के प्रथम संस्करण का प्रकाशन हुआ था।

आज जब परिषद् अपने इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ का द्वितीय संस्करण प्रकाशित कर रही है, तब न तो आचार्य श्रीशिवपूजन सहाय, न डॉ० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी शास्त्री और न पण्डित केदारनाथ शर्मा सारस्वत ही इस धराधाम पर रहे। इस बात के लिए हमें विशेष रूप से दुःख है कि इसके द्वितीय संस्करण का सम्पादन, परिशोधन एवं परिवर्द्धन ग्रन्थ के अनुवादक श्रीसारस्वतजी से नहीं हो पाया।

प्रथम संस्करण के प्रकाशन के बाद ऐसा अनुभव किया गया कि ग्रन्थ में यत्र-तत्र कुछ सम्पादन की भूलें रह गई हैं। अतः, द्वितीय संस्करण के समय परिषद् के लोक-भाषा-अनुसन्धान-विभाग के अनुसन्धायक पण्डित श्रीश्रुतिदेव शास्त्री, एम्० ए० (द्वय) को इसकी मुद्रित पाण्डुलिपि के सम्पादन का भार सौंपा गया। श्रीशास्त्री संस्कृत, प्राकृत और पालि-साहित्य के मर्मज्ञ हैं। श्रीशास्त्री द्वारा सम्पादित पाण्डुलिपि ही द्वितीय संस्करण के रूप में प्रकाशित है, जो अपने सुधी पाठकों के समक्ष प्रस्तुत है। इस संस्करण का मुद्रण-कार्य परिषद् के सद्यः सेवानिवृत्त निदेशक डॉ० श्रीभुवनेश्वरनाथ मिश्र 'माधव' के कार्यकाल में ही प्रारम्भ हुआ था।

संस्कृत तथा हिन्दी-साहित्य के समीक्षा-शास्त्र में 'काव्यमीमांसा' का महत्त्व अक्षुण्ण है। यद्यपि साहित्यशास्त्र की प्राचीन मान्यताएँ आज बिखर रही हैं, तथापि साहित्यशास्त्रीय ज्ञान के लिए इस ग्रन्थ का महत्त्व बढ़ता ही रहेगा, यह भी सत्य है। हमारा यह प्रकाशन सर्वथा उपयोगी प्रमाणित हुआ है और भविष्य में भी इसकी उपयोगिता अधिकाधिक बढ़ेगी, ऐसा विश्वास है।

बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना
मार्गशीर्ष-पूर्णिमा, २०२२ विक्रमाब्द

वैद्यनाथ पाण्डेय
निदेशक

विषय-सूची

कविराज राजशेखर

विक्रम-संवत्सर की नवम, दशम और एकादश शताब्दियों का समय, दीप्तोद्दीप्त संस्कृत-वाङ्मय का निर्वापितप्राय काल कहा जा सकता है। इन तीन शतकों में संस्कृत-वाङ्मय की विभिन्न शाखाओं पर सूक्ष्म रूप से पर्याप्त तथा विस्तृत विवेचन, समीक्षण एवं परीक्षण किया गया। इस मीमांसा-काल में, प्राचीन ऋषियों एवं आचार्यों द्वारा सूत्रों के रूप में संकलित संक्षिप्त शास्त्रीय विषयों पर, तत्कालीन कुशाग्रमति विद्वानों ने, तर्कों, युक्तियों एवं प्रमाणों द्वारा गम्भीरतम रूप में वैज्ञानिक विवेचन किये। इन दार्शनिक विचारधारा के विद्वानों के समीक्षणों से इन तीन शताब्दियों में संस्कृत वाङ्मय-कल्पतरु, अनेक शाखाओं तथा प्रशाखाओं द्वारा विस्तृत, गहन एवं परिपुष्ट होता रहा है। इसी समय विभिन्न विषयों पर तत्कालीन विद्वानों में विवाद (शास्त्रार्थ)-प्रणाली का प्रचार हुआ और बौद्ध एवं जैन विद्वानों ने भी संस्कृत-वाङ्मय की इस मीमांसा में महत्त्वपूर्ण भाग लिया।

इन्हीं शतकों में जहाँ आचार्य शंकर, भट्ट कुमारिल, मण्डनमिश्र, उद्योतकर, आचार्य उदयन, सायण, माधव, विज्ञानेश्वर आदि प्रकाण्ड दार्शनिक, मीमांसक, तार्किक तथा धर्मशास्त्री आलोचक विद्वान् उत्पन्न हुए, वहीं बौद्ध आचार्य धर्मकीर्त्ति, कमलशील, जैन आचार्य पाल्यकीर्त्ति आदि ने संस्कृत-दर्शन, व्याकरण आदि विषयों पर तथा साहित्य-क्षेत्र में आचार्य वामन, दण्डी, आनन्दवर्द्धन, अभिनवगुप्त, राजशेखर, क्षेमेन्द्र, मम्मट, भोज आदि विद्वानों ने रस, अलंकार, ध्वनि एवं रीति विषयों पर, सूक्ष्मतर और गंभीरतम मीमांसाओं द्वारा संस्कृत-भाण्डागार को अनेक अमूल्य उज्ज्वल रत्न प्रदान किये।

इन शतकों के अनन्तर जो विद्वान् उत्पन्न हुए, वे इन्हीं विद्वानों की रचनाओं पर टीका-टिप्पणियाँ, शुष्क शास्त्रार्थ, संग्रह एवं निबन्ध-ग्रन्थों की रचनाएँ करते रहे। मौलिक गवेषणाओं और विचारों की वह छटा फिर न दीख पड़ी।

इन शतकों में साहित्य-सम्बन्धी रचनाओं एवं मीमांसाओं के प्रधान आधार-क्षेत्र दो थे—प्रथम कश्मीर और दूसरा कन्नौज। इस अवसर पर जहाँ कश्मीर के संस्कृत-प्रणयी राजाओं के शासनकाल में, आनन्द, अभिनव, क्षेमेन्द्र, मम्मट आदि प्रखर-प्रतिभा-सम्पन्न आलोचक विद्वानों ने जन्म लिया, वहाँ कान्यकुब्ज के यशोवर्मा, महेन्द्रपाल, महीपाल आदि संस्कृतानुरागी राजाओं के शासनकाल में वाक्पतिराज, भवभूति, राजशेखर आदि विद्वानों ने आश्रय प्राप्त कर साहित्य-क्षेत्र में अद्भुत प्रतिभा का परिचय दिया और संस्कृत-साहित्य-भाण्डार की सर्वतः श्रीवृद्धि की। इनमें कविराज राजशेखर का प्रमुख स्थान है, जिनकी विस्तृत चर्चा हमारा प्रमुख ध्येय है। नैषध जैसे महाकाव्य तथा खण्डनखण्डखाद्य जैसे उत्कृष्टतम कोटि के दार्शनिक ग्रन्थों के प्रणेता श्रीहर्ष भी इसी कान्यकुब्ज की राज-सभा में थे।

राजशेखर, अपने समय के सिद्धहस्त नाटककार, प्रौढ महाकवि, गम्भीर मीमांसक और चतुरस्र विद्वान् थे। राजशेखर की रचनाओं में चार नाटक, एक भूगोल-सम्बन्धी

निवन्ध-ग्रन्थ, एक महाकाव्य और एक काव्यरचना-शास्त्र पर आलोचनात्मक विस्तृत निबन्ध का पता चलता है।

हम पहले कह आये हैं कि साहित्य-सम्बन्धी रचनाओं में प्रथम स्थान कश्मीर का और दूसरा कन्नौज का था। इनमें यह अन्तर देखा जाता है कि जहाँ कश्मीरी कवियों की प्रवृत्ति श्रव्यकाव्यों में अधिक देखी जाती है, वहाँ कन्नौज के कवियों में दृश्यकाव्यों—नाटकों—की ओर अधिक अभिरुचि थी। इन शतकों में कश्मीर में हरविजय, श्रीकण्ठ-चरित, हरचरितचिन्तामणि, भारतमंजरी, रामायणमंजरी जैसे महाकाव्यों का प्रणयन हुआ, इधर कन्नौज में महावीरचरित, उत्तररामचरित, मालतीमाधव, बालरामायण, बालभारत, विद्धशालभंजिका, कर्पूरमंजरी एवं चण्डकौशिक जैसे उत्कृष्ट नाटकों की रचना हुई।

इसके अतिरिक्त भाषा के सम्बन्ध में भी कुछ अन्तर देखा जाता है। कश्मीर के कवियों की रचनाएँ एकमात्र संस्कृत-भाषा में पाई जाती हैं। प्राकृत में उनकी स्वतन्त्र रचना का प्रायः अभाव है। नाट्य-रचना के अभाव के कारण भी कश्मीरियों की रचनाओं में प्राकृत नहीं पाई जाती। परन्तु, मध्यप्रदेश में संस्कृत के समान प्राकृत, अपभ्रंश, भूत-भाषा, शौरसेनी आदि प्राकृत-भाषाओं का भी कविता की भाषा के रूप में प्रचुर प्रयोग हुआ है। तत्कालीन वाक्पतिराजदेव ने प्राकृत-भाषा में 'गौडवध' नामक महाकाव्य की रचना की थी। भवभूति और राजशेखर तो इस विषय के प्रबल पक्षपाती थे। राज-शेखर ने इस मध्यदेश के कवियों के लिए सभी भाषाओं में प्रवीण होना आवश्यक बताया है।[1] इस सम्बन्ध में हम आगे चलकर विस्तृत विवेचन करेंगे। इसके पूर्व राज-शेखर के समय, देश, कुल आदि विषयों पर विचार किया जायगा।

समय

राजशेखर का समय-निर्णय करना अन्यान्य संस्कृत-कवियों के समान दुरूह नहीं है। राजशेखर ने जो चार नाटक लिखे हैं, उन सबकी प्रस्तावना में गौरव के साथ उन्होंने अपने को कन्नौज के राजा महेन्द्रपाल का गुरु बताया है[2] और अन्तिम नाटक 'बालभारत' में महेन्द्रपाल के पुत्र महीपाल को अपना संरक्षक लिखा है। महेन्द्रपाल का दूसरा नाम निर्भयराज भी था। कर्पूरमंजरी सट्टक में उसे निर्भयराज के नाम से स्मरण किया गया है।[3] बालभारत नाटक में महेन्द्रपाल के पुत्र महीपाल को अपना संरक्षक माना है। इससे यह सिद्ध है कि राजशेखर कन्नौज के राजा महेन्द्रपाल के विद्यागुरु थे और उनकी मृत्यु के अनन्तर उनके पुत्र महीपाल के भी सभाकवि थे।

---

१. यो मध्ये मध्यदेशं निवसति स कविः सर्वभाषानिषण्णः।

—काव्यमीमांसा, अध्याय १०।

२. किमपरमपरैः परोपकारव्यसननिधेर्गणितैर्गुणैरमुष्य।
रघुकुलतिलको महेन्द्रपालः सकलकलानिलयः स यस्य शिष्यः॥

—विद्धशालभञ्जिका, अङ्क १।

३. बालकविः कविराजो निर्भयराजस्य तथोपाध्यायः।
इत्यस्य परम्परया आत्मा माहात्म्यमारूढः॥ —कर्पूरमञ्जरी, १—९।

राजा महेन्द्रपाल गुर्जर-प्रतिहार-वंश का राजा था। राजपूताने के गुजर-प्रतिहार-वंश के शासक नागभट्ट ने, जिसकी राजधानी भिन्नमाल या भिलमाल थी, सर्वप्रथम कन्नौज पर शासन स्थापित किया। नागभट्ट के उत्तराधिकारी रामभट्ट ने ८३४ से ८४० ई० तक तथा उसके पुत्र मिहिरभोज ने सन् ८४० से ८९० ई० तक शासन किया। इसने अपने को विष्णु का अवतार कहकर आदिवराह की उपाधि धारण की। मिहिरभोज का पुत्र महेन्द्रपाल था। पंजाब को छोड़कर समस्त आर्यावर्त्त में इसका राज्य था। इसकी राजधानी गंगातट पर स्थित गाधिपुर थी। गाधिपुर और महोदय—ये दोनों नाम कान्यकुब्ज के हैं, जो आजकल कन्नौज के नाम से विख्यात हैं। रायबरेली जिले के अशनी ग्राम में तथा शिडनी में प्राप्त शिलालेखों में राजा महेन्द्रपाल की चर्चा है, जो विक्रम-संवत् ९७४ (ई० सन् ९१७-१८) का है। इस दृष्टि से कन्नौज के राजा महेन्द्रपाल का समय विक्रमाब्द ९४७—९६५ (ई० सन् ८९०—९०८) तक, अर्थात् १८ वर्षों का होता है। उसके पुत्र महीपालदेव का समय विक्रमाब्द ९६७—९९७ (ई० सन् ९१०—९४०) तक है। अतः, राजशेखर का समय विक्रमाब्द ९३७—९७७ (ई० सन् ८८०—९२०) तक निर्विवाद माना जा सकता है।

राजा महीपालदेव की सभा में एक प्रसिद्ध कवि आर्यक्षेमीश्वर थे, जिन्होंने चण्डकौशिक नामक नाटक की रचना है। इसका हिन्दी-अनुवाद भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने सत्य-हरिश्चन्द्र नाम से किया है। ये राजशेखर के समय या उसके कुछ अनन्तर महीपाल के सभा-कवि रहे होंगे। इनके सम्बन्ध में आर० डी० बनर्जी ने लिखा है कि आर्यक्षेमीश्वर का संरक्षक महीपाल, बंगाल के पालवंश का राजा था और चण्डकौशिक का निर्माण बंगाल में हुआ था।[1] परन्तु, यह बनर्जी महोदय का भ्रममात्र है। कारण यह कि आर्यक्षेमीश्वर ने अपने नाटक की प्रस्तावना में महीपालदेव के सम्बन्ध में लिखा है कि महीपाल ने कर्णाटकों को हराया था।[2] ऐतिहासिक प्रमाणों द्वारा यह सिद्ध है कि राष्ट्रकूट-वंश के राजा तृतीय-इन्द्र ने कन्नौज के महीपाल को पराजित किया था। महीपाल ने चन्देले राजा हर्षदेव की सहायता से पुनः राज्य प्राप्त किया। यह घटना ईसवी-सन् ९१५—९१७ की है। अतः, क्षेमीश्वर को बंगाल के पालवंशीय राजा महीपाल का सभापण्डित मानना कथमपि युक्ति-संगत नहीं है; क्योंकि इस पालवंश के किसी भी राजा ने कर्णाटक की लड़ाई नहीं लड़ी थी और न आर्य चाणक्य की नीति का अनुसरण ही किया था। इस विषय पर अन्य प्रमाण भी दिये जा सकते हैं; किन्तु विस्तार न करके इतना कहना ही अलम् होगा।

उक्त प्रमाणों से विक्रम की नवम शताब्दी का मध्यभाग राजशेखर का निश्चित समय माना जा सकता है।

साहित्यकारों की दृष्टि से भी राजशेखर का यही समय हो सकता है। राज-

---

१. देखिए, आर० डी० बनर्जी : पाल्स ऑफ् बेंगाल, पृ० ७३।

२. यः संश्रित्य प्रकृतिगहनामार्यचाणक्यनीतिं
जित्वा नन्दान् कुसुमनगरं चन्द्रगुप्तो जिगाय।
कर्णाटत्वं ध्रुवमुपगतानद्य तानेव हन्तुं
दोर्दर्पाढ्यः स पुनरभवच्छ्रीमहीपालदेवः॥

—चण्डकौशिक, १।

शेखर ने काव्यमीमांसा में कश्मीर के उद्भट, वामन, आनन्दवर्द्धन तथा कन्नौज के वाक्पति-राजदेव एवं भवभूति के नाम उद्धृत किये हैं।[१] इनमें उद्भट कश्मीर के राजा जयापीड की सभा के सभापति थे।[२] जयापीड का समय विक्रमाब्द ८३६—८७० (ई० सन् ७७६—८१३) है। यही समय वामन का भी है।[३] सुप्रसिद्ध ग्रन्थ ध्वन्यालोक के रचयिता आनन्दवर्द्धन कश्मीर के राजा अवन्तिवर्मा के सभापण्डित थे,[४] जिनका शासनकाल विक्रमाब्द ९१४—९४१ (ई० सन् ८५७—८८४) था। इन आचार्यों के सिद्धान्तों और उक्तियों को राजशेखर ने उद्धृत किया है। अतः, वामन और आनन्द के कुछ ही उपरान्त राजशेखर का होना निश्चित है। इसके पूर्व उनका अस्तित्व नहीं माना जा सकता।

इधर राजशेखर को क्षेमेन्द्र,[५] सोमदेव और सोड्ढल ने उद्धृत किया है। ये तीनों कवि विक्रमाब्द १०४०—१०६० के लगभग हुए हैं। अतः, इनके पूर्व राजशेखर का होना सिद्ध है। श्रीकण्ठचरित-महाकाव्य के प्रणेता मङ्ख ने भी राजशेखर की चर्चा की है।[६] यह ११वीं शताब्दी का है।

इसके अतिरिक्त क्षेमेन्द्र ने औचित्यविचारचर्चा तथा सुवृत्ततिलक में राज-शेखर को उद्धृत किया है। आचार्य अभिनवगुप्त ने भी भरत-नाट्यशास्त्र की टीका में राजशेखर के नाटकों के पद्य उद्धृत किये हैं। मम्मट ने काव्यप्रकाश में प्रायः राजशेखर के नाटकों से उदाहरण लिये हैं, अतः वे इनके पूर्वकालीन थे। अतएव, हमने इनका संभावित समय विक्रमाब्द ९३० से ९७७ तक निर्धारित किया है, जो इनका प्रायः कार्यकाल है।

वंश और देश

राजशेखर महाराष्ट्र-देशवासी थे और यायावर-वंश में उत्पन्न हुए थे। यायावर का अर्थ है—जो निरन्तर चलनेवाले हों। प्राचीन समय के ऋषियों में दो प्रकार के ऋषि

---

१. कविर्वाक्पतिराजश्रीभवभूत्यादिसेवितः।
जितो ययौ यशोवर्मा तद्गुणस्तुतिवन्दिताम् ॥
—राजतरङ्गिणी, तरङ्ग ४—१४०।

२. विद्वान् दीनारलक्षेण प्रत्यहं कृतवेतनः।
भट्टोऽभूदुद्भटस्तस्य भूमिभर्त्तुः सभापतिः ॥—राजतरङ्गिणी, ४—४९५।

३. मनोरथः शङ्खदत्तश्चटकः सन्धिमांस्तथा।
बभूवुः कवयस्तस्य वामनाद्याश्च मन्त्रिणः ॥—राजतरङ्गिणी, तरंग ५, श्लो० ४९६।

४. मुक्ताकणः शिवस्वामी कविरानन्दवर्द्धनः।
प्रथां रत्नाकरश्चागात् साम्राज्येऽवन्तिवर्मणः ॥
—राजतरङ्गिणी, तरङ्ग ५—१४९।

५. क्षेमेन्द्र ने अपने ग्रन्थों के अन्त में लिखा है—कश्मीर के राजा अनन्तदेव के शासनकाल में ग्रन्थ-रचना की। यह अनन्तदेव कवियों का सम्मानकर्त्ता और भोजराज का समकालीन था। इसका समय ईसवी-सन् १०५० है। देखिए—
स च भोजनरेन्द्रश्च दानोत्कर्षेण विश्रुतौ। सूरी तस्मिन् क्षणे तुल्यौ द्वावास्तां कविबान्धवौ ॥
—राजतरङ्गिणी, तरङ्ग ७, श्लो० २५९।

६. प्रक्रमैर्मेण्ठवक्त्रिम्णो मुरारिमनुधावतः।
श्री राजशेखरगिरौ नीवी यस्योक्तिसम्पदाम् ॥—श्रीकण्ठचरित, स० २५, श्लो० ७४।

होते थे—१. यायावरीय और २. शालीय। यायावरीयों का व्रत था कि वे एक स्थान में न रहकर प्रायः यात्रा करते रहते थे। संन्यासियों के लिए भी यही नियम है। परन्तु, यायावरीय संन्यासी नहीं होते थे। ये गृहस्थ या वानप्रस्थी सन्त थे। महाराष्ट्र देश में आज भी कुछ ऐसे सन्त देखे जाते हैं, जो गौओं और अनेक व्यक्तियों को साथ लेकर प्रायः यात्रा और भजन-कीर्त्तन करते रहते हैं। ब्राह्मण-ग्रन्थों में भी एक सूक्त में ऐसे यायावरों का वर्णन आया है कि 'निरन्तर यात्रा करनेवाले व्यक्तियों की जाँघें पुष्ट होती हैं, आत्मा प्रबल होती है और यात्रा-श्रम से उनके पाप दूर होते हैं' आदि।[१] ऐसे ही किसी यायावर महात्मा के वंश में जन्म लेने के कारण राजशेखर ने गौरववृद्धि के लिए अपने वंश को यायावरीय शब्द से अलंकृत किया है।

बालरामायण-नाटक की प्रस्तावना में अपना परिचय देते हुए उन्होंने लिखा है कि वे महाराष्ट्रचूडामणि अकालजलद के चतुर्थ, अर्थात् प्रपौत्र और दुर्दुक के पुत्र थे। उनकी माता का नाम शीलवती था।[२] इस नाटक की प्रस्तावना से यह भी पता चलता है कि उनके पिता किसी राज्य के महामन्त्री भी थे।[३] वे स्वयं अपने को उपाध्याय लिखते हैं, अतः वे ब्राह्मण थे।

उनके इस यायावर-वंश में अकालजलद से लेकर अनेक विद्वान् कवि हुए हैं, जिनकी सामान्य और विशेष रूप से राजशेखर ने प्रशंसा की है। इन कवियों में अकालजलद, सुरानन्द, तरल, कादम्बरीराम और कविराज का नाम दिया गया है।[४]

अकालजलद इस यायावर-कुल के अधिक प्रसिद्ध व्यक्ति प्रतीत होते हैं। यही कारण है कि राजशेखर ने अपने पिता के सम्बन्ध में अत्यन्त साधारण परिचय देते हुए और अपने पितामह के लिए मौन रहकर प्रपितामह का नाम अत्यन्त गौरव के साथ लिखा है। उनके नाम से परिचित होने में वे अपना गौरव समझते थे। ये अकालजलद कौन थे और इन्होंने क्या-क्या लिखा, यह पता नहीं चलता। वल्लभदेव-कृत सुभाषितावली में अकालजलद-नामाङ्कित एक पद्य दाक्षिणात्य के नाम से उद्धृत है, जो शार्ङ्गधरपद्धति में अकालजलद के

---

१. पुष्पिण्यौ चरतो जङ्घे भूष्णुरात्मा फलेग्रहिः।
शेरेऽस्य सर्वे पाप्मानः श्रमेण प्रपथे हताः॥—ऐ० ब्रा०, ७. १५. २।

२. 'तदामुष्यायणस्य महाराष्ट्रचूडामणेरकालजलदस्य चतुर्थो दौर्दुकिः शीलवतीसुनुरुपाध्यायश्रीराजशेखर इत्यपर्याप्तं बहुमानेन।'

—बालरामायण, १।

तदकालजलदप्रणप्तुस्तस्य गुणगणाः किमिति न वर्ण्यते।

—विद्धशालभञ्जिका, १।

३. सूक्तमिदं तेनैव मन्त्रिसुतेन।

४. स मूर्तो यत्रासीद् गुणगण इवाकालजलदः
सुरानन्दः सोऽपि श्रवणपुटपेयेन वचसा।
न चान्ये गण्यन्ते तरलकविराजप्रभृतयो
महाभागस्तस्मिन्नयमजनि यायावरकुले॥

—बालरामायण, १।

नाम से ही संगृहीत है। यह पद्य निश्चय ही अकालजलद का है; क्योंकि इसमें श्लेष से अकालजलद का नाम आया है। सम्भव है, वे इस एक सुन्दर अन्योक्ति के कारण ही अकालजलद नाम से प्रसिद्ध हो गये हों। पाठकों की जानकारी के लिए उसे हम यहाँ उद्धृत करते है—

भेकैः कोटरशायिभिर्मृतमिव क्ष्मान्तर्गतं कच्छपैः
पाठीनैः पृथुपङ्ककूटलुठितैर्यस्मिन् मुहुर्मूर्च्छितम्।
तस्मिञ्छुष्कसरस्यकालजलदेनागत्य यच्चेष्टितम्
येनाकण्ठनिमग्नवन्यकरिणां यूथैः पयः पीयते॥

जिस सूखे सरोवर में मेंढ़क अपने विलों में पड़े-पड़े मृतप्राय हो रहे थे, कछुए शीतलता प्राप्त करने लिए पृथ्वी में धँसे जा रहे थे और वड़े-वड़े मत्स्य कीचड़ के ढूहों पर छटपटाकर मूर्च्छित हो रहे थे, इस अवसर पर अकालजलद (मेघ) ने आकर सूखे सरोवर में ऐसी वर्षा की कि अव उसमें जंगली हाथियों के झुंड गले तक डूबकर जल पी रहे हैं।

अकालजलद की इस अन्योक्ति के अतिरिक्त अन्य किसी मुक्तक या प्रवन्ध-रचना का पता नहीं चलता। सुभाषितावली में और भी दो-तीन पद्य दाक्षिणात्य के नाम से उद्धृत हैं। सम्भवतः, ये अकालजलद के ही हों। राजशेखर के कथनानुसार कादम्वरीराम नामक कवि ने नाटकों की रचना की और उनमें अकालजलद के श्लोकों को इस प्रकार समाविष्ट किया कि वे श्लोक कादम्वरीराम के ही प्रतीत होते थे।[१]

राजशेखर ने अकालजलद की काव्य-प्रशंसित लिखी है, जिससे प्रतीत होता है कि उन्होंने मुक्तक-शैली के अनेक पद्य लिखे होंगे और वे तत्कालीन समाज में अत्यन्त आदरणीय व्यक्ति थे।[२]

इनके अतिरिक्त सुरानन्द नामक कवि भी यायावर-वंश के थे और राजशेखर के पूर्वजों में थे। इनके सम्वन्ध में राजशेखर ने लिखा है कि सुरानन्द चेदिदेश के राजा रणविग्रह की सभा के रत्न थे।[३]

यह चेदिदेश वर्त्तमान महाकौशल का एक भाग था, जो नर्मदातट पर स्थित है। इसकी राजधानी त्रिपुरी थी, जो वर्त्तमान जवलपुर जिले में अव भी विद्यमान प्रसिद्ध ऐतिहासिक स्थान है। वालरामायण में भी राजशेखर ने चेदिराज का वर्णन किया है।[४] सुरानन्द इसी के सभाकवि थे। इनकी रचनाएँ भी नहीं मिलतीं। राजशेखर ने काव्य-

१. अकालजलदश्लोकैश्चित्रमात्मकृतैरिव।
ख्यातः कादम्वरीरामो नाटके प्रवरः कविः॥—जल्हण : सूक्तिमुक्तावलि।

२. अकालजलदेन्दोः सा हृद्या वचनचन्द्रिका।
नित्यं कविचकोरैर्या पीयते न तु हीयते॥—जल्हण : सूक्तिमुक्तावलि।

३. नदीनां मेकलसुता नृपाणां रणविग्रहः।
कवीनां च सुरानन्दश्चेदिमण्डलमण्डनम्॥—सूक्तिमुक्तावलि।

४. सीतास्वयंवरनिदानधनुर्धरेण दग्धा पुरत्रितयतो विसुना भवेन।
खण्डं निपत्य भुवि या नगरी वभूव तामेष चैद्यतिलकस्त्रिपुरीं प्रशास्ति॥

—वालरामायण, ३-६८ :

मीमांसा के १३वें अध्याय में अपहरण-सम्बन्धी विवेचना में सुरानन्द का मत उद्धृत किया है।[१] इससे यह भी अनुमान लगाया जा सकता है कि काव्यमीमांसा के तीन अध्यायों में वर्णित अपहरण-पद्धति और उसके भेदों की नवीन कल्पना में राजशेखर को सुरानन्द के ग्रन्थ से कुछ प्रकाश प्राप्त हुआ हो।

इसके अतिरिक्त यायावर-वंश के तरल नामक कवि का भी वर्णन आता है;[२] किन्तु उनकी भी रचना प्राप्त नहीं है। कविराज नामक किसी कवि का नामोल्लेख भी यायावर-वंश के कवियों में आता है। सम्भव है, यह स्वयं राजशेखर ने अपने लिए ही लिखा हो; क्योंकि वे स्वयं अपने को कविराज कहने में अधिक आग्रह रखते थे। कर्पूर-मंजरी में उन्होंने अपने लिए 'कविराज' शब्द का स्पष्ट प्रयोग किया है।[३] यह भी सम्भव है कि इस नाम के अन्य कवि हुए हों; क्योंकि कविराज नाम के अनेक कवि हो चुके हैं। बंगाल के राजा लक्ष्मणसेन की सभा में भी एक कविराज कवि थे।[४]

राजशेखर महाराष्ट्र थे। उन्होंने बालरामायण नामक नाटक में अपने प्रपितामह अकालजलद को महाराष्ट्रचूडामणि लिखा है।[५] कुन्तल, विदर्भ, लाट और चेदी इन चारों देशों के कुछ-कुछ भागों को मिलाकर महाराष्ट्र देश बनता है। मध्ययुग में राजाओं के परस्पर युद्धों के कारण समय-समय पर इन देशों की सीमाएँ बदलती रही हैं। राजशेखर के ग्रन्थों के अवलोकन से ज्ञात होता है कि उपर्युक्त चारों देशों से उनका सम्बन्ध रहा है। चेदी के राजा रणविग्रह के यहाँ इनके एक पूर्वज सुरानन्द रहते थे। कर्पूरमंजरी सट्टक और विद्धशाल-भञ्जिका नाटिका—दोनों ही रूपकों की नायिकाएँ लाटदेश की राजकुमारियाँ हैं। विद्धशाल भञ्जिका में हैहयवंशीय किसी कलचुरी राजा को नायक बनाया है, जिन कलचुरियों का शासन किसी समय चेदी और उसके आसपास रहा है।

लाटदेश का, जो गुजरात और पूर्वखान-प्रदेश के भागों को मिलाकर एक प्रदेश बना था, एक भाग महाराष्ट्र भी था। इस प्रदेश से राजशेखर का अधिक परिचय था। लाटदेश-वासियों की प्राकृत-भाषा पर राजशेखर मुग्ध थे। काव्यमीमांसा के पाठपद्धति-प्रकरण में उनके प्राकृतोच्चारण की बहुत प्रशंसा की गई है।[६] इतना ही नहीं, बालरामायण

---

१. 'सोयमुल्लेखवाननुग्राह्यो मार्गः' इति सुरानन्दः।
—काव्यमीमांसा, अध्याय १३।

२. यायावरकुलश्रेणेर्हारयष्टेश्च मण्डनम्।
सुवर्णबन्धरुचिरस्तरलस्तरलो यथा॥—सूक्तिमुक्तावलि।

३. बालकविः कविराजो निर्भयराजस्य तथोपाध्यायः।
इत्यस्य परम्परया आत्मा माहात्म्यमारूढः॥—कर्पूरमञ्जरी, १—९।

४. गोवर्द्धनश्च शरणो जयदेव उमापति।
कविराजश्च रत्नानि समितौ लक्ष्मणस्य च॥

राघवपाण्डवीय काव्य का कर्त्ता कविराज नामक कवि इनसे पृथक् है. जो कदम्ब के राजा कामदेव का सभापण्डित था। उसका समय ११८२–११९७ माना गया है।

५. महाराष्ट्रचूडामणेरकालजलदस्य चतुर्थः—बालरामायण, प्रस्तावना।

६. पठन्ति लटभं लाटाः प्राकृतं संस्कृतद्विषः।
जिह्वया ललितोल्लापलब्धसौन्दर्यमुद्रया॥—काव्यमीमांसा, अ० ७।

नाटक में लंका से लौटते हुए राम ने लाटदेश का वर्णन करते हुए भी इस देश की प्राकृत-भाषा का ही विशेष वर्णन किया है।[1]

इसके अतिरिक्त प्रभुदेवी नामक किसी लाट-ललना के सम्बन्ध में राजशेखर ने अपनी सरसता का स्पष्ट वर्णन करते हुए लिखा है कि 'वह मर जाने पर भी अभी तक हृदय में बैठी है।' यह कवयित्री न तो प्रसिद्ध है और न इसकी कोई रचना ही मिलती है; परन्तु विविध कलाओं में पारंगत एवं राजशेखर की प्रणयिनी होने के कारण उसे कवियों की पंक्ति में स्थान प्रदान किया गया है।[2]

इस प्रकार, लाटदेश का अधिक सम्बन्ध होने से मालूम होता है कि राजशेखर प्रथम अवस्था में लाटदेश के राजा के यहाँ रहे हों और अन्त में उससे अनबन होने के कारण कन्नौजराज महेन्द्रपाल के यहाँ आ गये हों। कारण यह कि लाटदेश से प्रेम प्रदर्शित करते हुए भी राजशेखर ने बालरामायण के सीतास्वयंवर-प्रकरण में वहाँ के राजा को लम्पट, मायावी और सदा बनने-ठनने में ही रहनेवाला आदि कहकर खूब बनाया है।[3]

राजशेखर विदर्भ देश के थे, जो आजकल बरार के नाम से हैदराबाद तक विस्तृत है। यह महाराष्ट्र देश का एक प्रधान अंग है। राजशेखर ने इसी देश को कुन्तल देश भी लिखा है।[4] इससे मालूम होता है कि उनके समय बरार पर कुन्तल (कर्नाट) देश के राजाओं का शासन था। विदर्भ के वर्णन में राजशेखर ने इसे सरस्वती का जन्म-स्थान और वाङ्मय की विलासभूमि बताया है।[5] काव्यमीमांसा में सारस्वतेय काव्य-पुरुष

---

१. यद्योनिः किल संस्कृतस्य सुदृशां जिह्वासु यन्मोदते
यत्र श्रोत्रपथावतारिणि कटुर्भाषाक्षराणां रसः।
गद्यं चूर्णपदं पदं रतिपतेस्तत्प्राकृतं यद्वचः
तांल्लाटांल्ललिताङ्गि पश्य नुदती दृष्टेर्निमेषव्रतम्॥
लक्ष्यीकर्तुं प्रवृत्तोऽपि लाटीलडहवीक्षितैः।
लक्ष्यीभवति कन्दर्पः स्वेषामेवात्र पत्रिणाम्॥—बालरामायण, अङ्क १०, ४८–४९।

२. सूक्तीनां स्मरकेलीनां कलानां च विलासभूः।
प्रभुदेवी कविर्लाटी गताऽपि हृदि तिष्ठति॥
—सूक्तिमुक्तावलि।

३. प्रतीहारी—(स्वगतम्) कथमयं वीरशृङ्गारलम्पटो लाटेश्वरः?
हेमप्रभा—लाटेश्वर एषः, तदस्मिन्···दीयन्तां सुन्दरकटाक्षनिक्षेपाः।
सीता—यः प्रतिदिनं मण्डनमात्रव्यापारे सक्तचित्तः?
प्रतीहारी—(स्वगतम्) स्वभावेन मायावान् मायावी अयम्।
रावणः—सत्यम्, शृङ्गारलम्पट एवायं लाटराजः, किमत्र वीरव्यपदेशेन?
—बालरामायण, अङ्क ३।

४. प्रतीहारी—कथमयं क्रथकैशिकाधिपतिः?
हेमप्रभा—कुन्तलेश्वर एषः। तदस्य दर्शनेन सफलीकुरु नयननिर्माणम्।
सीता—यो महाराष्ट्रवरिष्ठः।
—बालरामायण, अङ्क ३।

५. सुग्रीवः—भरताग्रज! अयमग्रे महाराष्ट्रविषयः।
रामः—यत् क्षैमं त्रिदिवाय वर्त्म निगमस्याङ्गं च यत् सप्तमम्
स्वादिष्ठं च यदैक्षवादपि रसाच्चक्षुश्च यद् वाङ्मयम्।

और साहित्य-विद्यावधू का गान्धर्व विवाह भी विदर्भ के वत्स-गुल्म नामक नगर में कराया गया है। वत्स-गुल्म का नाम महाभारत[1], बृहत्कथा[2] तथा वात्स्यायन-कामसूत्र में[3] भी आता है। यह उदयन के समय से प्रसिद्ध स्थान है। इस समय इसका ठीक-ठीक पता नहीं लगता। इसके सम्बन्ध में वात्स्यायन ने लिखा है कि यहाँ के राजघरानों की स्त्रियाँ सपत्नियों के पुत्रों से भी वासनापूर्त्ति कर लेती हैं। सम्भव है, यह अनाचार किसी समय इस देश में प्रचलित रहा हो।[4] जो हो, राजशेखर महाराष्ट्र थे। हो सकता है, बरार प्रदेश के किसी भाग में उनका जन्मस्थान हो। महाराष्ट्र होने के कारण उसके समीपवर्त्ती आन्ध्र, द्रविड़, कर्नाट, लाट आदि देशों से उनका घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है।

क्षेमेन्द्र ने 'औचित्यविचारचर्चा' नामक प्रबन्ध में एक मनोरंजक श्लोक उद्धृत किया है, जो देश-सम्बन्धी अनौचित्य का उदाहरण है। क्षेमेन्द्र के अतिरिक्त यह पद्य अन्यत्र नहीं पाया जाता। उसे पाठकों के परिचयार्थ यहाँ उद्धृत किया जाता है। पाठक स्वयं ही इसके द्वारा अनुमान लगा सकते हैं :

कार्णाटीदशनाङ्कितः शितमहाराष्ट्रीकटाक्षक्षतः,
प्रौढान्ध्रीस्तनपीडितः प्रणयिनीभ्रूभङ्गवित्रासितः।
लाटीबाहुविवेष्टितश्च मलयस्त्रीतर्जनीतर्जितः,
सोऽयं सम्प्रति राजशेखरकविर्वाराणसीं वाञ्छति॥

अर्थात्, कर्णाट-कामिनियों के दन्तक्षत से चिह्नित, महाराष्ट्र-महिलाओं के तीक्ष्ण-कटाक्षों से आहत, प्रौढ आन्ध्र-रमणियों के स्तनों से पीडित, प्रियतमाओं के भ्रू-भंग से वित्रस्त, लाट-ललनाओं की भुजाओं से आलिंगित और मलयदेश की अंगनाओं की तर्जनियों से तर्जित राजशेखर कवि, अब (वृद्धावस्था में) वाराणसी जाना चाहता है।[5]

तद्यस्मिन्मधुरं प्रसादि रसवत् कान्तञ्च काव्यामृतम्
सोऽयं सुभ्रु पुरो विदर्भविषयः सारस्वतीजन्मभूः॥
किञ्च—रतविद्याविदग्धानां विभ्रमोल्लेखलम्पटः।
नित्यं कुन्तलकान्तानां किङ्करो मकरध्वजः॥

—बालरामायण, अध्याय १०, श्लो० ७४–७५।

१. महाभारत में यह स्थान, नर्मदा के उद्गमस्थल—अमरकंटक के पास बताया गया है। देखिए, महा०, वनपर्व, अध्याय ८३, श्लोक ९।

२. अभूतां दाक्षिणात्यस्य द्विजातेः सोमशर्मणः।
वत्स-गुल्माभिधौ पुत्रौ............... ॥—बृहत्कथामंजरी, १. ३. ४।

३. दक्षिणापथे सोदर्यौ राजपुत्रौ वत्सगुल्मौ। ताभ्यामध्यासितो देशो वत्सगुल्मक इति प्रतीतः।

—कामसूत्र, जयमंगला टीका, ५, ६, ३६।

४. प्रेष्याभिः सह तद्वेषान्नागरिकपुत्रान् प्रवेशयन्ति वत्सगुल्मकानाम्। स्वैरेव पुत्रैरन्तःपुराणि कामचारैर्जननीवर्जमुपभुज्यन्ते वैदर्भिकाणाम्।

—वात्स्यायन : कामसूत्र, ५, ६, ३५–३६।

५. वास्तव में, विचार करने पर यह सत्य प्रतीत होता है। बालरामायण में इन देशों का वर्णन करते हुए प्रत्येक देश की स्त्रियों के सम्बन्ध में एक-एक अनुष्टुप् श्लोक विशेष रूप से लिखा है। देखिए, बालरामायण, दशम अंक, श्लोक ६८, ७१, ७३, ७५, ७६, ८२, ८७।

क्षेमेन्द्र लिखते हैं कि राजशेखर ने दक्षिणापथ के देशों के नामक्रम में एक स्थान में केवल 'प्रणयिनीभ्रूभङ्गवित्रासितः' लिखकर देशक्रम का भंग किया है, जो अनुचित प्रतीत होता है।

इस संदर्भ से यह सिद्ध है कि वे महाराष्ट्र-देशवासी—वरार प्रान्त के—थे और दक्षिणापथ के विविध देशों से परिचित भी थे।

उक्त पर्यालोचन से राजशेखर का विदर्भ-देशवासी महाराष्ट्र होना निर्विवाद है। उनकी पत्नी अवन्तिसुन्दरी अवन्तिदेश की प्रतीत होती हैं। अवन्तिदेश की रमणियों के सम्बन्ध में राजशेखर की सम्मति[1] देखते हुए यह सम्भव प्रतीत होता है कि उसका नाम कुछ और होगा ; किन्तु राजशेखर ने अपने 'यायावरीय' नाम के समान उसका नाम 'अवन्तिसुन्दरी' रखा होगा।

राजशेखर और कन्नौज

हम पहले कह आये हैं कि राजशेखर के समय संस्कृत-साहित्य के सम्बन्ध में कश्मीर और कन्नौज—दोनों देशों में पर्याप्त कार्य हुआ। उन दोनों देशों का सांस्कृतिक सम्बन्ध भी घनिष्ठ था। एक ही शतक के कश्मीरी और कन्नौजवासी कवियों ने परस्पर की रचनाओं को उदाहरण के रूप में समुद्धृत किया है। इससे मालूम होता है कि उस समय दोनों देशों में साहित्य-प्रचार के साधन सुलभ थे। दोनों देशों के राजाओं में उस समय युद्ध भी हुआ था। राजतरंगिणी में कश्मीर के राजा ललितादित्य द्वारा कन्नौज के राजा यशोवर्मा का पराजित होना लिखा है। जैसे—

कविर्वाक्पतिराजश्रीभवभूत्यादिसेवितः।
जितो ययौ यशोवर्मा तद्गुणस्तुतिवन्दिताम्॥

—राजतरंगिणी, तरंग ४, श्लो० १४०।

अर्थात्, वाक्पतिराज, भवभूति आदि कवियों से सेवित और स्वयं कवि[2] यशोवर्मा (कन्नौज का राजा) ललितादित्य से पराजित होकर बन्दियों (भाटों) के समान उसकी स्तुति करने लगा।

प्राकृत-भाषा के 'गौडवहो' (गौडवध) महाकाव्य के प्रणेता वाक्पतिराज, उत्तररामचरित, वीरचरित तथा मालतीमाधव के प्रणेता प्रसिद्ध नाटककार भवभूति और अन्य अनेक कवि कान्यकुब्ज-नरेश यशोवर्मा के सभारत्न थे। इनका समय विक्रम-शतक के ७८५, (ई० सन् ७२५) के लगभग था। इनके एक सौ वर्ष बाद कान्यकुब्ज के गुर्जर-प्रतीहार-वंशी राजा महेन्द्रपाल के समय राजशेखर हुए। कन्नौज के भवभूति और राजशेखर दोनों ही विदर्भ देश के महाराष्ट्र थे। इससे मालूम होता है कि कविता-प्रेमी

---

१. विनावन्तीर्न निपुणाः सुदृशो रतकर्मणि।—बालरामायण, १०।

२. कन्नौज का राजा यशोवर्मा स्वयं कवि था। उसने 'रामाभ्युदय' नामक नाटक लिखा है। सुभाषितावली, सूक्तिमुक्तावली तथा शार्ङ्गधरपद्धति में यशोवर्मा के अनेक श्लोक उद्धृत हैं। यह पता नहीं कि श्रीहर्ष की रत्नावली के समान किसी अन्य कवि ने उसके नाम पर रचनाएँ की थीं या उसने स्वयम् ?

कन्नौज के राजाओं के यहाँ दूसरे देशों के कवि आश्रय पाते थे। इसी प्रकार राजशेखर को भी उनका आश्रय प्राप्त हुआ था।

दक्षिण देशवासी महाकवि, मध्यदेश के कान्यकुब्ज नगर तथा इस मध्यदेश की सभी बातों से अत्यन्त प्रभावित थे। उन्होंने स्थान-स्थान पर और बार-बार इस देश के रहन-सहन, पठन-पाठन एवं वेश-भूषा की बहुत प्रशंसा की है।

भारत के देशविभाग-प्रकरण में राजशेखर ने मध्यदेश की सीमा वही मानी है, जो मनुस्मृतिकार ने लिखी है।[१] अर्थात्, दक्षिण में विन्ध्य, उत्तर में हिमालय, पश्चिम में 'विनशन' और पूर्व में प्रयाग। इसमें 'विनशन' वह स्थान है, जहाँ सरस्वती नदी लुप्त हो गई है। यह पंजाब प्रान्त का स्थाण्वीश्वर (वर्त्तमान थानेसर) नामक स्थान है, जो सम्राट् हर्षवर्धन की राजधानी थी। कुछ लोग अम्बाला जिले के वर्त्तमान सरहिन्द नामक स्थान को 'विनशन' मानते हैं। इस प्रकार, वर्त्तमान अम्बाला, कुरुक्षेत्र, देहली, इटावा, कन्नौज आदि पश्चिम-उत्तरप्रदेश का भाग मध्यदेश था। भारत के अन्य देशों से यह मध्यभाग अधिक आचारवान् और सभ्य था। वात्स्यायन ने कामसूत्र में लिखा है कि **मध्यदेश्या आर्य-प्रायाः शुच्युपचाराः**।[२] इस सूत्र की टीका करते हुए जयमंगल ने मनु के उपयुक्त श्लोक को मध्यदेश की सीमा के विषय में उद्धृत किया है। इसके बाद वसिष्ठ का मत उद्धृत करते हुए उन्होंने गंगा और यमुना के मध्यभाग को भी मध्यदेश लिखा है।[३] राजशेखर ने गंगा और यमुना के मध्यभाग को अन्तर्वेदी और पाञ्चाल दोनों नामों से लिखा है। इसमें भी वर्त्तमान दिल्ली, ब्रजमंडल तथा पश्चिमी उत्तरप्रदेश का प्रयाग तक का भाग आ जाता है।

मालूम होता है, उस समय पाञ्चाल देश का प्रधान शासन कन्नौज द्वारा ही होता था। अतः, इस देश का वर्णन करते हुए राजशेखर ने लिखा है कि पाञ्चाल देश के कवियों की रचनाओं में ग्रामीणता नहीं होती। वे उच्च स्तर के शास्त्रीय एवं लौकिक अर्थों को भव्य और नव्य उक्तियों द्वारा ग्रथित करते हैं।[४]

पांचाल देश के कवियों की काव्यपाठ-प्रणाली को राजशेखर ने सबसे उत्कृष्ट बताया है। वे कहते हैं कि इस देश के कवियों का कविता-पाठ कानों में अवर्णनीय माधुर्य बरसाता है। उनका पाठस्वर काव्य-रीति के अनुसार होता है, उसमें काव्य-गुणों का विकास

---

१. हिमवद्विन्ध्ययोर्मध्यं यत् प्राग्विनशनादपि।
प्रत्यगेव प्रयागाच्च मध्यदेशः प्रकीर्त्तितः॥

—मनु०, अ० २, श्लोक २१।

२. मध्यदेश के निवासी प्रायः आर्य और पवित्र आचरणवाले होते हैं।

—वात्स्या० कामसूत्र, २. ५. २१।

३. 'गङ्गायमुनयोरित्येके।'—कामसूत्र, जयमंगलाटीका।

४. इमे अन्तर्वेदिभूषणम् पाञ्चालाः। रामः—(सीतां प्रति)
यत्रार्थे न तथाऽनुरज्यति कविर्ग्रामीणगीर्गुम्फने
शास्त्रीयासु च लौकिकीषु च यथा भव्यासु नव्योक्तिषु।
पाञ्चालास्तव पश्चिमेन त इमे वामा गिरां भाजना-
स्त्वद्दृष्टेरतिथीभवन्तु यमुनां त्रिस्रोतसं चान्तरा॥—बालरामायण, १०. ८।

होता है,[1] वर्णों का उच्चारण समुचित ढंग से किया जाता है और यतियों पर उचित विश्राम भी होता है। भाषा के सम्बन्ध में भी उन्होंने लिखा है कि भिन्न-भिन्न देशों के कवि, संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, भूतभाषा आदि किसी एक भाषा के विशेषज्ञ होते हैं। परन्तु, इस देश के कवि इन सभी भाषाओं में विशिष्ट स्थान रखते हैं।[2]

पांचाल के प्रधान नगर कान्यकुब्ज की रमणियों की वेष-रचना पर राजशेखर अत्यन्त मुग्ध थे। कानों में लटकते हुए झुमके, छाती पर झूमते हुए हार और धोती के ऊपर ओढ़ी जानेवाली एवं टखनों तक लटकती हुई चादर—इनके ऐसे वेष को कवि ने प्रणाम किया है।[3]

वे कहते हैं कि कान्यकुब्ज देश की ललनाओं का वेष-विन्यास, बोलचाल की सुन्दर शैली, केशों की आकर्षक रचना और आभूषण पहनने का प्रकार इतना अच्छा होता है कि सभी देश की सभ्य स्त्रियाँ उसे सीखने का प्रयत्न करती हैं।[4]

इस प्रकार, कवि ने स्थान-स्थान पर इस देश से अपना प्रेम प्रकट किया है। भारतीय सीमा-विभाजन के लिए भी कान्यकुब्ज या महोदय नगर को ही केन्द्रविन्दु माना है।

राजशेखर की रचनाएँ

वर्तमान समय में राजशेखर की पाँच रचनाएँ प्राप्त हैं—१. कर्पूरमञ्जरी (सट्टक), २. विद्धशालभञ्जिका (नाटिका), ३. बालरामायण (नाटक), ४. बालभारत या प्रचण्ड-पाण्डव (नाटक) और ५. काव्यमीमांसा।

इनमें कर्पूरमञ्जरी (सट्टक) उनकी प्रथम रचना तथा काव्यमीमांसा अन्तिम रचना है। बालरामायण की प्रस्तावना में वे लिखते हैं कि हमारी छह रचनाएँ हैं।[5] इनमें एक

---

१. मार्गानुगेन निनदेन निधिर्गुणानां सम्पूर्णवर्णरचनो यतिभिर्विभक्तः।
पाञ्चालमण्डलभुवां सुभगः कवीनां श्रोत्रे मधु क्षरति किञ्चन काव्यपाठः॥
—काव्यमीमांसा, अ० ७।

२. गौडाद्याः संस्कृतस्थाः परिचितरुचयः प्राकृते लाटदेश्याः
सापभ्रंशप्रयोगाः सकलमरुभुवष्टक्कभादानकाश्च।
आवन्त्याः पारियात्राः सह दशपुरजैर्भूतभाषां भजन्ते
यो मध्ये मध्यदेशं निवसति स कविः सर्वभाषानिषण्णः॥—काव्यमीमांसा, अ० १०।

३. ताडङ्कवल्गनतरङ्गितगण्डलेखमानाभिलम्बि दरदोलिततारहारम्।
आश्रोणिगुल्फपरिमण्डलितोत्तरीयं वेशं नमस्यत महोदयसुन्दरीणाम्॥
—काव्यमीमांसा, अ० ३।

४. यो मार्गः परिधानकर्मणि गिरां या सूक्तिमुद्राक्रमो
भङ्गिर्या कवरीचयेषु रचनं यद् भूषणालीषु च।
दृष्टं सुन्दरि कान्यकुब्जललनालोकैरिहान्यच्च यत्
शिक्षन्ते सकलासु दिक्षु तरसा तत् कौतुकिन्यः स्त्रियः॥
—बालरामायण, १०. ९०।

५. ब्रूते यः कोऽपि दोषं महदिति सुमतिर्बालरामायणेऽस्मिन्
प्रष्टव्योऽसौ पटीयानिह मणितिगुणो विद्यते वा नवेति।

'भुवनकोश' का नाम तो वे स्वयं लिखते हैं,[1] किन्तु अन्यान्य ग्रन्थों में उद्धृत कुछ उदाहरणों से उनके एक काव्य 'हरविलास' का भी पता चलता है। इसके अतिरिक्त जह्णकृत सूक्ति-मुक्तावली तथा हारावली नामक सूक्तिसंग्रह-ग्रन्थों के विशिष्टकविप्रशस्ति-प्रकरण में राजशेखर के अनेक श्लोक पाये जाते हैं। कुछ लोगों का कथन है कि राजशेखर ने इस विषय पर स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखा था।

बालरामायण की प्रस्तावना में उन्होंने जिन छह प्रबन्धों की चर्चा की है, वे बालरामायण को लेकर छह होंगे। बालभारत या प्रचण्डपाण्डव नाटक बालरामायण के बाद की रचना है। कारण यह कि बालभारत की रचना महेन्द्रपाल के पुत्र महीपाल के समय हुई है और बालरामायण की रचना महेन्द्रपाल के समय हो चुकी थी। दूसरी बात यह कि बालभारत के दो ही अंक उपलब्ध होते हैं। इससे यह भी सम्भव है कि वे अपने अन्तिम समय तक इसे पूरा न कर सके हों। इन सब नाटकों के अनन्तर उनकी अन्तिम रचना काव्यमीमांसा है; क्योंकि उसमें बालभारत का नान्दीश्लोक उदाहरण-रूप में उद्धृत है। काव्यमीमांसा के अठारह प्रकरण हैं, जिनमें एक कविरहस्य नाम प्रथम प्रकरण उपलब्ध हुआ है। इस प्रकार, बालरामायण के रचनाकाल तक लिखे गये उनके छह प्रबन्धों का ठीक-ठीक पता नहीं चलता।

राजशेखर ने 'हरविलास' नामक एक महाकाव्य भी लिखा है, ऐसा ऐतिहासिक विद्वानों का मत है। इस सम्बन्ध में युक्ति यह है कि राजशेखर ने कवियों के स्तर की विवेचना करते हुए लिखा है कि जो किसी एक भाषा में महान् प्रबन्ध का निर्माता हो, उसे महाकवि कहते हैं और जो भिन्न-भिन्न भाषाओं में और भिन्न-भिन्न रसों में स्वतन्त्रता-पूर्वक रचना कर सकता हो, वह कविराज है। ऐसे कविराज संसार में कुछ इने-गिने ही हैं।[2]

इस प्रकार, उन्होंने कविराज का स्तर महाकवि से भी उच्च माना है और अपने को वे बार-बार कविराज कहते हैं।[3] इस दृष्टि से उन्होंने स्वयं किसी महाप्रबन्ध की रचना करके पहले महाकवित्व अवश्य प्राप्त किया होगा। इनके ग्रन्थों में एक बालरामायण

यद्यस्ति स्वस्ति तुभ्यं भव पठनरुचिर्विद्धि नः षट् प्रबन्धान्
नैवं चेद्दीर्घमास्तां नटवटुवदने जर्जरा काव्यकन्था ॥

—बालरामायण, १. ११।

१. यस्तु जिगीपत्यधिकं पश्यतु मद्भुवनकोशमसौ।

—काव्य. १७, अन्तिम श्लोक।

२. योऽन्यतमप्रबन्ध प्रवीणः स महाकविः। यस्तु तत्र तत्र भाषाविशेषेषु तेषु तेषु प्रबन्धेषु तस्मिंस्तस्मिंश्च रसे स्वतन्त्रः स कविराजः। तेजगन्त्यपि कतिपये।

—काव्यमीमांसा, अध्याय ६।

३. बालकविः कविराजो निर्भयराजस्य तथोपाध्यायः।—कर्पूरमञ्जरी १. ९.

गिरः श्रव्या दिव्याः, प्रकृतिमधुराः प्राकृतधुराः
सुभव्योऽपभ्रंशः सरसरचनं भूतवचनम्।
विभिन्नः पन्थानः किमति कथनीयाश्च त इमे
निबद्धा यस्तेषां स इह कविराजो विजयते ॥—बालरामायण, १०।

को छोड़कर और कोई महाप्रबन्ध नहीं कहा जा सकता। अतः, उन्होंने हरविलास नामक महाकाव्य लिखा होगा, जो इस समय उपलब्ध नहीं है।

राजशेखर ने हरविलास की चर्चा कहीं नहीं की है; परन्तु उनके अनुयायी आलोचक जैन विद्वान् हेमचन्द्र ने अपने काव्यानुशासनविवेक में इसकी चर्चा की है।[1] इसके अतिरिक्त उणादिसूत्रों पर वृत्ति-रचना करनेवाले उज्ज्वलदत्त ने भी राजशेखर का आधा श्लोक हरविलास-काव्य से उद्धृत किया है।[2] यह भी समझा जाता है कि सूक्ति-मुक्तावली में संगृहीत राजशेखर के श्लोक, सम्भवतः हरविलास-काव्य के कविवर्णन-प्रकरण के हों। गद्यकाव्यों के प्रारम्भ में अपने पूर्वज कवियों की प्रशस्तियाँ लिखने की एक प्रथा थी, जो सर्वप्रथम बाणभट्ट के हर्षचरित में, तदनन्तर धनपालकृत तिलकमंजरी और सोड्ढलकृत उदयसुन्दरीकथा में पाई जाती है। पद्य-महाकाव्यों में यद्यपि सामान्यरूप से कवि-काव्यप्रशंसा की प्रथा तो है; किन्तु मङ्ख के श्रीकण्ठचरित तथा सोमेश्वर की कीर्ति-कौमुदी में विशिष्टकवि-प्रशस्तियाँ देखी जाती हैं। अतः, यह संभव है कि राजशेखर ने हरविलास के प्रारंभ में अपने पूर्वज कवियों की प्रशस्तियाँ लिखी हों।

ये प्रशस्तियाँ इन्हीं राजशेखर की हैं, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं; क्योंकि इन प्रशस्तियों में यायावर-वंश के उन अनेक कवियों के नाम आते हैं, जो राजशेखर के निजी सम्बन्धी थे और साहित्य-संसार से अपरिचित थे; जैसे तरल, सुरानन्द, कादम्बरीराम, कविराज, प्रभुदेवी, सुभद्रा आदि।

कुछ लोगों का कथन है कि राजशेखर ने 'कविविमर्श' नामक पुस्तक लिखी थी, जिसमें प्राचीन कवियों की प्रशस्तियाँ थीं। उसी से हारावली और सूक्तिमुक्तावली में उद्धरण लिये गये हैं। किन्तु, यह अप्रामाणिक-सा मालूम होता है।

इनके अतिरिक्त राजशेखर ने काव्यमीमांसा के १७वें अध्याय में भारतवर्ष का संक्षिप्त भूगोल कवियों की जानकारी के लिए दिया है। उसके अंत में लिखा है कि हमने इस देश के विभागों का संकेत-मात्र कर दिया है, जो इससे अधिक जानना चाहें, वे मेरे रचित 'भुवनकोश' को देखें। यह भुवनकोश भूगोल-सम्बन्धी है। परन्तु, अभी तक प्राप्त नहीं हुआ। कुछ लोगों का यह अनुमान है कि 'भुवनकोश' काव्यमीमांसा का एक प्रकरण है, जैसा कि उन्होंने लिखा है।[3]

---

१. (क) स्वनामाङ्कता यथा राजशेखरस्य हरविलासे।
(ख) आशीर्यथा हरविलासे—
ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म श्रुतीनां मुखमक्षरम्।
प्रसीदतु सतां स्वान्तेष्वेकं त्रिपुरुषीमयम्॥
(ग) सुजनदुर्जनस्वरूपं यथा हरविलासे—
इतस्ततो भषन् भूरि न पतेत पिशुनः शुनः।
अवदाततया किञ्च न भेदो हसतः सतः॥

२. दशाननक्षिप्तखुरप्रखण्डितः क्वचिद्गतार्धो हरदीधितिर्यथा।—इति हरविलासे, २, २८।

३. इत्थं देशविभागो मुद्रामात्रेण सूत्रितः सुधियाम्।
यस्तु जिगीषत्यधिकं पश्यतु मद्भुवनकोशमसौ॥—काव्यमीमांसा, अध्याय १७।

राजशेखर का प्रधान ग्रन्थ काव्यमीमांसा है, जो अट्ठारह अधिकरणों में पूर्ण हुआ है। उसका प्रथम अधिकरण प्राप्त हुआ है, जिसका नाम कविरहस्य है। यह काव्यमीमांसा नामक महानिबन्ध का अट्ठारहवाँ भाग है। इसके शेष सत्रह भागों का पता नहीं चलता। यह अधिकरण इतना महत्त्वशाली और अभिनव विचारों से परिपूर्ण है, कि उसे अपने विषय का अद्वितीय ग्रन्थ कहा जा सकता है। यदि यह सम्पूर्ण रूप से उपलब्ध होता, तो इसे निःसन्देह साहित्य-संसार का अमूल्य रत्न कहा जाता। यह राजशेखर की अन्तिम रचना है। अतः, यह सम्भव है कि वे अन्तिम जीवन में इसे पूर्ण न कर सके हों। कुछ प्रमाणों से यह माना जा सकता है कि वे इस ग्रन्थ को पूर्ण कर चुके थे; किन्तु हमारे दुर्भाग्य से उसका शेष अंश प्राप्त न हो सका।

राजशेखर ने कविरहस्य नामक प्रकरण में रीति, रस, अलंकार तथा अन्यान्य विषयों के प्रसंगों पर लिखा है कि इसे अगले प्रकरण में कहेंगे। जैसे शास्त्रनिर्देश-प्रकरण में अलंकार को वेद का सातवाँ अङ्ग मानते हुए वे कहते हैं कि अलंकारों की व्याख्या आगे करेंगे।[1] रीतियों के सम्बन्ध में भी उन्होंने ऐसा ही कहा है कि उन्हें आगे कहेंगे। मन्त्र-सिद्धि आदि द्वारा कवित्व-प्राप्ति के सम्बन्ध में भी उन्होंने लिखा है कि इस विषय को औपनिषदिक प्रकरण में कहेंगे।[2] इन बातों से यह सिद्ध होता है कि या तो वे समस्त ग्रन्थ की रचना कर चुके होंगे या उसका विषय-विभाग करके ही रह गये हों।

इसके अतिरिक्त अलंकारशेखर नामक अलंकार-ग्रन्थ की एकादश मरीचि में राजशेखर के दो उद्धरण प्राप्त होते हैं, जिनमें एक उभयालंकारिक प्रकरण का प्रतीत होता है[3] और दूसरा उन्नीसवीं मरीचि में समस्यापूर्त्ति-विषयक उद्धरण मिलता है, जो संभवतः वैनोदिक अधिकरण का होगा।[4]

इन उपयक्त उद्धरणों से काव्यमीमांसा का पूर्ण होना प्रतीत होता है, परन्तु अभी तक हमें इसके कविरहस्य नामक प्रथम अधिकरण से ही सन्तोष करना होगा, जिसका विस्तृत विवेचन हम आगे चलकर करेंगे।

राजशेखर तथा अन्य भाषाएँ

राजशेखर के समय में संस्कृत के साथ-साथ प्राकृत, अपभ्रंश और भूतभाषाओं का प्रचार भी अधिक मात्रा में था। व्रजभाषा की मूलभाषा शौरसेनी का भी प्रचार था। एक

१. देखिए, काव्यमीमांसा, अध्याय २।

२. देखिए, काव्यमीमांसा, अध्याय ३।

३. यदाह राजशेखरः—

समानमधिकं न्यूनं सजातीयं विरोधि च।
सकुल्यं सोदरं कल्पमित्याद्याः साम्यवाचकाः॥
अलङ्कारशिरोरत्नं सर्वस्वं काव्यसम्पदाम्।
उपमा कविवंशस्य मातैवेति मतिर्मम॥

४. उत्पादितैर्नमोभीतैः शैलैरामूलबन्धनात्।
तांस्तानर्थान् समालोक्य समस्यां पूरयेत् कविः॥

—अलङ्कारशेखर, मरीचि १९।

स्थान पर वे लिखते हैं—**मधुरमधुरावासिभणितिः।** ये सभी भाषाएँ काव्य-भाषाएँ थीं। राजशेखर ने इस विषय पर पर्याप्त मीमांसा की है। राजशेखर स्वयं अनेक भाषाओं के विद्वान् थे, जिनका उन्हें गर्व था और यत्र-तत्र बार-बार इस विषय पर लिखते रहे हैं। इनकी प्राकृत-भाषा की उत्कृष्ट रचना कर्पूरमञ्जरी नामक सट्टक है। सम्भव है, उन्होंने अपभ्रंश और पैशाची आदि में भी मुक्तक या प्रबन्ध रचनाएँ की हों। उनके समय में किस देश में किस भाषा का अधिक प्रचार था और किस देश के वासियों को कौन-सी भाषा अधिक प्रिय थी, इस विषय पर राजशेखर की मीमांसा द्वारा अच्छा प्रकाश पड़ता है। इसी प्रकार उच्चारण-सम्बन्धी विवेचन भी अत्यन्त मार्मिक है।

प्राकृत-भाषा के सम्बन्ध में वे लाटदेशवासियों की प्रशंसा करते हुए थकते नहीं। बालरामायण के दसवें अंक में उनके प्राकृत-भाषण के सम्बन्ध में जो कुछ कहा गया है, वह हम प्रसंगतः पीछे कह आये हैं। काव्यमीमांसा के सप्तम अध्याय में वे लिखते हैं कि लाट-देशवासी संस्कृत के शत्रु होते हैं; परन्तु प्राकृत-पाठ सुन्दर करते हैं और जब वे प्राकृत-कविता का पाठ करते हैं, तब उनके ललित उच्चारण के कारण जिह्वा का संचालन, बहुत भला मालूम होता है।[१] बालरामायण में वे कहते हैं, जब प्राकृत-भाषा के अक्षर कानों में प्रवेश करते हैं, तब अन्य भाषाओं का रस कानों को कड़वा लगता है। लाट-ललनाओं की जिह्वा द्वारा मधुरता से उच्चारित प्राकृत-भाषा कामदेव को उत्तेजित करती है।[२]

लाटदेश के अतिरिक्त दक्षिणापथ में प्राकृत, पैशाची भाषाओं का अधिकतर प्रचार था। राजशेखर प्राकृत-भाषा को संस्कृत से अधिक कोमल मानते हैं। कर्पूरमञ्जरी का प्राकृत-भाषा में निर्माण का कारण बताते हुए उन्होंने लिखा है कि संस्कृत-भाषा कठोर और और प्राकृत कोमल है। संस्कृत और प्राकृत में उतना ही अन्तर है, जितना कि पुरुष और स्त्री में।[३]

राजशेखर के समय कान्यकुब्ज देश के कवियों ने भी प्राकृत का पर्याप्त प्रयोग किया है। राजशेखर के एक शतक पूर्ववर्त्ती भवभूति ने अपने नाटकों में, विशेषतः मालती-माधव में इन भाषाओं का प्रचुररूपेण प्रयोग किया है। भवभूति के दूसरे सहयोगी महाकवि वाक्पतिराज ने प्राकृत-भाषा में ही 'गौडवहो' (गौडवध) नामक महाकाव्य लिखा है।

इस अवसर पर प्राकृत और संस्कृत की पौर्वापर्य समस्या पर भी राजशेखर ने अच्छा प्रकाश डाला है। कुछ लोगों का मत है कि प्राकृत प्रकृतिसिद्ध मूल भाषा है और संस्कृत उसका विशुद्ध या परिष्कृत रूप है। दूसरा मत यह है कि संस्कृत मूल भाषा है और प्राकृत उसका विकृत रूप। वह प्राकृतों, अर्थात् साधारण जनों की भाषा है। इन दोनों

---

१. पठन्ति लटभं लाटाः प्राकृतं संस्कृतद्विषः।
जिह्वया ललितोल्लापलब्धसौन्दर्यमुद्रया ॥—काव्यमीमांसा, अ० ७।

२. देखिए बालरामायण, लाटदेश का वर्णन, अंक १०।

३. परुसा संक्किअ बन्धा पाउद बन्धो वि होई सुउमारो।
पुरुस महिलाणं जेत्तिअ मिहं तरं तेत्ति मिमाणं ॥

—कर्पूरमञ्जरी १, ८।

मतों में राजशेखर प्रथम मत के पक्षपाती हैं। वे प्राकृत-भाषा के लिए स्पष्ट ही कहते हैं कि **यद्योनिः किल संस्कृतस्य,** अर्थात् प्राकृत-भाषा संस्कृत की जननी है।[१] इस प्रकार प्राकृत-भाषा के सम्बन्ध में राजशेखर के विचार अत्यधिक सम्मानपूर्ण मालूम होते हैं।

प्राकृत-भाषा के बाद दूसरा स्थान अपभ्रंश का है। राजशेखर ने इसे भव्य-भाषा कहा है। वे लिखते हैं, **सुभव्योऽपभ्रंशः।** उनके मत में मारवाड़, पूर्वी पंजाब तथा स्यालकोट का विस्तृत भाग अपभ्रंश-भाषाभाषी था।[२] काठियावाड़ और गुजरात के लोग संस्कृत के साथ अपभ्रंश का सुन्दर उच्चारण करते हैं।[३]

राजशेखर के मत में तीसरा स्थान भूतभाषा या पैशाची का है। वे इस भाषा की रचना को सरस रचना कहते हैं—**सरसरचनं भूतवचनम्।**[४] अवन्तिदेश, पारियात्र और दशपुर के निवासी भूतभाषा का प्रयोग अधिक मात्रा में करते हैं।[५] संस्कृत-संसार के प्रसिद्ध महाकवि गुणाढ्य ने पैशाची भाषा में एक लक्ष श्लोकों की बृहत्कथा का प्रणयन किया था, जिसका संस्कृतानुवाद क्षेमेन्द्र की बृहत्कथामञ्जरी तथा सोमदेव के कथासरित-सागर के नाम से प्रसिद्ध है।

राजशेखर के समय ये सभी भाषाएँ प्रचलित थीं और इनमें काव्य-रचना भी होती थी। काव्यमीमांसा, दशम अध्याय में राजाओं के कवि-दरबार का चित्रण करते हुए राजशेखर ने राजसिंहासन के चारों ओर चार भाषाओं के कवियों के बैठने की व्यवस्था की है। उसमें उत्तर की ओर संस्कृत-कवि, पूर्व की ओर प्राकृत-कवि, पश्चिम की ओर अपभ्रंश-कवि और दक्षिण की ओर पैशाची-भाषा के कविगण के स्थान निर्धारित किये गये हैं। इससे प्रतीत होता है कि तत्कालीन राजसभाओं में तथा जनसमाज में इन भाषाओं के कवियों का समान रूप से समादर था।

संस्कृत के किसी भी विद्वान् ने इस प्रकार सामयिक भाषाओं के सम्बन्ध में इतने सूक्ष्म और विस्तृत रूप से विवेचन या अन्वेषण नहीं किया है। इसका मुख्य कारण राजशेखर का विभिन्न भाषाओं में प्रकाण्ड पाण्डित्य था। उन्हें अनेक भाषाओं के ज्ञान का गर्व था। इसीलिए, उन्होंने केवल संस्कृत-कवियों को महाकवि के स्तर में रखकर अपने को कविराज कहा है, जो महाकवि से अधिक सम्मानसूचक है। अपने को 'कविराज' कहते हुए वे लिखते हैं कि ऐसे विविध-भाषाविशारद कवि संसार में दो-तीन ही हैं। कविराज राजशेखर की अन्य संस्कृत-महाकवियों से यह एक महत्त्वपूर्ण विशेषता थी। उनके समय प्राकृत-भाषा के अतिरिक्त अन्यान्य विविध भाषाओं का सुन्दर विकास और

---

१. देखिए, बालरामायण, अंक, १, श्लो० ४।

२. सापभ्रंशप्रयोगाः सकलमरुभुवष्टक्कभादानकाश्च। —काव्यमीमांसा, अ० १०।

३. सुराष्ट्रत्रवणाद्या ये पठन्त्यर्पितसौष्ठवम्।
अपभ्रंशावदंशानि ते संस्कृतवचांस्यपि ॥ —काव्यमीमांसा, अ० ७।

४. देखिए, बालरामायण, अंक १, श्लो० ४।

५. आवन्त्याः पारियात्राः सह दशपुरजैर्भूतभाषां भजन्ते।
—काव्यमीमांसा, अ० १०।

प्रचार हो रहा था। इसी कारण राजशेखर अन्य संस्कृत-कवियों की अपेक्षा अधिक उदार, आलोचक और आदरणीय थे।

राजशेखर की प्रशस्तियाँ

जिस प्रकार राजशेखर ने अपने पूर्वज कवियों की अनेक प्रशस्तियाँ लिखी हैं, उसी प्रकार राजशेखर के परवर्ती कवियों ने उनकी और उनके काव्यों की प्रशस्तियाँ लिखी हैं, जिनसे राजशेखर की कविता तथा उनके विशेष गुणों पर प्रकाश पड़ता है। पाठकों की जानकारी के लिए उन प्रशस्तियों का कुछ अंश हम यहाँ उद्धृत करते हैं।

राजशेखर की निजी काव्यगोष्ठी के दो सदस्यों की सूक्तियाँ तो राजशेखर ने अपनी प्रशंसा में स्वयं ही उद्धृत की हैं। उनकी कविगोष्ठी के सदस्य मृगांकलेखा-कथा के रचयिता भट्ट अपराजित ने[1] उनके सम्बन्ध में एक प्राकृत-सूक्ति लिखी है, जिसे राजशेखर ने कर्पूरमञ्जरी में उद्धृत किया है। इससे मालूम होता है कि राजशेखर में स्वाभाविक कविता का संस्कार बाल्यकाल से ही था, जो आगे चलकर विस्तृत रूप में विकसित हुआ।

बाल कई कइ राओ णिब्भअ राअस्स तह उवज्झाओ।
इति अस्स परंपराए अत्ता माहप्प मारूढो॥

अर्थात्, राजशेखर क्रमशः उन्नति के शिखर पर आरूढ हुए। पहले बालकवि कहलाये, तदनन्तर कविराज नाम से प्रसिद्ध हुए और उसके उपरान्त निर्भयराज या महेन्द्रपाल के अध्यापक हुए।

इसी प्रकार, राजशेखर की कविगोष्ठी के दूसरे सदस्य कृष्णशंकर शर्मा ने[2] भी इनकी कविता पर अपनी सम्मति लिखी है, जिसे राजशेखर ने विद्धशालभञ्जिका की प्रस्तावना में उद्धृत किया है—

पातुं श्रोत्ररसायनं रचयितुं वाचः सतां सम्मताः
व्युत्पत्तिं परमामवाप्तुमवधिं लब्धुं रसस्रोतसः।
भोक्तुं स्वादु फलं च जीवितरोर्यद्यस्ति ते कौतुकं
तद् भ्रातः शृणु राजशेखरकवेः सूक्तीः सुधास्यन्दिनीः॥

हे भाई! यदि तुम कर्णामृत पान करना चाहते हो; यदि सहृदय-हृदय-चमत्कारिणी सूक्तियों की रचना करना चाहते हो; यदि काव्यशास्त्र की प्रौढ व्युत्पत्ति प्राप्त करने की अभिलाषा रखते हो और यदि जीवन-वृक्ष के सुमधुर फलों का आस्वाद लेना चाहते हो, तो राजशेखर की सुधावर्षिणी सूक्तियों को सुनो।

---

१. भट्ट अपराजित राजशेखर के समकालीन और उनके मित्र थे। उन्होंने मृगांकलेखा-कथा नामक एक आख्यायिका लिखी है, जो उपलब्ध नहीं है। इसके अतिरिक्त इनके सम्बन्ध में कुछ ज्ञात नहीं होता, इनका एक श्लोक सुभाषितावली में मिलता है।

—देखिए, सुभा०, श्लो० १०२४।

२. कृष्णशंकर शर्मा भी राजशेखर के कविगोष्ठी-सदस्य थे। ये नाम से ही कान्यकुब्ज-देशवासी प्रतीत होते हैं। इनके या इनकी रचना के सम्बन्ध में कुछ भी ज्ञात नहीं होता।

तिलकमञ्जरी नामक गद्यकाव्य के निर्माता महाकवि धनपाल[1] ने राजशेखर की प्रशस्ति में लिखा है—

समाधिगुणशालिन्यः प्रसन्नपरिपक्त्रिमाः ।
यायावरकवेर्वाचो मुनीनामिव वृत्तयः ॥

—तिलकमञ्जरी, ३३ ।

अर्थात्, यायावर-कवि राजशेखर की रचनाएँ मुनियों की वृत्तियों के समान समाधिगुणवाली, प्रसन्न और परिपक्क होती हैं।

लाटदेश के कायस्थ कवि सोड्ढल[2] ने उदयसुन्दरीकथा-नामक चम्पू-काव्य के प्रारम्भ में कविवंश-वर्णन करते हुए राजशेखर के सम्बन्ध में लिखा है—

यायावरः प्राज्ञवरो गुणज्ञैराशंसितः सूरिसमाजवर्यैः ।
नृत्यत्युदारं भणिते रसस्था नटीव यस्योढरसा पदश्रीः ॥

अर्थात्, यायावर राजशेखर की कविता की प्रशंसा विद्वत्समाज के मूर्द्धन्य व्यक्ति करते हैं, जिनकी काव्य-रचना में सरस पदों की शोभा रसमयी नटी के समान सुन्दर नृत्य करती हुई-सी दीखती है।

राजशेखर का आदर्श

राजशेखर ने अपने सम्बन्ध में एक दैवज्ञ की उक्ति उद्धृत की है, जो प्रायः प्रसिद्ध है—

बभूव वल्मीकभवः कविः पुरा ततः प्रपेदे भुवि भर्त्तृमेण्ठताम् ।
स्थितः पुनर्यो भवभूतिरेखया स वर्त्तते सम्प्रति राजशेखरः ॥

अर्थात्, पहले जो वाल्मीकि कवि था, वह जन्मान्तर में भर्त्तृमेण्ठ के नाम से उत्पन्न हुआ, वही तीसरे जन्म में भवभूति के नाम से और चौथे जन्म में, अर्थात् वर्तमान समय में राजशेखर के रूप में उपस्थित है।

वास्तव में, राजशेखर के आदर्श उनके पूर्वजन्मा कवि भवभूति थे। वे भी विदर्भ-देश के महाराष्ट्र-ब्राह्मण थे और कन्नौज के राजा यशोवर्मा के सभाकवि थे। राजशेखर भी विदर्भदेश के महाराष्ट्र-ब्राह्मण तथा कन्नौज के तत्कालीन राजा महेन्द्रपाल के शिक्षक एवं

---

१. धनपाल विशालापुरी का निवासी काश्यपगोत्रज सर्वदेव का पुत्र था। सर्वदेव ने जैनधर्म की दीक्षा ली थी। अतः, धनपाल भी जैन था। इसे मुंजराज ने सरस्वती की उपाधि दी थी। इसने भोज, मुंज आदि का वर्णन किया है। यह राजशेखर के कुछ ही उत्तरकाल का तिलक-मञ्जरी नामक गद्यकाव्य का प्रणेता विक्रम की दशम शताब्दी के उत्तर भाग (९६०-१००० ई०) का है।

२. सोड्ढल या सोड्ढल लाटदेश-निवासी कायस्थ था। यह कोंकण के राजाओं का राजपंडित था। ये छित्तिराज, नागार्जुन और मुम्मुनिराज तीन भाई थे। ये ई० १०२६ से १०७० तक राज्य करते रहे। उस समय लाटदेश का राजा वत्सराज था। उसका समय (ई० १०५०) है। यही समय कवि का भी है।

सभाकवि थे। भवभूति ने अपने जीवन में महावीरचरित, उत्तररामचरित और मालती-माधव नामक संस्कृत के उत्कृष्टतम नाटकों की रचना की थी और राजशेखर ने भी चार नाटकों की रचना की है। रचनाशैली में भी राजशेखर ने भवभूति का ही अनुसरण अधिक अंश में किया है। वेद, व्याकरण, दर्शन आदि विविध विषयों के ज्ञान में भी राजशेखर भवभूति के समान ही प्रौढ थे।

राजशेखर के दूसरे आदर्श भर्तृमेण्ठ थे। भर्तृमेण्ठ या मेण्ठ कश्मीर के राजा मातृगुप्त के समय में हुए हैं। ये जाति के महावत थे। इन्होंने हयग्रीववध नामक महाकाव्य बनाकर मातृगुप्त की सभा में सुनाया। मातृगुप्त स्वयं कवि था। उसने काव्य के समाप्त होने तक उसके सम्बन्ध में किसी प्रकार की अच्छी या बुरी सम्मति प्रकट न की। अन्त में, 'काव्य का लावण्य छलककर भूमि पर न गिर जाय', इसलिए मानों उसने सोने का थाल मँगाकर काव्यग्रन्थ को उसमें रखवा दिया। काव्य का इस प्रकार समुचित सम्मान देखकर स्वयं मेण्ठ और सभी सभ्य चकित हो गये। यही मेण्ठराज, राजशेखर के द्वितीय आदर्श हैं। इनका हयग्रीववध महाकाव्य इस समय उपलब्ध तो नहीं है; किन्तु उसके अनेक श्लोक अलंकार-ग्रन्थों तथा सुभाषित-ग्रन्थों में उद्धृत किये गये हैं। सम्भव है, राजशेखर ने इसी महाकाव्य के आदर्श पर हरविलास-काव्य की रचना की हो। राजशेखर ने मेण्ठराज की वक्रोक्तियों की प्रशंसा की है।[1] प्राचीन कविसमाज में मेण्ठ का नाम अत्यन्त आदर के साथ लिया जाता है।[2] ये विक्रम की पाँचवीं शताब्दी के कवि हैं।

राजशेखर उदार विचारों के विद्वान् कवि थे। उन्होंने पुरुषों के समान स्त्रियों की विद्वत्ता और कवित्व का भी सम्मान किया है। उच्चवर्ण के कवियों के समान हीनवर्ण के विद्वानों की रचनाओं को भी गौरव और आदर प्रदान किया है। वे कहते हैं कि "पुरुषों के समान ही स्त्रियाँ भी कवि हो सकती हैं।[3] ज्ञान का संस्कार आत्मा से सम्बन्ध रखता है। उसमें स्त्री या पुरुष का भेदभाव नहीं है। सुनते और देखते हैं कि अनेक राजकुमारियाँ, मन्त्रियों की पुत्रियाँ, वेश्याएँ एवं नाट्यप्रयोक्ताओं की स्त्रियाँ शास्त्रों की प्रकाण्ड विदुषियाँ और कवयित्रियाँ हैं।"

राजशेखर ने विशिष्टकवि-प्रशस्ति-प्रकरण में विकटनितम्बा[4], शीला

---

१. देखिए, राजतरंगिणी, तरंग ३, श्लो० २२५-२६०।

२. वक्रोक्त्या मेण्ठराजस्य वहन्त्या सृणिरूपताम्।
आविद्धा इव धुन्वन्ति मूर्द्धानं कविकुञ्जराः ॥—जल्हण : सूक्तिमुक्तावली।

३. पुरुषवत् योषितोऽपि कवीभवेयुः, संस्कारो ह्यात्मनि समवैति। न स्त्रैणं पौरुषं वा विभागमपेक्षते। श्रूयन्ते दृश्यन्ते च राजपुत्र्यो महामात्यदुहितरो गणिकाः कौतुकिभार्याश्च शास्त्रप्रहतबुद्धयः कवयश्च।—काव्यमीमांसा, अध्याय १०।

४. के वैकटनितम्बेन गिरां गुम्फेन गुम्फिताः।
निन्दन्ति निजकान्तानां न मौग्ध्यमधुरा गिरः॥

भट्टारिका[१], सुभद्रा[२] एवं प्रभुदेवी[३] आदि कवयित्रियों की प्रशंसा भी की है। प्रभुदेवी के सम्बन्ध में हम पहले भी विस्तृत रूप से कह आये हैं। राजशेखर की पत्नी अवन्तिसुन्दरी भी विदुषी थी।

इसी प्रकार हर्षवर्द्धन के दरवार में रहनेवाले चाण्डाल-कवि दिवाकर[४] और इनके भी पूर्व कुम्भकार-कवि द्रोण की[५] भी प्रशस्तियाँ राजशेखर ने लिखी हैं।

एक स्थान पर भारत के प्राचीन विद्वानों के द्वीपान्तर-गमन के सम्बन्ध में भी उन्होंने स्पष्ट उल्लेख किया है, जिसे आजकल के धर्माभिमानी पण्डित पातित्यकारक समझते हैं।[६]

इससे यह मालूम होता है कि उस समय के विद्वान् अत्यन्त उदार एवं प्राचीन इतिहास-परम्परा के पूर्ण जानकार होते थे।

राजशेखर नाम के दो विद्वान् और भी हुए हैं, जिनमें एक दक्षिण देश का राजा था। शंकरदिग्विजय में इसकी चर्चा की गई है, **नृपतिः कश्चन राजशेखराख्यः**। यह शंकराचार्य का समकालीन है। नवीन गवेषणाओं के पूर्व प्राचीन विद्वान् इसी राजशेखर को इन नाटकों का प्रणेता समझते थे; परन्तु अव यह सर्वथा भ्रममात्र सिद्ध हो चुका है। एक तो यह राजा था और शंकर का समकालीन भी। दूसरे, शंकरदिग्विजय को ऐतिहासिक विद्वान् प्रामाणिक ग्रन्थ भी नहीं मानते।

राजशेखर नामक दूसरा एक जैन विद्वान् प्रवन्धकोष का निर्माता था, जो प्रायः १३वीं शताब्दी का है। अतः, हमारे चरितनायक राजशेखर इन दोनों से भिन्न यायावरीय राजशेखर नवम शताब्दी के हैं, जैसा कि ऊपर हम लिख आये हैं।

राजशेखर के नाटकों तथा उसके कवित्व आदि के सम्बन्ध में विस्तृत आलोचना करने का यह अवसर नहीं है। अव उनके नवीन उपलब्ध एवं प्रधान तथा अनूदित ग्रन्थ 'काव्यमीमांसा' के सम्बन्ध में विस्तृत विचार किया जायगा।

●

१. शब्दार्थयोः समो गुम्फः पाञ्चाली रीतिरुच्यते।
शीला भट्टारिका वाचि बाणोक्तिषु च सा यदि॥
२. पार्थस्य मनसि स्थानं लेभे खलु सुभद्रया।
कवीनां च वचोवृत्तिचातुर्येण सुभद्रया॥
३. सूक्तीनां स्मरकेलीनां कलानां च विलासभूः।
प्रभुदेवी कविर्लाटी गताऽपि हृदि तिष्ठति॥
४. अहो प्रभावो वाग्देव्या यन्मातङ्गदिवाकरः।
श्रीहर्षस्याभवत्सभ्यः समो बाणमयूरयोः॥
५. सरस्वतीपवित्राणां जातिस्तत्र न देहिनाम्।
व्यासस्पर्द्धी कुलालोऽभूद्यद्द्रोणो भारते कविः॥ —जल्हण : सूक्तिमुक्तावली—राजशेखर।
६. किञ्च महाकवयोऽपि देशद्वीपान्तरकथापुरुषादिदर्शनेन तत्रत्यां व्यवहृतिं निबध्नन्ति स्म।
—काव्यमीमांसा, अध्याय ४।

काव्यमीमांसा

आदिकाव्य : वेद

काव्य नाम रचना का है और कवि, रचना करनेवाले का। ये दोनों शब्द अनादि वैदिक काल से अपने इसी वास्तविक अर्थ में प्रयुक्त होते आ रहे हैं। वेदों में संसार की रचना करनेवाले स्रष्टा का नाम कवि है—**कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूः।** उस स्रष्टा की सदा नवीन और अमर रचना का नाम काव्य है—**पश्य देवस्य काव्यं न ममार न जीर्यति।** प्राचीन कवियों का उल्लेख करते हुए ब्रह्मा को आदिकवि कहा गया है—**एकोऽभून्नलिनात् ततश्च पुलिनात् वल्मीकतश्चापरः।**

संसार का आदि ग्रन्थ ऋग्वेद छन्दोबद्ध काव्य है। साधारण काव्य में रोचकता और रमणीयता लानेवाला तथा काव्य का जीवनभूत अलंकार भी उसमें है। वेद की अनेक ऋचाओं में विविध प्रकार की उपमाएँ, रूपक, अतिशयोक्ति, व्यतिरेक आदि अलंकारों का दर्शन होता है। वास्तव में, भाषा या वाक्य को रुचिकर, सुखद और हृदयंगम बनाने के लिए अलंकार की आवश्यकता अनिवार्य है। अतः, अलंकारशास्त्र भी वैदिक, अतएव अनादि है।

रामायण, महाभारत एवं पुराणों में इस काव्यरचना-शैली का क्रमशः विकास हुआ है। इसके अनन्तर पाणिनि आदि ऋषियों ने जाम्बवतीविजय या पातालविजय जैसे काव्यों की रचना की।

काव्यविद्या : सहित्यविद्या

इस प्रकार इस वाक्यरचना-शैली को तीन भागों में विभक्त किया गया है—१. प्रभुसम्मित वाक्य, २ सुहृत्सम्मित वाक्य और ३. कान्तासम्मित वाक्य। वेद, प्रभुसम्मित वाक्य हैं, जिनमें शब्द की प्रधानता है, अर्थात् यह राजा का आदेश है। इस आदेश में किसी प्रकार का तर्क-वितर्क नहीं किया जा सकता और न उसके अर्थ की आलोचना ही की जा सकती है। इसे आँखें मूँदकर मानना ही कर्त्तव्य है। दूसरे, इतिहास, पुराण आदि के वाक्य, अर्थप्रधान होते हैं, जिनमें शब्दों की ओर ध्यान न देकर उनके तात्पर्य का ग्रहण किया जाता है। जैसे, मित्र इधर-उधर के अनेक दृष्टान्तों द्वारा कर्त्तव्य या अकर्त्तव्य का उपदेश करता है। अतः, ये सुहृत्सम्मित वाक्य हैं। तीसरे, कान्तासम्मित वाक्य में शब्द और अर्थ दोनों की प्रधानता नहीं होती, प्रत्युत उनके द्वारा उत्पन्न सरस एवं विलक्षण ध्वनि, हृदय पर अनिर्वचनीय प्रभाव डालती हैं। जैसे, कमनीया कामिनी प्रिय पति को अपने हाव-भाव आदि के द्वारा सरसता से वशीभूत कर लेती है और अपनी बातें मनवा लेती है। उसी प्रकार वाक्य, सरस, कोमल और कान्त पदावली के द्वारा निकलती हुई ध्वनि से हृदय को प्रभावित करते हैं और अपनी हृदयग्राहिणी पदावली से नीरस नीति और कृत्याकृत्य के उपदेश को प्रच्छन्न रीति से हृदय में उतार देते हैं।

इस प्रकार, प्रथम और द्वितीय प्रकार के वाक्य, ईश्वरीय आदेश और श्रद्धेय

वाक्य होने के कारण, किसी प्रकार की कृत्रिमता या विवेचना के योग्य नहीं हो सकते। तीसरे प्रकार के कान्तासम्मित वाक्यों में रंजक और आकर्षक सामग्री की यथेच्छ योजना का अवसर प्राप्त होता है। अतः, इस वाक्य-रचना की सामग्री या साहित्य का विस्तार भी प्रचुर मात्रा में हुआ है। इस सरस वाक्यरचना-शैली की विस्तृत सामग्री और इसके दर्शन का नाम काव्यविद्या या साहित्यविद्या है।

इस अवसर पर साहित्य शब्द का विस्तृत विवेचन अप्रासंगिक-सा होगा। अतः, हम सूक्ष्म रूप से साहित्य शब्द का अर्थ महाराज भोजदेव के शब्दों में उद्धृत करते हैं—

अभिधाविवक्षातात्पर्यप्रविभागव्यपेक्षासामर्थ्यान्वयैकार्थीभावदोषहान-गुणोपादानालङ्कारयोगरसावियोगरूपाः शब्दार्थयोः द्वादश सम्बन्धाः साहित्यम्— इति उच्यते।

—भोजदेव : शृङ्गारप्रकाश, सप्तम प्रकाश।

साहित्य की विकास-परम्परा

इस प्रकार, संस्कृत में साहित्य शब्द, काव्यविद्या के सीमित अर्थ में प्रयुक्त है। साहित्य शब्द के पूर्व इसका नाम अलंकारशास्त्र था। कारण यह कि विक्रम की आठवीं शताब्दी तक के विद्वानों ने इस विषय पर गम्भीर एवं सूक्ष्म गवेषण नहीं किये। उन्होंने काव्य में गुणों एवं रसों को मानते हुए भी उनका अन्तर्भाव अलंकारों में ही किया है। इस शास्त्र के प्रधान और प्रथम आचार्य भामह, उद्भट, दण्डी आदि अलंकार को ही काव्य की आत्मा मानते रहे हैं। कुछ आगे चलकर वामन ने रीति या शैली को काव्य की आत्मा कहा है। किन्तु, नवम शतक में उत्पन्न आचार्य आनन्दवर्द्धन ने उसपर गम्भीरता के साथ विवेचन किया और व्यंजना-व्यापार के द्वारा उत्पन्न ध्वनि को काव्य की आत्मा माना। इसी समय भट्टनायक, आचार्य अभिनव आदि ने भरत-प्रणीत नाट्यशास्त्र के रससूत्र की व्याख्या करते हुए इस मत का विस्तार किया और आचार्य मम्मट ने अपने प्रगाढ एवं प्रौढ पाण्डित्य से इन मतों को स्थिरता प्रदान की। हम पहले ही कह आये हैं कि यह मीमांसा का समय था। इस समय संस्कृत-वाङ्मय की सभी शाखाओं पर गम्भीर और सूक्ष्मतम दार्शनिक एवं वैज्ञानिक विवेचन हुए और सभी शास्त्रों का साहित्य विस्तृत और सुव्यवस्थित हुआ। इसी प्रकार उस शास्त्र की भी व्यवस्था की गई। तभी से यह काव्यशास्त्र के नाम से प्रचलित हुआ।

अलङ्कारशास्त्र

अलंकारशास्त्र कबसे प्रचलित हुआ, इसका ठीक-ठीक पता नहीं चलता; किन्तु उपमा आदि कुछ अलंकार वैदिक काल से प्रचलित थे। महर्षि यास्क ने निरुक्त में गार्ग्य के उपमा-लक्षण की आलोचना करते हुए उपमालंकार के उदाहरण में अनेक ऋचाएँ उद्धृत की हैं और भूतोपमा, सिद्धोपमा, लुप्तोपमा आदि उसके भेदों का प्रदर्शन भी किया है। पाणिनि ने भी उपमान, उपमेय आदि के सम्बन्ध में अनेक सूत्रों का प्रणयन किया है।

अग्निपुराण में भी अलंकारों की चर्चा है। किन्तु, उसमें अनेक ऐसे विषयों का समावेश है; जिन्हें देखते हुए उसकी प्रामाणिकता सन्दिग्ध-सी प्रतीत होती है। हाँ, इस विषय में सबसे प्राचीन ग्रन्थ भरत का नाट्यशास्त्र है, जिसमें एक शब्दालंकार और तीन अर्थालंकारों के नाम मिलते हैं। इसका रचनाकाल ईसवी-सन् की पहली या दूसरी शताब्दी माना गया है। इसके अनन्तर चतुर्थ शताब्दी के लगभग भामह की चर्चा की गई है। इसके अनन्तर दण्डी, उद्भट, रुद्रट, वामन आदि आचार्यों के ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं। वास्तव में, नाट्यशास्त्र की रचना ईसा से कई सौ वर्ष पूर्व की है।

इन आचार्यों के समय तक इस शास्त्र की गम्भीर एवं दार्शनिक शास्त्रों में गणना नहीं थी। आचार्य आनन्दवर्द्धन, अभिनवगुप्तपादाचार्य, महिमभट्ट, मम्मटभट्ट आदि ने इस विषय पर दार्शनिक शैली से नवीन विचारधारा का प्रचलन करके इस शास्त्र को गम्भीर एवं महत्त्वपूर्ण शास्त्रों की श्रेणी में लाने का पाण्डित्यपूर्ण प्रयत्न किया; किन्तु यह सब प्रयत्न कुछ न्यून या अधिक रूप में विशृंखलित परिस्थिति में था। इस अवसर पर अनेक शास्त्रों के मर्मज्ञ विद्वान् एवं तत्कालीन अनेक भाषाओं के वेत्ता कविराज राजशेखर ने अपने समय के अनुसार काव्य या साहित्यविद्या को प्रामाणिक महान् शास्त्रों की गणना में लाने का सुव्यवस्थित, नियमित एवं प्रशंसनीय प्रयत्न किया, जो काव्यमीमांसा के रूप में था।

कविरहस्य : काव्य-रचनाशास्त्र

खेद का विषय है कि यह महान् ग्रन्थ अभी तक पूर्ण नहीं प्राप्त हुआ है। उसके अट्ठारह भागों या अधिकरणों में एक प्रथम भाग कविरहस्य ही प्राप्त हुआ है, जिसका हिन्दी-अनुवाद साहित्यानुरागी सहृदयों के सम्मुख प्रस्तुत किया गया है।

इस भाग के उपलब्ध होने से संस्कृत-साहित्य-भाण्डार की गौरव-वृद्धि हुई है। कारण यह कि कविरहस्य का विवेच्य विषय, दार्शनिक प्रौढ लेखन-शैली, वैज्ञानिकता एवं गम्भीर गवेषणा सभी कुछ विशाल—विस्तृत संस्कृत-साहित्य-संसार में अपूर्व और अतुलनीय है। उनकी इस नई सूझ से साहित्य-संसार का महान् उपकार हुआ है। कविराज राजशेखर इस शैली के प्रथम प्रवर्त्तक आचार्य थे। उन्होंने कविरहस्य में कवियों के लिए जिस सामग्री का जिस शैली से प्रतिपादन किया है, उसे आदर्श मानकर महाकवि क्षेमेन्द्र, जैनाचार्य हेमचन्द्र, वाग्भट, महाराज भोजदेव, शारदातनय, हलायुध, देवेश्वर, अमरसिंह आदि ने अपने ग्रन्थों की रचना करके साहित्य-जगत् के इस आवश्यक विषय को विस्तृत करते हुए 'संस्कृत-काव्य-रचनाशास्त्र' की अभिवृद्धि की है।

यह तो पता नहीं कि वे अपनी इस महती रचना को पूर्ण कर सके या नहीं; किन्तु कविरहस्य के शास्त्रसंग्रह नामक प्रथम अध्याय में उन्होंने काव्यमीमांसा के अट्ठारहों अधिकरणों की विषयसूची देकर समूचे ग्रन्थ का विषय-निर्देश किया है। उनके अनुयायी परवर्ती लेखकों ने इस विषयसूची के अनुसार अनेक विषयों का विवेचन अपने-अपने ग्रन्थों में अंशतः किया है। अस्तु।

संस्कृत-साहित्य-परिशीलन : ह्रासोन्मुख

हम ऊपर कह आये हैं कि इस ग्रन्थ की भाषा-शैली, गवेषणा और विवेचना की पद्धतियाँ संस्कृत-साहित्य में नवीन थीं। यही कारण है कि ऐसी महत्त्वपूर्ण पुस्तक का संस्कृत-संसार में समुचित सम्मान और प्रचलन न हो सका। दूसरे, संस्कृत की अध्ययनाध्यापन-पद्धति भी इतनी संकीर्ण एवं अनुपयुक्त हो गई है कि उसमें ऐसे नवीन और गहन विषयों का समावेश असम्भव है। इसके अतिरिक्त संस्कृत में साहित्यरुचि का भी पर्याप्त ह्रास हो गया है। सहृदयता का स्थान शुष्कता और नीरसता ने ले लिया है। काव्यचर्चा, कविगोष्ठी, साहित्यालोचन आदि अतीत की वस्तुएँ हो गई हैं। शुष्क, निष्फल और असार विषयों का किसी प्रकार पठन-पाठन और टीकाग्रन्थों का वाद-विवादमात्र प्रचलित है। यह समय की महिमा है। यही कारण है कि संस्कृत-परीक्षाओं में कहीं-कहीं पाठ्य होकर भी यह पुस्तक समुचित अध्यापन के अभाव से प्रचलित न हो सकी।

विकासोन्मुख हिन्दी-साहित्य और काव्यमीमांसा

वर्त्तमान समय हिन्दी-साहित्य का है। यह विकासोन्मुख साहित्य है। काव्य-चर्चाओं, कविगोष्ठियों और कविसम्मेलनों का प्रचलन पर्याप्त रूप में है। अच्छे-अच्छे कवि और आलोचक उत्पन्न हो रहे हैं। अतः, हिन्दी-साहित्यप्रेमियों के लिए इसका अध्ययन उपयोगी होगा। अति प्राचीन होने पर भी उनके लिए काव्यमीमांसा अवश्य पथ-प्रदर्शक और आलोचना का विषय हो सकती है। अतः, हम काव्यमीमांसा के अट्ठारहवें भाग कविरहस्य के अट्ठारह अध्यायों का संक्षिप्त परिचय देना आवश्यक समझते हैं। इस परिचय के विना संस्कृत की दार्शनिक शैली और दार्शनिक भाषा में लिखे गये 'कविरहस्य' का रहस्य समझने में साधारण पाठकों को कठिनाई का अनुभव हो सकता है। अतः, इसके विषयों पर प्रकाश डालना आवश्यक है। यद्यपि इसके भिन्न-भिन्न प्रकरणों पर विस्तृत रूप से लिखने का अवसर नहीं है; किन्तु इस संक्षिप्त परिचय में स्थूल रूप से ही विवेचन किया गया है।

पहले कहा जा चुका है कि सम्पूर्ण 'काव्यमीमांसा' अट्ठारह अधिकरणों में लिखी गई है। प्रस्तुत 'कविरहस्य' उसका प्रथम अधिकरण है। इस अधिकरण में अट्ठारह अध्याय हैं। इन अट्ठारह अध्यायों में प्रथम तीन अध्याय समस्त काव्यमीमांसा की भूमिका के रूप में हैं और शेष पन्द्रह अध्यायों में कविरहस्य का विषय वर्णित किया गया है।

प्रथम अध्याय

अनेक प्राचीन ग्रंथों और शास्त्रों के आधार पर इस ग्रंथ की निर्माणशैली का आदर्श ग्रहण किया गया है। शास्त्रारम्भ की शैली वात्स्यायन-कामसूत्र और कौटिलीय अर्थशास्त्र के आधार पर है। इसके अतिरिक्त ब्रह्ममीमांसा और धर्ममीमांसा की शैली को भी ग्रन्थकार ने आदर्श माना है। काव्यविद्या या साहित्यशास्त्र को सभी प्रकार से प्राचीन शास्त्रों की श्रेणी में लाने का सफल प्रयत्न किया गया है। वैदिक, लौकिक, पौराणिक एवं

दार्शनिक सभी दृष्टियों से इस शास्त्र को उपयोगी और प्रामाणिक सिद्ध करने की युक्तिपूर्ण चेष्टा भी की गई है।

प्रायः सभी शास्त्रों के विकास का यह क्रम रहा है कि पहले उनका स्वरूप स्वल्प और संक्षिप्त रहता है, अनन्तर उनपर भाष्य, व्याख्या, वार्त्तिक, विवृति, टीका, टिप्पणी आदि द्वारा विवेचन होता रहता है और नवीन शाखा-प्रशाखाओं द्वारा उनका विस्तार होता रहता है। इस प्रकार, एक शास्त्र-सम्बन्धी साहित्य, विशाल और विस्तृत हो जाता है। नदियों का प्रवाह जिस प्रकार उद्‌गम-स्थान में अतिस्वल्प रहता है, किन्तु उनके समुद्र तक पहुँचते-पहुँचते उसका विशाल विस्तार हो जाता है। वस्तुतः, यही स्थिति शास्त्रों की है।

किन्तु, कुछ लोगों का मत है कि पहले शास्त्रों का विस्तार विपुल था। ऋषियों ने एक-एक विषय पर बहुत कुछ लिखा था। कालक्रम से मनुष्यों का आयुह्रास और बुद्धिह्रास होता गया और शास्त्र अस्त-व्यस्त होकर लुप्तप्राय हो गये। अन्त में विद्वानों ने उनका सार-संग्रह करके सरल संक्षिप्त ग्रन्थों की रचना की और उनकी रक्षा की। इस प्रकार ये दो मत हैं। राजशेखर के समय दूसरे मत की मान्यता अधिक रूप में प्रचलित थी। यद्यपि वे स्वयं प्रथम मत के ही समर्थक थे।

प्राचीन परम्परा के अनुसार अधिकांश शास्त्रों की उत्पत्ति प्रजापति ब्रह्मा या शिव से मानी गई है। उन्हें ईश्वरीय देन माना गया है। किसी शास्त्र की प्रामाणिकता के लिए उसकी उत्पत्ति का क्रम ब्रह्मा या शिव से होना आवश्यक है। उसके अनन्तर उसकी शिष्य-परम्परा का क्रम बताना भी आवश्यक है। इसे **गुरुपर्व-क्रम** कहा जाता है।

दूसरे, किसी शास्त्र का साक्षात् या परम्परा-सम्बन्ध से वेदों के साथ सम्बद्ध होना भी उसकी प्रामाणिकता और उपादेयता का कारण होता है, अन्यथा वे अवैदिक, अतएव उपेक्षित माने जाते हैं।

तीसरे, किसी शास्त्र का प्रयोजन पुरुषार्थ-सिद्धि होना आवश्यक है। अर्थात्, धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इन चार पुरुषार्थों में एक, दो या सभी पुरुषार्थों की प्राप्ति किसी शास्त्र की उपादेयता का कारण होती है। लौकिक विद्याओं का प्रयोजन धर्म और अर्थ है। उनके द्वारा काम-पुरुषार्थ की सिद्धि भी होती है। दर्शनशास्त्रों का प्रयोजन परम पुरुषार्थ—मोक्ष की प्राप्ति है। इन सब बातों का ध्यान रखते हुए राजशेखर ने तीनों प्रकारों से काव्यविद्या को प्रामाणिक एवं उपादेय सिद्ध करके उसे महान् शास्त्र का रूप देने का प्रयत्न प्रथम तीन अध्यायों में किया है। साहित्यशास्त्र के सम्बन्ध में यह सर्वप्रथम प्रयत्न है। इसके पूर्वकालीन भामह, दण्डी, वामन, उद्भट, आनन्दवर्द्धन आदि आचार्यों ने काव्य-विद्या के विभिन्न अङ्गों पर पृथक्-पृथक् रूप से महत्त्वपूर्ण विवेचन करते हुए भी उसे सुव्यवस्थित और वैधानिक रूप नहीं दिया था। राजशेखर के परवर्त्ती मम्मट आदि ग्रन्थ-कारों ने राजशेखर की इस शैली को अंशतः अपनाया है।

प्रथम अध्याय का प्रारम्भ दार्शनिक शैली से हुआ। दर्शनकार या उनसे प्राचीन

आचार्य ग्रन्थ का प्रारम्भ मंगलाचरण-श्लोकों से नहीं करते थे। उनका प्रारम्भ 'अथ' शब्द से होता था 'अथ' शब्द को ओंकार के समान पवित्र और मंगलवाचक माना जाता है। वास्तव में उसका अर्थ 'अनन्तर' है। अथ के पश्चात् अधिकारसूचक 'अतः' शब्द रहता है। जैसे—**अथातो ब्रह्मजिज्ञासा, अथातो धर्मजिज्ञासा, अथ शब्दानुशासनम्** इत्यादि। राजशेखर ने इसी शैली पर काव्यमीमांसा का प्रारम्भ किया है—**अथातः काव्यं मीमांसयिष्यामहे।** यहाँ मंगलसूचक 'अथ' शब्द का अर्थ है—'बालरामायण' आदि अनेक प्रबन्धों के लिखने के अनन्तर अब काव्य की मीमांसा करते हैं।

इसके आगे चलकर राजशेखर ने काव्यविद्या की उत्पत्ति और उसके गुरुपर्व-क्रम का निर्देश किया है कि शिवजी के द्वारा ब्रह्मा, विष्णु आदि चौंसठ शिष्यों को प्रथम बार इस विद्या का उपदेश किया गया है और क्रमशः उसका अठारह भागों में विस्तार हुआ। एक-एक भाग या अधिकरण का निर्माण एक-एक आचार्य ने किया। काव्यविद्या के भिन्न-भिन्न अंगों पर विस्तार करनेवाले जिन-जिन देवताओं और ऋषियों का उल्लेख इसमें किया गया है, वह राजशेखर की पौराणिक कल्पनामात्र है।

इसके अतिरिक्त आयुर्वेद एवं कामशास्त्र की परम्परा का अनुसरण करते हुए इन्होंने भिन्न-भिन्न अधिकरणों के जिन आचार्यों के नाम दिये हैं, वे केवल अनुप्रास के लालित्य के कारण दिये गये हैं। अन्यथा यम, वरुण, कुवेर, शेष आदि का इन विषयों से सम्बन्ध कहीं नहीं सुना गया है। इसमें एकमात्र अनुप्रासरसिकता ही कारण मालूम होती है। जैसे—**यमो यमकानि, चित्रं चित्राङ्गदः, श्लेषं शेषः, औक्तिकमुक्तिगर्भः**—इत्यादि।

अस्तु। इस प्रकरण में राजशेखर ने अठारहों अधिकरणों के विषयों का निर्देश कर दिया है। इस विषय-निर्देश या शास्त्रसंग्रह नामक प्रकरण से प्रतीत होता है कि राजशेखर, वास्तव में भरत से आचार्य आनन्दवर्द्धन तक के आचार्यों द्वारा शब्दालंकार, अर्थालंकार, रीति, रस, व्यञ्जना आदि के सम्बन्ध में जो कुछ न्यून या अधिक पृथक्-पृथक् ग्रन्थों में लिखा गया था, उस सबका तथा अन्य आवश्यक काव्याङ्गभूत नवीन विषयों का, समष्टिरूपेण एक सुव्यवस्थित, वैज्ञानिक और दार्शनिक विवेचन करने के लिए काव्यमीमांसा नामक बृहत् ग्रन्थ लिखने की आयोजना कर चुके थे; किन्तु दैववश उसे पूर्ण न कर सकें। उनकी इस योजना को आचार्य मम्मट आदि ने एक सीमित रूप में पूर्ण करने की चेष्टा की है। इन्हीं के प्रदर्शित मार्ग का अनुसरण करके क्षेमेन्द्र ने भी औचित्य-विचारचर्चा, कविकण्ठाभरण, सुवृत्ततिलक आदि वैज्ञानिक-विवेचनात्मक लघु ग्रन्थ लिखे हैं।

काव्यमीमांसा के अठारह अधिकरणों में, नौ अध्यायों में अलंकारों की मीमांसा की गई है और अलंकारों के तीन भेद किये गये हैं—शब्दालंकार, अर्थालंकार तथा उभयालंकार। शब्दालंकारों में अनुप्रास, यमक, चित्र और शब्दश्लेष इन चार अलंकारों के लिए चार अधिकरण लिखे गये हैं। वास्तव में, इनके अवान्तर भेद अनेक हैं। सरस्वतीकण्ठाभरण, विदग्धमुखमण्डन आदि ग्रन्थों में इनका विस्तार पाया जाता है। इसी प्रकार,

अर्थालंकारों में भी चार अलंकार मुख्य माने गये हैं—उपमा, स्वभावोक्ति, अतिशयोक्ति और अर्थश्लेष। अलंकारों की संख्या एक उपमा से बढ़ते-बढ़ते राजशेखर के समय तक आठ के लगभग पहुँच चुकी थी, किन्तु राजशेखर ने चार शब्दालंकार और चार अर्थालंकार मानकर अन्य सभी अलंकारों का इन्हीं में अन्तर्भाव किया होगा। यह आधार उन्हें उनके कुछ पूर्ववर्त्ती आलंकारिक आचार्य रुद्रट से मिला है। रुद्रट ने इन्हीं चार-चार अलंकारों को माना है। उभयालंकार का तात्पर्य संकर, संसृष्टि आदि मिश्रित अलंकारों से मालूम होता है। इसके अतिरिक्त रूपक, अर्थात् नाटकों के विषय में एक पृथक् अधिकरण है; जो भरत के नाट्यवेद-सम्बन्धी विषयों का है। रसों और रीतियों के सम्बन्ध में एक-एक अधिकरण के अतिरिक्त एक औक्तिक अधिकरण भी लिखा है। इस अधिकरण में उक्ति-सम्बन्धी विचार हैं। सम्भवतः, इसमें अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना-सम्बन्धी विचारों की मीमांसा की गई है, जो आचार्य आनन्द के ध्वन्यालोक का मुख्य विषय है।

इन प्राचीन प्रचलित काव्यविद्या के अंगभूत विषयों के साथ उन्होंने कविरहस्य, वैनोदिक एवं औपनिषदिक ये तीन अधिकरण स्वतन्त्ररूपेण सम्मिलित किये हैं, जो वास्तव में राजशेखर के प्रखरप्रतिभा-प्रसूत हैं और काव्य-रचना के लिए अत्यावश्यक भी। इनमें कविरहस्य का विवेचन आगे चलकर किया जायगा। वैनोदिक एवं औपनिषदिक अधिकरणों के सम्बन्ध में कहा जा सकता है कि वैनोदिक अधिकरण में राजशेखर ने विविध ऋतुओं के उत्सवों, द्यूत आदि विविध विनोदों तथा काव्यांगभूत कलाओं की मीमांसा की होगी। औपनिषदिक अधिकरण काम और अर्थशास्त्रों में भी हैं। वात्स्यायन और कौटिल्य ने अपने-अपने शास्त्रों में क्रमशः मन्त्र, तन्त्र, यन्त्र तथा मारण, मोहन, वशीकरण, स्तम्भन आदि की ओषधियाँ, टोटके आदि लिखे हैं। राजशेखर ने भी कविता-प्राप्ति के लिए मन्त्र, तन्त्र, व्रत, स्तोत्र आदि के लिए इस औपनिषदिक अधिकरण की रचना की है। यह उन्होंने स्वयं कहा भी है।

कामशास्त्र के प्रारम्भ में वात्स्यायन ने लिखा है कि जिस समय शिवजी कैलास-पर्वत की गुफा में पार्वती के साथ सहस्र वर्षों तक रमण करते रहे, उस समय गुफा के द्वार पर पहरा देते हुए नन्दी ने एक सहस्र अध्यायों में कामशास्त्र की रचना की। तदनन्तर गोणिकापुत्र, सुवर्णनाभ, कुचुमार आदि आचार्यों ने कामशास्त्र के भिन्न-भिन्न अंगों पर पृथक्-पृथक् प्रबन्ध-रचना की। कालक्रम से सभी प्रबन्ध अस्त-व्यस्त और उच्छिन्न-से हो गये, तब वात्स्यायन ने उनका संग्रह करके कामशास्त्र का प्रणयन किया और उसके अधिकरणों और प्रकरणों में इन विषयों का निरूपण किया।

कौटिल्य ने भी अर्थशास्त्र के प्रारम्भ में प्रायः ऐसा ही लिखा है कि संसार में जितने भी भिन्न-भिन्न आचार्यों के अर्थशास्त्रीय ग्रंथ मिले, उन सभी का संग्रह करके अर्थशास्त्र के अधिकरणों का निर्माण किया गया है।

इसी प्रकार राजशेखर ने भी लिखा है कि इस प्रकार अट्टारह अधिकरणों में अतिविस्तृत काव्यशास्त्र को संक्षिप्त करके हमने अट्टारह अधिकरणों की काव्यमीमांसा का प्रणयन किया।

'अधिकरण' शब्द का प्रयोग भी उन्हीं के अनुसार किया गया है। पूर्वमीमांसा-शास्त्र में भी अधिकरण शब्द का प्रयोग किया गया है। अधिकरण शब्द का अर्थ मीमांसा-शास्त्र में इस प्रकार लिखा है कि अधिकरण में पाँच बातें होती हैं- १. जिस विषय का विचार करना हो, उसका निर्देश, २. उसपर संशय करना, ३. शंका करना, ४. उसका समाधान करना और ५. पुनः मूल विषय के साथ उसकी संगति करना। इस नियम से मीमांसकों ने अधिकरण शब्द का प्रयोग अधिक मात्रा में किया है। माधव ने ६१५ अधिकरणों की 'अधिकरणमाला' लिखी है। शंकरभट्ट ने 'मीमांसासारसंग्रह' में १००० अधिकरण लिखे हैं। दूसरे, अधिकरण का अर्थ न्याय करने या धर्म-निर्णय करने का स्थान है; जहाँ विवादों पर तर्कों और युक्तियों द्वारा विचार तथा अन्त में उसका निर्णय किया जाता है। गुप्तकाल में फौजदारी और दीवानी अदालतों के सम्बन्ध में अधिकरण शब्द प्रचुर मात्रा में प्रयुक्त था। तीसरे, अधिकरण शब्द का अर्थ अधिकार है। अर्थात्, जिस भाग में जिस विषय का निर्णय किया जाय, वह उस विषय का अधिकार या अधिकरण कहा जाता है। प्रकरण और अध्याय उसके अवान्तर विभाग के रूप में प्रयुक्त किये जाते हैं। राजशेखर ने विषयों के अधिकार के आधार पर ही अपने अधिकरणों की रचना की है।

काम और अर्थशास्त्र में सभी अधिकरणों के अवान्तर प्रकरणों की विषयसूची दे दी गई है, किन्तु राजशेखर ने अन्त में केवल कविरहस्य नामक प्रथम अधिकरण की सूची ही दी है। सम्भव है, उन्होंने प्रत्येक अधिकरण के आरम्भ में उनकी विषयसूची देने की प्रथा प्रचलित की हो।

इस प्रकार, प्रथम अध्याय में काव्यशास्त्र का विषय-निर्देश करते हुए राजशेखर ने इसकी प्रामाणिकता और उपादेयता सिद्ध की है।

द्वितीय अध्याय

द्वितीय अध्याय का नाम शास्त्र-निर्देश है। पहले कहा जा चुका है कि किसी शास्त्र का वेदों से साक्षात् या परम्परा-सम्बन्ध होना उसकी उपादेयता का परम प्रयोजक होता है। अतः, राजशेखर ने वेद के छह अंगों के साथ अलंकार को सातवाँ अंग माना है। वेद के अर्थज्ञान के लिए शिक्षा, कल्प, निरुक्त, छन्द, व्याकरण और ज्योतिष—इन छह शास्त्रों का ज्ञान आवश्यक है। इनके विना वेद का वास्तविक अर्थ नहीं जाना जा सकता। इसी प्रकार अलंकारशास्त्र का ज्ञान भी वेदार्थ-ज्ञान का आवश्यक अंग है; क्योंकि वेदों में उपमा आदि अलंकारों का प्रचुर मात्रा में प्रयोग पाया जाता है।

निरुक्तकार महर्षि यास्क ने उपमालंकार की विवेचना करते हुए अनेक उपमालंकृत मन्त्रों के उद्धरण दिये हैं और उपमा के अनेक भेदों का भी वर्णन किया है। राजशेखर ने भी ऋग्वेद के एक मन्त्र का उद्धरण किया है। जिसके पूर्वार्द्ध में उपमालंकार और उत्तरार्द्ध में अतिशयोक्ति या व्यतिरेकालंकार है। इसी प्रकार वेद-मन्त्रों में अन्यान्य अलंकार भी दीखते हैं। अतः, अलंकार वेद का सातवाँ अंग है—यह तर्कपूर्ण प्रमाण देकर राजशेखर ने इस विषय पर महत्त्वपूर्ण प्रकाश डाला है। अतः, अपौरुषेय वेद का अंग होने के कारण यह शास्त्र भी अपौरुषेय है।

वाङ्मय दो प्रकार के हैं—१. अपौरुषेय और २. पौरुषेय। अर्थात्, एक ईश्वरीय और दूसरा पुरुष के द्वारा निर्मित। वैदिक वाङ्मय अपौरुषेय है। अतः, पहले काव्य-शास्त्र का उस अपौरुषेय ज्ञान के साथ सम्बन्ध बताया गया है। इससे इस शास्त्र की अपौरुषेयता सिद्ध की गई है।

पौरुषेय वाङ्मय में चौदह विद्याएँ कही गई हैं, जिनका प्रयोजन धर्म और अर्थ की तथा उन दोनों के द्वारा काम की प्राप्ति है। इस प्रयोजन के अनुसार साहित्यविद्या भी पन्द्रहवीं विद्या है। इसके द्वारा भी इन पुरुषार्थों की प्राप्ति प्रत्यक्ष सिद्ध है। साहित्य-विद्या उन चौदहों विद्याओं का सारतत्त्व है; क्योंकि सभी विद्याएँ काव्य या साहित्य-शास्त्र का अंग हैं। आचार्य भामह ने लिखा है—

न तच्छास्त्रं न सा विद्या न तच्छिल्पं न सा कला। जायते यन्न काव्याङ्गम्।

इस प्रकार, काव्य को अपौरुषेय और पौरुषेय दोनों प्रकार के शास्त्रों में मुख्य सिद्ध करते हुए और शास्त्रों का विस्तृत करनेवाले सूत्र, भाष्य, वार्तिक, टीका, विवृति, कारिका, पंजिका आदि की सरल-सुन्दर व्याख्या करते हुए राजशेखर ने शास्त्र-निर्देश नामक अध्याय को समाप्त किया है। यह शास्त्र-निर्देश नामक अध्याय अर्थशास्त्र और कामशास्त्र के अन्त में आया है।

तृतीय अध्याय

तृतीय अध्याय में काव्यपुरुष की उत्पत्ति, उसका विकास, रीति, वृत्ति, प्रवृत्ति आदि का सरस वर्णन पौराणिक रूप से करते हुए काव्य को दर्शनशास्त्रों के समान परम-पुरुषार्थ—मोक्ष का साधन भी सिद्ध किया गया है।

इस अध्याय की सभी बातें अनेक आधारों पर आधृत होने के साथ अत्यन्त रहस्यमय, मनोरंजकतापूर्ण और दार्शनिक तत्त्व से युक्त हैं। इस अध्याय में अनेक विषयों का एक साथ ग्रथन करते हुए पौराणिकता का सुन्दर पुट दिया गया है, जो किसी वस्तु की प्रामाणिकता का साधन माना जाता था।

वायुपुराण और महाभारत में, सरस्वती को दधीचि ऋषि के द्वारा पुत्र का उत्पन्न होना और उसका जन्म से ही समस्त विद्याओं का पारंगत होना लिखा है। उसे सारस्वत ऋषि कहा गया है। बाणभट्ट ने इस कथा को हर्षचरित के प्रारम्भ में, काव्य की भाषा में सुन्दर रूप से चित्रित किया है। राजशेखर ने, इस कथानक का अत्यल्प आधार लेते हुए, साक्षात् प्रजापति-ब्रह्मदेव के द्वारा सरस्वती को पुत्रप्राप्ति होने का वर्णन किया है और उसे सारस्वतेय काव्यपुरुष माना है।

प्राचीन समय से भृगुपुत्र उशनस् (शुक्र) कवि के नाम से प्रसिद्ध थे, किन्तु काव्योत्पत्ति की कथा वाल्मीकि के 'मा निषाद' इस रामायण के श्लोक से प्रारम्भ होती है। अतः, इन दोनों का सम्बन्ध जोड़कर राजशेखर ने काव्यपुरुष का लालन-पालन भार्गव-शुक्र के आश्रम में कराया है और पुत्र-काव्यपुरुष के खो जाने से व्याकुल सरस्वती को कवि का आश्रम-मार्ग दिखलाने के कारण वाल्मीकि को सरस्वती द्वारा काव्यरचना-शक्ति

उत्पन्न होने के लिए वरदान दिलाने की कल्पना करके उन्होंने कथा की अद्भुत ढंग से योजना की है।

सारांश यह कि छन्दोबद्ध शब्दमय काव्य को ब्रह्मा ने अपनी सरस्वती द्वारा अनादिकाल से उत्पन्न कर दिया था। किन्तु, उसे सरस और आकर्षक बनाने की सामग्री न थी। इस कारण उसमें रूक्षता थी। रूक्ष पुरुष को सरस बनाने के लिए जिस प्रकार रमणी का प्रेम आवश्यक है, उसी प्रकार शब्दमय काव्य को सरस बनाने के लिए साहित्य-वधू की आवश्यकता थी। अतः, कवि ने साहित्य को वधू का रूपक देकर उसके द्वारा काव्य को सरस बनाने की कल्पना की है। यहाँ कान्तासम्मित उपदेश का हृदयङ्गम उदाहरण भी उपस्थित कर दिया गया है।

इस प्रकार, तीसरे अध्याय में ग्रन्थकार ने काव्यविद्या की उत्पत्ति को पौराणिक रूप देते हुए भरत-नाट्यशास्त्र के अनुसार भौगोलिक दृष्टि से भी उसके स्वरूप का निर्धारण किया है। काव्य दो प्रकार के हैं—दृश्य और श्रव्य। दृश्यकाव्यों की प्रमाणिकता भरत के नाट्यशास्त्र द्वारा सिद्ध हो चुकी थी और उसका विस्तृत साहित्य भी सम्पन्न था। नाट्य के तीन प्रधान अङ्ग हैं—वेशविन्यास, विलासविन्यास, वचनविन्यास। इन तीनों का नाम प्रवृत्ति, वृत्ति और रीति है। इनमें वेशविन्यास, नृत्य-गीत, हावभाव आदि विलासविन्यास मुख्य रूप से दृश्यकाव्य के उपयोगी होते हैं; किन्तु रीति या रचनाशैली, दृश्य और श्रव्य दोनों काव्यों में समान रूप से उपयुक्त होती है। अतः, रीति को दृश्यकाव्य की आत्मा मानते हुए वामन आदि आलंकारिकों ने इसे काव्य का प्रधान अंग माना है। राजशेखर ने इन रीतियों के निरूपण के लिए पृथक् एक अधिकरण की भी रचना की है।

प्रस्तुत तृतीय अध्याय में एक सरस पौराणिक कल्पना द्वारा काव्य की इन वृत्ति-प्रवृत्ति-रीतियों का स्वरूप-वर्णन करते हुए उनके क्रम-विकास का रहस्यमय वर्णन किया गया है। काव्यपुरुष के यात्राप्रसंग से उन्होंने भारत के उन चार भागों के वेश, विलास और वचन-रचनाओं का दिग्दर्शन करा दिया है, जिन्हें प्राचीन आचार्यों ने निर्धारित किया था।

भारत में अनेक देशों के होते हुए भी काव्यों और नाटकों की रचनाशैली के अनुसार उनके चार भाग किये गये हैं—पूर्व में मगध और बंगाल, मध्यदेश में पाञ्चाल, पश्चिम में अवन्तिदेश और दक्षिण में विदर्भ। मालूम होता है, प्राचीनतम भारत में इन्हीं चार देशों में इसका विकास हुआ और अन्य देशों को इन्हीं के अन्तर्गत माना गया था। इन चारों में पूर्वदेश की वेशरचना या प्रवृत्ति का नाम औण्ड्र-मागधी, मध्यदेश की पाञ्चाल-मध्यमा, अवन्तिदेश की आवन्ती और विदर्भदेश की वैदर्भी या दाक्षिणात्या प्रवृत्ति है। इन चारों का वर्णन राजशेखर ने चार श्लोकों द्वारा किया है।

इसी प्रकार, इन चार देशों की विलासविन्यास-रचना या नृत्यकला का नाम वृत्ति है, जिसमें पूर्वदेश की वृत्ति भारती, पाञ्चाल की सात्वती, अवन्ति की आरभटी एवं सात्वती-कैशिकी और विदर्भ की कैशिकी है। ये चार प्रकार के नृत्य हैं, जिनमें अनेक

हाव-भाव आदि अन्तर्गत हैं। इनके लक्षण और विशेष स्वरूप का निरूपण भरत के नाट्यशास्त्र में मिलता है। यह दृश्यकाव्यों का विषय होने के कारण काव्यशास्त्र में अधिक विस्तार से नहीं वर्णित किया गया है।

इनके अतिरिक्त इन चार देशों की काव्यरचना-शैली तीन प्रकार की है, जिसे रीति कहा गया है। क्रमशः पूर्व देश की काव्यरचना-शैली का नाम गौडी है। पाञ्चाल की शैली का नाम पाञ्चाली और अवन्ति तथा विदर्भ की रचनाशैली का नाम वैदर्भी है।

इन रीतियों द्वारा क्रमशः काव्य-रचना का विकास हुआ है। गौडी रीति की रचना में अक्षरों का आडम्बर अधिक रहता है। उसमें लम्बे समासों और अनुप्रासों की अधिकता रहती है। इसीलिए, राजशेखर ने लिखा कि जब गौड देश में साहित्य-विद्यावधू ने उस देश के वेश को धारण करके, भारती वृत्ति के नृत्य और गौडी रीति की रचना से काव्यपुरुष को प्रसन्न करने की चेष्टा की, तब वह प्रसन्न नहीं हुआ। तात्पर्य यह कि गौडी रीति की रचना प्रसाद-गुणयुक्त नहीं होती। इसी से काव्य में प्रसादगुण नहीं आया।

पाञ्चाली रीति गौडी से उत्कृष्ट है। जहाँ गौडी शैली में अक्षरों और शब्दों का आडम्बर-मात्र रहता है, वहाँ पाञ्चाली में दोनों की समानता रहती है। कहा है—**शब्दार्थयोः समो गुम्फः पञ्चाली रीतिरुच्यते।** महाकवि बाणभट्ट के हर्षचरित में इस रीति का प्रचुर प्रयोग दीखता है। इसमें छोटे-छोटे समास, स्वल्प अनुप्रासयुक्त वाक्यों की रचना तथा वाच्यार्थ से लक्ष्यार्थ की प्रधानता रहती है। इसीलिए, राजशेखर लिखते हैं कि साहित्य-विद्यावधू की इस रचना से काव्यपुरुष कुछ प्रसन्न और आकृष्ट हुआ।

तीसरी सर्वोत्कृष्ट काव्यरचना-शैली का नाम वैदर्भी रीति है। लिखा है, वैदर्भी शैली की रचना बड़े ही भाग्य से प्राप्त होती है। इस शैली में कहीं-कहीं हल्की-फुल्की अनुप्रासच्छटा, छोटे-छोटे समासयुक्त या समासहीन प्रसन्न पद तथा व्यंग्यार्थ की प्रधानता रहती है। कालिदास, श्रीहर्ष आदि की अत्यधिक लोकप्रियता का कारण यही रीति है। इसी कारण राजशेखर ने काव्यपुरुष और साहित्य-विद्यावधू का विदर्भ देश के वत्स-गुल्म नामक प्रसिद्ध स्थान में पाणिग्रहण-संस्कार कराते हुए अपनी कल्पित कथा का सुन्दर उपसंहार किया है।

अन्त में, लेखक ने ब्रह्म और माया के समान इन दोनों के सम्यक् ज्ञान को केवल ऐहलौकिक सुख का साधन ही नहीं, पारलौकिक परमपुरुषार्थ—मोक्ष का साधन भी बताया है, जो दार्शनिकों का चरम और मुख्य ध्येय है।

साहित्य-विद्यावधू और काव्यपुरुष के संयोग की इस कल्पित कथा द्वारा काव्य की सृष्टि, उसका बाल्यकाल और यौवन-विकास बताते हुए राजशेखर ने काव्य की प्रामाणिकता, उपादेयता और आवश्यकता पर नवीन ढंग से रहस्यपूर्ण प्रकाश डाला है। इस प्रकार, ये तीन अध्याय, इस सम्पूर्ण शास्त्र की पूर्वपीठिका के रूप में, निर्मित किये गये हैं।

चतुर्थ अध्याय

यहाँ से कविरहस्य नामक प्रथम अधिकरण का प्रारम्भ होता है। शास्त्रीय परम्परा के अनुसार किसी शास्त्र के प्रारम्भ में सर्वप्रथम उसके विषय और उसके अनन्तर

शास्त्र के प्रयोजन का निर्देश किया जाता है, यतः उस ओर जनरुचि का आकर्षण हो। इसके अनन्तर तीसरा विषय अधिकारी का निरूपण करना है। अर्थात्, इस शास्त्र के अध्ययन का अधिकारी कौन है ? कविरहस्य के चतुर्थ अध्याय में सर्वप्रथम अधिकारी या काव्यविद्या के शिष्यों की मीमांसा की गई है।

शिष्यों की विवेचना करते हुए वे कहते हैं कि शिष्य तीन प्रकार के होते हैं। एक तो वे, जो पूर्वजन्म के संस्कारवश स्वभावतः बुद्धिमान् होते हैं। दूसरे वे, जो गुरूपदेश, शास्त्राभ्यास एवं परिश्रम द्वारा कवित्व-शक्ति प्राप्त करते हैं। उन्हें आहार्यबुद्धि शिष्य कहा जाता है और तीसरे, दुर्बुद्धि शिष्य, जिन्हें विरञ्चिसम गुरु के प्राप्त होने पर भी ज्ञान प्राप्त नहीं होता। इन्हें मन्त्र, तन्त्र या देवाराधन से कवित्व-शक्ति प्राप्त होती है।

इन तीनों में, तीसरे से दूसरा और दूसरे से प्रथम श्रेष्ठ है। यदि एक में ही तीनों गुण हों, अर्थात् स्वाभावतः बुद्धिमान् हो, गुरूपदेश, अभ्यास और श्रम करता हो तथा सरस्वती के मन्त्र, जप, अनुष्ठान, व्रत आदि द्वारा आराधक भी हो, तो फिर वह कवि ही नहीं, कविराज बन सकता है। राजशेखर में ये तीनों गुण थे। वे कहते हैं कि तीनों प्रकार के शिष्यों को योग्य शिक्षक से काव्य-रचना का अभ्यास करना अनिवार्य है— **अहरहःसुगुरूपासना प्रकृष्टो गुणः।**

काव्य-रचना या कवित्व के कारणों पर विचार करते हुए राजशेखर ने आचार्यों के मतों का उल्लेख किया है। अन्त में वे कहते हैं कि समाधि आभ्यन्तर प्रयत्न और अभ्यास वाह्य प्रयत्न है। किन्तु, कविता का मूल कारण शक्ति है, जो जन्मान्तरीय संस्कार-विशेष है। शक्ति से प्रतिभा उत्पन्न होती है और प्रतिभा काव्य की जननी है। इसके उदाहरण-स्वरूप वे कहते हैं कि जानकीहरण नामक प्रसिद्ध महाकाव्य के रचयिता कुमार-दास और अलंकारशास्त्र के आचार्य मेधावी रुद्र जन्मान्ध कवि थे। उन्होंने केवल प्रतिभा के प्रकर्ष से ही उत्कृष्ट रचना की है।

इस निर्णय के अनन्तर कवि और आलोचक के सम्बन्ध में गम्भीर विवेचन किया गया है। इसका कारण भी प्रतिभा है। प्रतिभा दो प्रकार की होती है। एक कारयित्री, जिसके द्वारा निर्माण या रचना की जाती है और दूसरी भावयित्री, जो काव्यों के गुणदोष का विवेचन करती है। कुछ व्यक्ति दोनों को एक ही मानते हैं; किन्तु राजशेखर महा-कवि कालिदास के मत का अनुसरण करते हुए समालोचक को कवि से भिन्न मानते हैं। सोने को उत्पन्न करनेवाला पत्थर, उसकी परीक्षा करनेवाले कसौटी-पत्थर से भिन्न होता है। यद्यपि दोनों पाषाण ही हैं।

समालोचकों के चार भेद बताये गये हैं—१. अरोचकी, २. सतृणाभ्यवहारी, ३. मत्सरी और ४. तत्त्वाभिनिवेशी। अरोचकी आलोचक वे हैं, जो अच्छी-से-अच्छी रचना पर भी नाक-भौं सिकोड़ा करते हैं। ये दो प्रकार के होते हैं। एक तो वे, जो स्वभावतः दूसरों की रचना में अरुचि रखते हैं। दूसरे वे, जो अरुचि का समुचित प्रदर्शन करते हैं और समुचित रचना की प्रशंसा भी करते हैं। ये दोनों क्रमशः मत्सरी और तत्त्वाभि-निवेशी भी कहे जाते हैं। कुछ आलोचक प्रतिभा-रहित और विवेक-विकल होते हैं।

उनमें गुणदोष-विवेचन की क्षमता नहीं होती। ऐसे आलोचक सतृणाभ्यवहारी कहे जाते हैं। मत्सरी के लिए तो उत्तमोत्तम रचना भी दूषित प्रतीत होती है। हाँ, ऐसे समालोचक विरले ही होते हैं, जो निष्पक्ष भाव से दूसरों की रचनाओं पर विचार प्रकट करते हैं। ऐसे आलोचक तत्त्वाभिनिवेशी कहे जाते हैं।

आलोचना का महत्त्व वर्णित करते हुए राजशेखर ने लिखा है कि यों तो घर-घर काव्य की अनेक हस्तलिखित प्रतियाँ पड़ी हैं; किन्तु वास्तव में काव्य वही है, जो आलोचकों के हृदयपट पर अंकित हो। ऐसे काव्य, संसार में दो-तीन ही होंगे। अन्त में वे लिखते हैं कि जो कवि, अपनी और पराई कविता के पदों के तारतम्य को भली भाँति समझता है, वह कुकवि हो या सुकवि, आदरणीय है।

पंचम अध्याय

पंचम अध्याय में प्रतिभा और व्युत्पत्ति की सूक्ष्म मीमांसा की गई है। प्रतिभा के समान व्युत्पत्ति भी काव्य की जननी मानी गई है। प्राचीन आचार्यों के मत में व्युत्पत्ति का अर्थ बहुज्ञता या विस्तृत ज्ञान है। राजशेखर के मत में व्युत्पत्ति का अर्थ बहुज्ञता नहीं, औचित्य की परख है। प्रतिभा और व्युत्पत्ति इन दोनों में श्रेष्ठ कौन है? इस विषय पर विचार करते हुए कहा गया है कि आचार्य आनन्दवर्द्धन व्युत्पत्ति को श्रेष्ठ और प्रतिभा को गौण मानते हैं। आचार्य मंगल के मत में प्रतिभा मुख्य और व्युत्पत्ति गौण है। राजशेखर ने दोनों को समानरूपेण आवश्यक माना है। वे कहते हैं—जैसे, सौन्दर्य के लिए रूप और लावण्य ये दोनों समान रूप से आवश्यक हैं, वैसे काव्य-सौन्दर्य में प्रतिभा और व्युत्पत्ति दोनों ही समानरूपेण कारण हैं।

आगे चलकर तीन प्रकार के कवि बताये गये हैं—शास्त्रकवि, काव्यकवि और उभयकवि। इनमें श्रेष्ठता का विवेचन करते हुए कहा गया है कि अपने-अपने विषय में पहले दोनों श्रेष्ठ हैं, किन्तु उभयकवि दोनों में श्रेष्ठ हैं। शास्त्रकवि, काव्य में रस-सम्पत्ति की वृद्धि करता है, तो काव्यकवि, तर्क-कर्कश अर्थों को मृदु-मनोहर बना देता है और उभय-कवि में दोनों गुण होते हैं।

शास्त्रकवि तीन प्रकार के होते हैं और काव्यकवि आठ प्रकार के। जैसे—१. रचनाकवि, २. शब्दकवि, ३. अर्थकवि, ४. अलंकारकवि, ५. उक्तिकवि, ६. रसकवि, ७. मार्गकवि और ८. शास्त्रार्थकवि। इनका विषय नाम से ही प्रतिभासित होता है। उसके अतिरिक्त पूर्ववर्णित बुद्धिमान्, आहार्यबुद्धि और औपदेशिक कवियों की दस अवस्थाएँ कही गई हैं। इनमें प्रथम दो की सात अवस्थाएँ हैं और औपदेशिक कवि की तीन। प्रथम दो कवियों की क्रमशः सात अवस्थाएँ ये हैं—१. काव्यविद्या-स्नातक, २. हृदयकवि, ३. अन्यापदेशी, ६. सेविता, ५ घटमान, ६. महाकवि और ७. कविराज। तीसरे औपदेशिक कवि की तीन अवस्थाएँ होती हैं—१. आवेशिक, २. अविच्छेदी और ३. संक्रामयिता। कवियों की इन दस अवस्थाओं के लक्षण और विवेचन करने में राजशेखर ने सर्वथा नवीन विषय का अन्वेषण किया है, जो विद्वानों और कवियों के लिए मननीय है।

इस अध्याय का अन्तिम प्रकरण पाकप्रकरण है। प्राचीन आलंकारिक विद्वान् भामह और वामन ने पाक-विषयक विवेचना की है। किन्तु, राजशेखर ने अधिक विस्तार के साथ इसके सूक्ष्म भेद प्रदर्शित किये हैं। पाक के सम्बन्ध में मीमांसा करते हुए अनेक आचार्यों के मतों की समीक्षा की गई है। अन्त में इसे एक अनिर्वचनीय शब्द-रचना माना गया है। राजशेखर ने नौ प्रकार के पाक माने हैं। जिनमें मृद्वीका, सहकार और नारिकेलपाक उत्तम; बदर, तिन्तिडीक और त्रपुसपाक मध्यम एवं पिचुमन्द, वार्त्ताक तथा क्रमुकपाक अधम हैं।

षष्ठ अध्याय

षष्ठ अध्याय में पदों और वाक्यों की व्याख्या, उनके लक्षण और उदाहरण दिये गये हैं। स्थूल रूप से पद के पाँच और वाक्य के दस भेद बताये गये हैं। वाक्य के व्यापार-अभिधा के तीन भेद कहे गये हैं।

इन भेदों के उदाहरणों का संग्रह करने में राजशेखर ने अद्भुत गवेषण किया है। काव्य का लक्षण करते हुए उन्होंने गुण और अलंकारयुक्त वाक्य को काव्य माना है। यह भामह आदि प्राचीन आचार्यों के मतानुसार ही है। इस विषय पर विस्तृत विवेचन सम्भवतः उन्होंने किसी अगले अधिकरण में अवश्य किया होगा।

इसके अतिरिक्त इस अध्याय का अन्तिम और महत्त्वपूर्ण प्रकरण काव्य की उपादेयता और अनुपादेयता-विषयक है। काव्यविद्या के सम्बन्ध में तीन आक्षेप हैं, जिनके कारण कुछ विद्वान्, उसे पठन-पाठन के अनुपयुक्त एवं समाज के लिए अग्राह्य समझते हैं। पहली बात तो यह कि काव्य, असत्य या अतिशयोक्तिपूर्ण होते हैं। कवियों के वर्णन स्पष्टतः असम्भव और झूठे मालूम होते हैं। दूसरे, काव्यों के प्रायः शृङ्गार-रस प्रधान होने से एवं उनमें वेश्या आदि का चरित्र-वर्णन होने से वे असत् विषयों के उपदेशक हैं। तीसरे, इसमें अनेक असभ्य या अश्लील विषयों के वर्णन आते हैं।

राजशेखर ने इन तीनों आक्षेपों का युक्ति और तर्कपूर्ण उत्तर देते हुए एवं इन विषयों की वर्णन-परम्परा वेदों और शास्त्रों में प्रदर्शित करते हुए यह सिद्ध किया है कि ऐसे विषय कहीं अर्थवाद-रूप में, कहीं व्यावहारिक शिक्षा के रूप में और कहीं वस्तुस्थिति का स्पष्टीकरण करने के लिए वेदों, शास्त्रों और पुराणों में भी पाये जाते हैं। काव्य में इनका समावेश नवीन नहीं है। अतः, काव्यविद्या, अन्य विद्याओं के समान ग्राह्य और उपादेय है।

सप्तम अध्याय

सातवें अध्याय में ब्राह्म, शैव और वैष्णव इत्यादि तीन प्रकार के वाक्य कहे गये हैं। वायुपुराण और ब्रह्मवैवर्त्तपुराण के आधार पर ब्राह्म वचन पाँच प्रकार के होते हैं। जैसे—स्वायम्भुव, ऐश्वर, आर्ष, आर्षीक और आर्षिपुत्रक। इनका विस्तृत स्वरूप और लक्षण वायुपुराण के ५९वें अध्याय में दिया गया है। स्वयम्भू, ब्रह्मा का नाम है और

उनके वचन स्वायम्भुव वचन हैं। ब्रह्मा के भृगु अंगिरा आदि मानसपुत्र ईश्वर कहे जाते हैं, अतः उनके वचन ऐश्वर कहे जाते हैं। भृगु, अंगिरा आदि ईश्वरों के योनिजपुत्र ऋषि कहे जाते हैं, उनके वचन आर्ष हैं। इन ऋषियों के पुत्र ऋषीक कहे जाते हैं, उनके वचन आर्षीक और उनके पुत्रों के वचन आर्षिपुत्रक होते हैं।

इसके अनन्तर देवताओं और देवजातियों की भाषाओं का विवेचन किया गया है। साहित्य-संसार में यह नवीन विषय है और यह पौराणिक आधार पर किया गया है। विष्णुधर्मोत्तरपुराण में उसका वर्णन आता है। इस विषय की चर्चा का कारण यह बताया गया कि है कवियों को समय-समय पर दिव्यपात्रों के वार्तालाप प्रसंग में इनकी आवश्यकता पड़ती है। साहित्य-जगत् में इस महत्त्वपूर्ण विषय की गवेषणा का श्रेय राजशेखर को ही है।

इसके अनन्तर इस अध्याय का दूसरा प्रकरण काकु-सम्बन्धी है। काकु, एक प्रकार का उच्चारण-भेद है। रुद्रट ने 'काकुवक्रोक्ति' नामक एक अलंकार माना है। राजशेखर ने इसका खण्डन किया है। उनके मत में यह एक पाठभेद-मात्र है। भामह, आनन्द आदि प्राचीन आचार्यों ने इसे मध्यम श्रेणी का काव्य माना है। राजशेखर ने इसकी विस्तृत मीमांसा की है। यह एक ध्वनिविशेष है। प्राचीन आचार्यों ने इसके दो भेद माने हैं—साकांक्ष और निराकांक्ष। राजशेखर ने अभ्युपगमानुनय और अभ्यनुज्ञा-पहास नामक दो और भी काकु-भेद माने हैं। वे कहते हैं कि शास्त्रों में काकु का साम्राज्य तो है ही, किन्तु काव्य का यह जीवन है। आंगिक और सात्त्विक अभिनय द्वारा भी इसकी अभिव्यक्ति की जाती है। कविता-पाठ करने के समय कवि को इसे ऐसे स्पष्ट रूप से स्वर द्वारा अभिव्यक्त करना चाहिए कि अर्थ-प्रतीति के साथ काव्य का सौन्दर्य भी प्रतीत हो।

काकु-प्रकरण के बाद राजशेखर ने काव्यपाठ-प्रकरण दिया है। मालूम होता है, उस समय राजदरबारों में तथा स्वतन्त्र रूप से काव्यगोष्ठियाँ और कवि-सम्मेलन हुआ करते थे एवं सुन्दर, सुस्वर काव्यपाठ का महत्त्व अत्यधिक था। वे कहते हैं—'कवि, काव्य-रचना तो अच्छी-से-अच्छी कर लेते हैं, किन्तु, उसे पढ़ना सब नहीं जानते। गले का सुरीलापन और काव्य पढ़ने का ढंग अनेक जन्म के संस्कारों से किसी-किसी कवि को ही प्राप्त होता है। सरस्वती के लाडले विरले ही कवि, सुललित और हृदयग्राही काव्यपाठ करना जानते हैं।' इसके अतिरिक्त कविता पढ़ने के नियम भी अत्यन्त सूक्ष्म विवेचना के साथ बताये गये हैं। मालूम होता है, राजशेखर काव्य-पाठ में भी परम प्रवीण थे।

इससे भी आगे बढ़कर राजशेखर ने भिन्न-भिन्न देशों के कवियों की पाठ-प्रणाली का अतिशय मार्मिक विवेचन किया है। राजदरबार तथा कविगोष्ठियों में उन्हें भिन्न-भिन्न देश के कवियों का समागम और उनके पाठ सुनने का अवसर मिलता रहा है। यह पाठ-मीमांसा राजशेखर की अनोखी सूझ है, जिसपर किसी आलोचक का ध्यान आकृष्ट नहीं हुआ था।

इस आलोचना में बंगाल के कवियों के प्राकृत-पाठ और कश्मीरी कवियों के संस्कृत-काव्यपाठ की आलोचना अत्यन्त विनोदपूर्ण ढंग से की गई है। वे कहते हैं कि वाणी सरस्वती ने ब्रह्मा से जाकर कहा कि 'महाराज! या तो आप मेरा त्यागपत्र लेकर मेरे स्थान पर दूसरी सरस्वती की नियुक्ति कीजिए या यह आज्ञा दीजिए कि गौड-देशवासी (बंगाली) प्राकृत-भाषा का उच्चारण न करें।'

कारण यह कि गौड या वंगदेश के निवासी शुद्ध संस्कृत का ही ऐसा उच्चारण करते हैं कि वह प्राकृत के समान मालूम होती है। यदि प्राकृत-गाथाओं का पाठ करने लगें, तो न जाने क्या हो जाय! अर्थात्, वंगदेशीय कवि प्राकृत-भाषा की रचना तो कर सकते हैं; किन्तु, उसका उच्चारण अति भयानक रूप में करते हैं।

दूसरे, कश्मीरी कवियों के लिए वे कहते हैं कि शारदा की कृपा से कश्मीरी कवि उत्कृष्ट काव्य-रचना करते हैं; किन्तु जब पढ़ते हैं, तब ऐसा मालूम होता है कि मानों कानों में गुरुच के रस का कुल्ला कर रहे हैं। अर्थात्, उनका उच्चारण अत्यन्त कर्ण-कटु होता है।

उसी प्रकार द्रविड, लाट, पंजाबी, पहाड़ी आदि देशों के कवियों के पाठ की आलोचना करते हुए उन्होंने पांचाल या मध्यदेश के कवियों के काव्यपाठ को सर्वोत्तम माना है। आज भी वास्तव में इसी देश के कवियों का पाठ सुन्दर होता है। यह प्रायः दिल्ली से प्रयाग तक का देश है। राजशेखर ने इस देश की, विशेषतः कन्नौज की स्त्रियों की, वेश-भूषा को भी सर्वोत्तम माना है। वे निष्पक्ष और खरे समालोचक थे। महाराष्ट्र होते हुए भी उन्होंने वास्तविक गुणग्राहकता का परिचय दिया है।

चतुर्थ से सप्तम अध्याय तक पदकाव्य-विवेक मुख्य रूप से मीमांसा का विषय रहा है और उसके अनेक आवश्यक अवान्तर विषयों की मीमांसा की गई है। अष्टम और नवम अध्यायों में अर्थविषयक मीमांसा की जायगी।

अष्टम अध्याय

अष्टम अध्याय में सर्वप्रथम काव्यार्थ के स्रोत बताये गये हैं और उनके उदाहरण प्रदर्शित किये गये हैं। तात्पर्य यह कि कवि को वर्णनीय विषय कहाँ से किस प्रकार लेने चाहिए, इसे बताते हुए राजशेखर ने मुख्य रूप से श्रुति, स्मृति, इतिहास, दर्शन, अर्थशास्त्र, धनुर्वेद, कामशास्त्र आदि बारह स्रोत और उसमें भी अनेक अवान्तर स्रोत बताये हैं। इसपर विस्तृत मीमांसा करते हुए चार नवीन स्रोतों की कल्पना भी की गई है। इस अध्याय का तात्पर्य कवि के लिए अधिक-से-अधिक सामान्य ज्ञान प्राप्त करना है। अर्थात्, कवि को अनेक शास्त्रों, व्यवहारों, कलाओं तथा देश-काल आदि का व्यापक ज्ञान अपेक्षित है। इसके बिना रचना के समय वह कुण्ठित हो जायगा। अतः, उदाहरणों के साथ इस विषय की विस्तृत विवेचना की गई है।

नवम अध्याय

नवम अध्याय में अनेक विषयों की सूक्ष्म आलोचना करते हुए अर्थ की व्यापकता और उसके अवान्तर सूक्ष्मतम विषयों की दार्शनिक एवं वैज्ञानिक मीमांसा की गई है।

प्राचीन आचार्यों के मतानुसार कवि के वर्णनीय अर्थ या विषय तीन होते हैं—स्वर्गीय, मर्त्यगत और स्वर्ग-मर्त्यगत। राजशेखर ने इन तीनों के साथ चार अन्य विषय और सम्बद्ध करके सात कर दिये हैं। जैसे—पातालीय, मर्त्य-पातालीय, दिव्य-पातालीय और दिव्य-मर्त्य-पातालीय। इनका उदाहरणों के साथ स्पष्टीकरण करते हुए इस नवीन विषय का सोदाहरण उल्लेख किया है।

आगे चलकर वे कहते हैं कि विषय असीम हैं और अर्थ अनन्त हैं। उनका विवेचन करना सम्भव नहीं है। अतः, हम उन्हें मुख्यतः दो भागों में विभक्त कर सकते हैं—विचारित सुस्थ और अविचारित रमणीय। शास्त्रों में प्रतिपादित अर्थ या विषय विचारित सुस्थ हैं और काव्यों के विषय अविचारित रमणीय हैं।

शास्त्रों में जिन विषयों का वर्णन किया गया है, वे विचार करने में वास्तविक एवं सुस्थिर होते हैं। उनपर जैसे-जैसे सूक्ष्म-सूक्ष्मतर विचार किये जायेंगे, वैसे-वैसे इनकी वास्तविकता एवं स्थिरता बढ़ती जायगी। ऐसे विषय विचारित सुस्थ कहे जाते हैं। जैसे—दार्शनिक, वैदिक या गणित आदि के विषय। उनपर जितना विचार किया जायगा; वे वास्तविक और स्थिर प्रतीत होंगे। दूसरे अविचारित रमणीय विषय वे हैं, जो केवल सुनने मात्र में सुन्दर और हृदयाकर्षक लगते हैं; किन्तु जब उनकी वास्तविकता पर विचार किया जाता है, तब वे सर्वदा असत्य और कल्पित प्रतीत होते हैं। काव्यों में प्रतिपादित विषय प्रायः ऐसे ही होते हैं। जैसे—'तलवार के समान श्यामवर्ण के आकाश में उड़ते हुए हनुमान् ने अपने पीतवर्ण बालों की कान्ति से आकाश को पीला बना दिया।'

यहाँ पहले तो चमचमाती हुई तलवार का श्याम होना ही असत्य है, केवल कवियों का एक नियम (समय)-मात्र है। फिर, अ-मूर्त्त एवं नी-रूप आकाश में रूप की कल्पना भी असम्भव और कल्पित है। इसपर भी हनुमान्‌जी के श्यामवर्ण का पीले रंग में परिवर्त्तित होना और भी अद्भुत बात है। इस प्रकार, विचार करने पर ये सारी बातें असम्भव हैं; किन्तु वाक्य सुनते ही कवि की कल्पना या उड़ान सुन्दर और आकर्षक मालूम होती है। कवि के इस वाक्य में प्रसादगुण और तद्गुण नामक अलंकार भी है। इसी प्रकार कवियों के वाक्य बिना विचारे ही रमणीय लगने के कारण अविचारित रमणीय कहे जाते हैं। वास्तविक विचार से वे कल्पित और अस्थिर हैं।

राजशेखर कहते हैं कि काव्यों में ऐसी बातें वास्तविक स्वरूप-वर्णन की दृष्टि से नहीं कही जातीं। यह प्रतिभास-मात्र है। सूर्य या चन्द्र का बिम्ब न जाने कितने हजार या लाख मीलों के विस्तार में है; किन्तु हम उसे एक हाथ या बारह अंगुल का समझते हैं और उसी प्रकार वर्णन और व्यवहार भी करते हैं। इससे वस्तु स्थिति में अन्तर नहीं आता। जैसे, वेदान्त-सिद्धान्त के अनुसार सारा संसार ब्रह्म में इस प्रकार भासित हो रहा है, जैसे

रज्जु में सर्प, सीप में चाँदी या मृग-मरीचिका में जल का भ्रम होता है। वास्तव में, वह भ्रम ही है। प्रतिभास में कल्पित आनन्द का भास होता है। कवियों का वर्णनीय विषय वही है।

काव्य-रचना में सरसता या नीरसता कवि के शब्दों द्वारा होती है, अर्थ के कारण नहीं। कैसा ही कठोर और नीरस अर्थ (विषय) क्यों न हो; कवि अपनी अलौकिक शक्ति द्वारा उसे सरस, कोमल और कमनीय बना देता है। पर्वत, जंगल, समुद्र, नदी, हाथी, घोड़े, रथ आदि अत्यन्त कठोर, भयानक और नीरस अर्थों को, कवि शब्दों द्वारा सरस, सुन्दर एवं रमणीय बना देते हैं। विषय का स्वरूप कैसा ही क्यों न हो? कवि यदि सरस हो, तो उसे सरस बना देता है, नीरस हो, तो नीरस। राजशेखर ने इस विषय की हृदयंगम उदाहरणों द्वारा मीमांसा की है। इस विषय में अवन्तिसुन्दरी और जैन विद्वान् पाल्यकीर्त्ति के मतों की भी मीमांसा की गई है कि किसी भी वस्तु का स्वभाव नियत नहीं है। उसकी स्थिति वक्ता की स्थिति पर निर्भर है।

इसके अनन्तर मुक्तक और प्रवन्ध-भेद से दो प्रकार के काव्यार्थ कहे गये हैं। इन दोनों के पाँच-पाँच भेद बताते हुए राजशेखर ने भवभूति, अमरुक एवं कालिदास की रचनाओं से महत्त्वपूर्ण उद्धरण दिये हैं।

अन्त में, यह कहा गया है कि यह विवेचन संस्कृत-काव्यों को लक्ष्य करके किया गया है; किन्तु प्राकृत, अपभ्रंश, पैशाची आदि सभी काव्य-भाषाओं के काव्य समान रूप से इसके लक्ष्य हैं। जो कवि जितनी ही भाषाओं में प्रवीण होता है, वह उतना ही यशस्वी होता है।

इस प्रकार ४ से ६ अध्यायों तक पद, वाक्य एवं अर्थ तथा उनके इन अवान्तर विषयों की समीक्षा की गई है, जो काव्यविद्या-स्नातकों के लिए अवश्य ज्ञातव्य हैं।

दशम अध्याय

दशम अध्याय में कविचर्या और राजचर्या का विषय अभूतपूर्व और कवियों के लिए मननीय एवं उपादेय है। इसके अध्ययन से तत्कालीन कवियों एवं काव्यों के सम्बन्ध में ऐतिहासिक दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण प्रकाश मिलता है। कवियों के रहन-सहन और दैनिक व्यहार के सम्बन्ध में छोटी-छोटी बातों तक का उल्लेख किया गया है, जो अतिशय आकर्षक है।

कवियों के रहन-सहन तथा दिनचर्या आदि के विषयों पर विचार करते हुए ऐसा प्रतीत होता है कि राजशेखर के समय राज्यों में तथा समाज में कवियों का अच्छा सन्मान था। समाज में काव्यचर्चा अत्यधिक थी। साधारण जनता भी काव्यप्रेमी थी। इसका कारण राजाओं का काव्यप्रेम था। 'यथा राजा तथा प्रजा' के नियमानुसार यह समय काव्यमय था। कविता की अनेक भाषाएँ थीं, जिनमें संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और पैशाची भाषाएँ प्रधान थीं। साधु, सन्त, उपदेशक आदि भी कविता के द्वारा उपदेश

एवं प्रचार करते थे। उनकी रचनाएँ बालक, वृद्ध, स्त्री एवं हीन जाति के ग्रामीण पुरुषों में शीघ्र-से-शीघ्र मौखिक रूप में प्रचारित हो जाती थीं।

कवि के रहन-सहन और आचरण-व्यवहरण के सम्बन्ध में राजशेखर ने जो लिखा है, उससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि राजकवि ऐश्वर्य-सम्पन्न थे, ठाट-बाट से रहते थे और उनका जीवन उच्च स्तर का था। अन्य कवि भी प्रायः ऐसे ही थे। वे राजाओं द्वारा पुरस्कृत और सम्मानित होते थे। कविगण अपने आश्रयदाता राजा तथा जनता की अभिरुचि को देखते हुए उन्हीं के अनुसार और अनुकूल भाषा और विषयों में रचना करते थे। राजकवियों के निवासस्थान, बाग-बगीचों, फव्वारों, सुन्दर सरोवरों वापियों आदि से शोभित रहते थे। उनमें विविध प्रकार के पशु-पक्षी, कृत्रिम पर्वत, विविध पुष्पवृक्ष एवं लता-मण्डप आदि रहते थे। वे पान, इत्र, सुगन्धित पुष्प आदि का सेवन करते तथा स्वच्छ एवं समयानुकूल बहुमूल्य वस्त्र धारण करते थे। कवि के लिए गम्भीर प्रकृति का होना, विविध देश-विदेश के समाचारों का जानना एवं सभी ओर से रहस्यों तथा तत्त्वों का अन्वेषण करना आवश्यक था। कवि के लिए निश्चिन्तता, एकान्तप्रियता तथा एकाग्रता आवश्यक है। उसे प्रतिदिन नवीन विषयों का अध्ययन करके अपने साधारण ज्ञान की अभिवृद्धि करते रहना चाहिए। प्रतिदिन मित्र-गोष्ठियों में काव्यचर्चा करना और उसके विविध अंगों पर अभ्यास बढ़ाना आवश्यक है।

तत्कालीन कवियों की लेखन-सामग्री का वर्णन भी बहुत सुन्दर है। कागज-पेन्सिल के आविष्कार के अभाव में कवियों के लेखनागार या अध्ययनकक्ष की दीवारों पर सुन्दर पॉलिस रहा करती थी और एक डब्बे में खड़िया की लम्बी शलाकाएँ रखी रहती थीं। उसी के द्वारा कवि, दीवारों पर कविता को लिख लिया करते थे। वे आलपिन के समान पतली लोह-कीलों से नत्थी किये ताड़ के मुलायम पत्तों पर लिखा करते थे। जब विचार-विमर्श के अनन्तर रचना शुद्ध हो जाती थी, तब उनके शिष्य या शिष्याएँ उन्हें अन्तिम रूप से ताड़पत्रों पर सुन्दर अक्षरों में लिखा करते थे। उनके ये शिष्य, अत्यन्त विनयी, मधुरभाषी, सुन्दर अक्षर-लेखक, विद्वान् और स्वयं सुन्दर होते थे। राजाओं और रसिक एवं धनिक कवियों के यहाँ इस कार्य के लिए शिक्षित महिलाओं का भी प्रयोग किया जाता था। यदि राजा स्वयं कवि होते थे, तो उनके यहाँ प्रायः स्त्री-लेखिकाएँ ही रहा करती थीं।

काव्य के इस अत्यधिक प्रचार के समय में काव्यापहरण या कविताओं की चोरी भी प्रचुर मात्रा में होती थी। किसी प्राचीन या अप्रसिद्ध कवि की रचना को अपने नाम से प्रसिद्ध कर देना या किसी रचना में कुछ हेरफेर करके उसे अपने नाम से प्रसिद्ध करा देना, किसी की अप्रकाशित रचना को उससे एकान्त में सुनकर या चुराकर उसके पहले ही अपने नाम से घोषित कर देना, किसी निर्धन कवि को धन देकर उसकी रचना को खरीद लेना और उसे अपनी रचना के रूप में प्रसिद्ध करना तथा दूर देश के निवासी कवि की रचना को अपने देश में अपनी घोषित करना आदि बातें उस समय प्रचुर मात्रा में प्रचलित थीं। इस सम्बन्ध में राजशेखर ने कवियों को बराबर सावधान करते हुए ऐसे

व्यक्तियों की तीव्र भर्त्सना की है। इस अपहरण-क्रिया से उन्हें अत्यधिक चिढ़ थी। इस सम्बन्ध में उन्होंने गम्भीर अनुसन्धान किया था। अगले तीन अध्यायों में इसकी सूक्ष्मतम विवेचना की है। ऐसे उदाहरणों के अन्वेषण और उनके स्मरण रखने में उन्होंने अद्भुत कौशल का परिचय दिया है।

काव्य-रचनाओं के प्रचार के सम्बन्ध में उनके लेखों से मालूम होता है कि बड़े-बड़े राजाओं के यहाँ विद्वानों की रचनाओं और ग्रन्थों की परीक्षाएँ होती थी। इस अवसर पर दूर देशों के विद्वान् उनमें सम्मिलित होते थे। रचनाओं पर पुरस्कार दिये जाते थे और उनके लेखकों का सम्मान होता था। उनकी रचनाएँ भिन्न-भिन्न देशों के विद्वानों द्वारा चारों ओर फैल जाती थीं। सम्भव है, उस समय ऐसे व्यवसायी लेखक होते थे, जो पुरस्कृत रचनाओं की तुरन्त प्रतिलिपियाँ कर देते थे और वे विद्वानों द्वारा दूर-दूर तक ले जाई जाती थीं। तभी तो कश्मीर की रचनाएँ कन्नौज तक और कन्नौज की रचनाएँ कश्मीर तक कुछ ही दशकों में फैल जाती थीं। मुक्तक रचनाएँ या किन्हीं विशेष धार्मिक अवसरों पर पढ़ी गई रचनाएँ जनता के मौखिक प्रचार द्वारा दूर-दूर तक फैल जाती थीं।

इसी प्रसंग में उन्होंने प्राचीन समय में होनेवाली उन राजसभाओं का वर्णन भी किया है, जो उज्जयिनी और पाटलिपुत्र में काव्यों और शास्त्रों की परीक्षाओं के लिए होती थीं। उनमें पुरस्कृत विद्वानों को ब्रह्मपट्ट दिये जाते थे और उन्हें ब्रह्मरथ में बैठाकर नगर में समारोह के साथ घुमाया जाता था। इस प्रकार देश-विदेशों के विद्वानों का परस्पर परिचय और विचार-विनिमय होता था। ऐसी विद्वत्परीक्षाओं का लघु स्वरूप अभी कुछ दिन पूर्व बड़ौदा, इन्दौर एवं मिथिला आदि में प्रचलित था। राजशेखर के पूर्व और उनके समय इसकी प्रचुरता थी। राजशेखर ने कालिदास, भारवि, मेण्ठ आदि कवियों एवं पाणिनि, पतंजलि आदि शास्त्रकारों की ऐसी परीक्षाओं के द्वारा प्रसिद्धि प्राप्त करने की बातें लिखी हैं, जो तत्कालीन प्रचार का साधन थीं।

इसके अतिरिक्त ऐसे अनेक राजाओं और राजसभाओं का भी उल्लेख किया है, जो स्वयं संस्कृत आदि काव्य-भाषाओं के विद्वान्, कवि एवं गुणग्राही या पारखी थे।

इन सब विषयों के कारण यह अध्याय अत्यन्त उपादेय और अपूर्व है। कवियों के लिए पर्याप्त जानकारी की बातें इसमें उल्लिखित हैं। कवियों के सम्बन्ध की अनेक बातें इस समय से मिलती-जुलती हैं। अतः, आधुनिक कवियों के लिए इसमें महत्त्वपूर्ण सामग्री और मनोरंजन प्राप्त हो सकते हैं।

दशम अध्याय के अन्त में राजाओं के कवि-दरबार का अनोखा वर्णन है। इसमें भिन्न-भिन्न भाषाओं के कवियों और कलाकारों के लिए बैठने का क्रम निर्दिष्ट किया गया है वह पठनीय है। राजाओं की चर्या और उनके यहाँ होनेवाले गुणीजनों के सम्मान आदि का वर्णन, तत्कालीन परिस्थिति का सजीव चित्र उपस्थित करता है। यह अध्याय अनेक महत्त्वपूर्ण विषयों से अत्यन्त उपादेय हो गया है।

एकादश अध्याय

एकादश अध्याय से लेकर अगले तीन अध्यायों में अपहरण-सम्बन्धी सूक्ष्म मीमांसा की गई है। एकादश अध्याय में शब्दहरण-सम्बन्धी विचार हैं।

शब्द का अपहरण किस-किस स्थिति में कैसे किया जाता है ? किस प्रकार का शब्दहरण क्षम्य और उचित है और कौन-सा अक्षम्य और अनुचित ? इन बातों पर गम्भीर और वैज्ञानिक मीमांसा, वास्तव में राजशेखर की मार्मिक एवं तलस्पर्शिनी प्रतिभा का परिचय देती है।

शब्दहरण पाँच प्रकार के हैं— १. पदहरण, २. पादहरण, ३. अर्धहरण ४. वृत्तहरण और ५. प्रबन्धहरण।

प्राचीन आचार्य, एक-दो पदों के हरण को हरण नहीं मानते; किन्तु राजशेखर के मत में केवल दो अर्थवाले पद का हरण दोष नहीं है। अर्थात्, श्लिष्ट पद का अपहरण उचित है। राजशेखर ने लिखा है कि उद्धरण के रूप में किसी प्राचीन कवि का पद या पादहरण करना हरण नहीं, प्रत्युत स्वीकरण है। यहाँतक कि प्राचीन कवित्व के तीन पादों का हरण करके भी चतुर्थ पाद में उन्हें भिन्न अर्थ में संगत कर देना हरण नहीं, प्रत्युत कवित्व है।

इसी प्रकार, शब्दहरण के गुणदोषों की परीक्षा करते हुए राजशेखर कहते हैं कि मूल्य देकर किसी की कविता को खरीदकर अपने नाम से प्रसिद्ध करना भी गर्हित अपहरण है। यश की प्राप्ति न हो, यह सह्य है; किन्तु दुर्यश या अयश होना सह्य नहीं है। किसी कवि की उक्तियों को यदि अर्थान्तर में परिणत कर किया जाय, तो उसका पता भी नहीं चलता और उसमें माधुर्य भी अधिक उत्पन्न होता है। अन्त में वे कहते हैं कि कवि और बनिया चोरी के विना नहीं रह सकते। वह चोर-कवि अच्छा है, जो चोरी को विना निन्दा कराये छिपा सके।

अन्त में चार प्रकार के कवि कहे गये हैं—एक उत्पादक, जो मौलिक सूक्त और नवीन अर्थ का प्रतिपादन करते हैं। दूसरे, परिवर्त्तक कवि, जो अपने प्राचीन कवियों की उन मौलिक सूक्तों को कौशल के साथ परिवर्त्तित कर देते हैं। तीसरे, आच्छादक कवि, जो दूसरों की नवीन कल्पनाओं को छिपाने का यत्न करते हैं और चौथे, संवर्गक कवि, जो अनेक काव्यों की कल्पनाओं के आधार पर ही रचना करते हैं।

महाकवि वह है, जो कुछ नवीन कल्पनाओं की सृष्टि करे और कुछ प्राचीन कल्पनाओं में नवीनता का पुट देकर उन्हें अधिक चमत्कारी बना सके।

द्वादश अध्याय

द्वादश अध्याय में अर्थहरण-सम्बन्धी मीमांसा है। यह मीमांसा अत्यन्त गम्भीर और महत्त्वपूर्ण है। इनके उदाहरण भी अत्यन्त गम्भीर गवेषणा के फल हैं। इससे यह प्रतीत होता है कि राजशेखर का अध्ययन कितना व्यापक एवं गम्भीर था और आर्यावर्त्त के

महाराज महेन्द्रपाल का आश्रय प्राप्त होने के कारण उन्हें वे सभी समुचित साधन प्राप्त थे, जो ऐसे मीमांसक के लिए आवश्यक थे।

'अनेक शताब्दियों से महाकवियों द्वारा असंख्य काव्य-रचनाओं के कारण प्रायः नवीन कल्पनाओं का अभाव-सा हो गया, अतः कवियों में अपहरण की प्रवृत्ति प्रचुर रूप से प्रचलित हुई।' प्राचीन विद्वानों के इस मत का खण्डन करते हुए उन्होंने वाक्पतिराज का मत उद्धृत किया है कि 'प्राचीन कवियों द्वारा अनन्त कल्पनाओं का उल्लेख होने पर भी भारती के कल्पना-भाण्डार में अभी अनेक अमूल्य और असंख्य कल्पना-रत्न भरे पड़े हैं; जो कभी समाप्त नहीं हो सकते।'

इसके अनन्तर 'कुछ अपहरण उचित होते हैं और कुछ अनुचित'। इस विषय का मार्मिक विवेचन करते हुए राजशेखर ने विद्वत्तापूर्ण वैज्ञानिक गवेषणा द्वारा अपहरणों की एक सुन्दर व्यवस्था की है। बत्तीस प्रकार के अपहरणों का उल्लेख करते हुए इनके लक्षण, स्वरूप और उदाहरणों का प्रदर्शन किया है। पता नहीं, ये भेद प्राचीन आचार्यों द्वारा प्रदर्शित थे या राजशेखर के स्वयं आविष्कृत हैं।

अर्थहरण के सम्बन्ध में अनेक मतों का उद्धरण करते हुए वे कहते हैं कि 'सिद्ध-सारस्वत कवियों के अलौकिक ज्ञानमय चक्षु, वाणी और मन के द्वारा अगम्य, अस्पृष्ट, दृष्ट और अदृष्ट विषयों को भी समाधि के द्वारा जान लेते हैं। महाकवि को सुषुप्ति की अवस्था में भी सरस्वती की कृपा से जिन शब्दों और अर्थों का प्रतिभास होता है, उसे जाग्रत् अवस्था में भी साधारण कवि नहीं जान सकते। महाकवि दूसरों की उच्छिष्ट कल्पना को देखने के लिए जन्मान्ध होते हैं। अभिनव कल्पना या सूझ के लिए वे दिव्यदृष्टि-सम्पन्न होते हैं। तीन नेत्रोंवाले शिव और सहस्रनेत्र इन्द्र भी उस वस्तु को नहीं देख पाते, जिन्हें महाकवि चर्मचक्षु से देखते हैं। कवियों के निर्मल बुद्धि-दर्पण में सारा विश्व, सर्वदा प्रतिबिम्बित होता रहता है। इन कवियों के आगे शब्द और अर्थ अपनी-अपनी स्वीकृति के लिए स्वेच्छा से नृत्य किया करते हैं। जहाँ समाधि-सिद्ध योगी, निर्विकल्पक समाधि द्वारा पहुँचते हैं, वहाँ महाकवि, वाणी द्वारा स्वच्छन्द विचरण करते हैं।'

इसके अनन्तर अर्थ के मुख्यतः तीन भेद बताये गये हैं—अन्ययोनि, निह्नुतयोनि और अयोनि। अन्ययोनि अर्थ के दो भेद हैं—प्रतिबिम्बकल्प और आलेख्यप्रख्य। निह्नुतयोनि अर्थ भी दो प्रकार का है—तुल्यदेहितुल्य और परपुरप्रवेशसदृश। अयोनि अर्थ एक है।

इन चार प्रकार के अर्थों का निबन्धन करनेवाले कवि भी चार प्रकार के होते हैं—भ्रामक, चुम्बक, कर्षक और द्रावक। पाँचवाँ अयोनि या मौलिक अर्थरचना करनेवाला कवि, चिन्तामणि है। चिन्तामणि कवि की इच्छामात्र से ऐसा अलौकिक, सरस, विचित्र और मौलिक अर्थ उमड़ पड़ता है कि जिसकी बड़े-बड़े महाकवियों ने कभी कल्पना भी नहीं की होती। यह चिन्तामणि कवि भी तीन प्रकार का होता है—लौकिक, अलौकिक और मिश्र।

प्रतिबिम्बकल्प अर्थ के आठ भेद हैं—१. व्यस्तक, २. खण्ड, ३. तैलबिन्दु,

४. नटनेपथ्य, ५. छन्दोविनिमय, ६. हेतुव्यत्यय, ७. संक्रान्त और ८. सम्पुट। यह आठों प्रकार का अपहरण कवि के लिए निन्दित है! ऐसा अपहरण अयश का कारण है।

त्रयोदश अध्याय

त्रयोदश अध्याय में शेष तीन—आलेख्यप्रख्य, तुल्यदेहितुल्य और परपुरप्रवेश-सदृश अर्थापहरणों का विवेचन किया गया है। आलेख्यप्रख्य नामक अर्थापहरण के आठ भेद हैं—१. समक्रम, २. विभूषणमोष, ३. व्युत्क्रम, ४. विशेषोक्ति, ५. उत्तंस, ६. नटनेपथ्य, ७. एक परिकार्य और ८. प्रत्यापत्ति। आलेख्यप्रख्य के इन आठों भेदों का अपनाना कवियों के लिए निन्द्य नहीं, प्रत्युत ग्राह्य है।

तुल्यदेहितुल्य नामक अर्थापहरण के आठ भेद ये हैं—१. विषय-परिवर्त्तन, २. द्वन्द्वविच्छित्ति ३. रत्नमाला, ४. संख्योल्लेख, ५. चूलिका ६. विधानापहार, ७. माणिक्य-पुंज और ८. कन्द। यह तुल्यदेहितुल्य नामक अर्थापहरण मार्ग भी कवियों के लिए ग्रहण करने योग्य है।

परपुरप्रवेशसदृश नामक अपहरण के आठ भेद ये हैं—१. हुडुयुद्ध, २. प्रतिकञ्चु, ३. वस्तुसंचार, ४. धातुवाद, ५. सत्कार, ६. जीवंजीवक, ७. मुद्रा और ८. तद्विरोधी। यह भी ग्राह्य मार्ग है।

इस प्रकार, अर्थहरण के ३२ भेद दिखाये गये हैं—इनके त्याग और ग्रहण का भली भाँति ज्ञान होना ही कवित्व है। इन अर्थापहरण के भेदों का वर्गीकरण उनके उपयुक्त और सार्थक नामों की कल्पना एवं उनके समुचित उदाहरणों का सन्निवेश आदि संस्कृत-साहित्य-संसार में अनूठी और अति गम्भीर कल्पना है, जो कवियों के लिए सर्वथा माननीय है।

चतुर्दश, पञ्चदश और षोडश अध्याय

इसके आगे के तीन—चतुर्दश, पञ्चदश और षोडश—अध्यायों में कवि-समय का वर्णन है। कवियों के लिए वर्णन करने में कवि-समय का ज्ञान भी एक अत्यावश्यक विषय है। कवि-समय कवियों का एक परम्परागत साम्प्रदायिक नियम है। वे लोग कुछ ऐसे वर्णन करते हैं, जो शास्त्र और लोक दोनों से सर्वथा विपरीत होते हैं। किन्तु, नियमानुसार कवियों को ऐसे वर्णन करने पड़ते हैं। इस विषय पर राजशेखर से प्राक्तन और अर्वाचीन विद्वानों ने स्थूल रूप से नियमों का निर्देश किया है। राजशेखर ने अपनी वैज्ञानिक शैली से उनके अनेक भेद और अवान्तर भागों का सूक्ष्म विवेचन किया है। राजशेखर के परवर्त्ती कवियों ने इस विषय को अधिक बढ़ाया है।

इस सम्बन्ध में कुछ लोगों का यह प्रश्न है कि कविगण इस प्रकार शास्त्र एवं लोक-व्यवहार-विरुद्ध अप्रामाणिक बातों का उल्लेख कर भ्रम फैलाते हैं, यह तो महान् दोष है। इसका उत्तर देते हुए राजशेखर ने लिखा है कि प्राचीन कवियों ने सहस्रों शाखाओं में विस्तृत वेदों का अध्ययन और विशाल-विस्तृत भू-मण्डल के द्वीपों में भ्रमण करके जिन नियमों का प्रचलन किया है, वे आज कालक्रम से हमें भले ही विपरीत प्रतीत

होते हों; किन्तु हमें उनकी परम्परा का निर्वाह करना ही चाहिए। हाँ, उसकी आड़ में कुछ धूर्तों ने स्वार्थवश नवीन परम्परा प्रचलित कर दी है। अतः, हम उसकी नियमित व्यवस्था और मीमांसा करना उचित समझते हैं।

राजशेखर ने तीन प्रकार के कवि-समय बताये हैं—स्वर्गीय, भौम और पातालीय। इनमें भौम या पार्थिव कवि-समय चार प्रकार का होता है—जातिरूप, गुणरूप, क्रियारूप और द्रव्यरूप। इन चारों में प्रत्येक के तीन-तीन भेद हैं—१. असत् या अस्तित्व-विहीन बातों का वर्णन करना। जैसे—सभी पर्वतों से रत्न उत्पन्न नहीं होते, प्रवाहयुक्त गम्भीर नदियों में कमल उत्पन्न नहीं हो सकते और न सभी जलाशयों में हंस ही निवास करते हैं; किन्तु कवि को उनका वर्णन करना आवश्यक होता है।

दूसरे, सत्—अस्तित्वयुक्त वस्तु का अपलाप करना। जैसे, वसन्त में मालती का अस्तित्व न मानना। अशोक में फल का न होना आदि।

तीसरे, नियम—चन्दन अन्य पर्वतों में भी होता है, किन्तु उनका केवल मलय में ही वर्णन करना। मकर, बड़ी-बड़ी नदी और झीलों में भी होते हैं, किन्तु केवल समुद्र में ही उनकी स्थिति का वर्णन करना आदि नियम हैं।

इस प्रकार, चौदहवें और पन्द्रहवें अध्याय में भौम कवि-समय की विस्तृत विवेचना और सोलहवें अध्याय में स्वर्गीय और पातालीय कवि-समय का वर्णन भी कवियों के पथ-प्रदर्शन के लिए महत्त्वपूर्ण विषय है।

सप्तदश अध्याय

सप्तदश अध्याय और अष्टादश अध्याय क्रमशः देश और काल के सम्बन्ध में लिखे गये हैं। देश और काल का ज्ञान कवियों के लिए अत्यावश्यक है, उसके विना वे विमूढ और विवश हो सकते हैं। अतः, सप्तदश अध्याय देश-परिचय के सम्बन्ध में है। साहित्य-जगत् में इस विषय का स्वतन्त्ररूपेण व्यवस्थित विवेचन सर्वप्रथम राजशेखर ने ही किया है। कविकुलगुरु कालिदास ने रघुवंश के रघुदिग्विजय, इन्दुमती-स्वयंवर-प्रकरण में तथा मेघदूत में भारतीय भूगोल का सुन्दर परिचय दिया है, जो काव्यों का एक प्रधान अंग है।

राजशेखर को भौगोलिक विषयों का पर्याप्त परिचय था। उन्होंने जो भारतीय-भूगोल का वर्णन किया है, वह प्राचीन पुराणों, महाभारत, बृहत्संहिता एवं ग्रीक, चीन आदि देशों के यात्रियों के वर्णनों से ठीक मिलता है। कुछ ऐसे नये नाम भी आये हैं, जिनका उल्लेख इन ग्रन्थों में नहीं है। उन दिनों भारत की भौगोलिक स्थिति में अनेक परिवर्त्तन आदि होते रहे हैं। यह भी सम्भव है कि एक देश के दो नाम हों।

राजशेखर ने लिखा है कि भारतवर्ष के नौ खण्ड हैं, जिनमें एक का नाम कुमारीद्वीप है। यही कुमारीद्वीप आधुनिक भारत है। यह विन्दु-सरोवर से कन्याकुमारी तक फैला हुआ भू-भाग चक्रवर्त्ती-क्षेत्र कहा जाता है। इस भू-भाग पर जो शासन करता है, वह चक्रवर्त्ती कहा जाता है। भारत के सम्पूर्ण नौ खण्डों पर जो शासन करता है, वह सम्राट् कहा जाता है। भारत के इन नौ खण्डों में वर्त्तमान मलाया,

सिंहल, लंका, सुमात्रा, जावा, अनाम, चीन और तुर्किस्तान का भाग आदि हैं। आर्यावर्त्त कुमारीद्वीप का एक भाग है। कुमारीद्वीप में सात कुलपर्वत हैं। पूर्व में चीन का कुछ भाग (आसाम की ओर) तथा पश्चिम-उत्तर में फारस, अफगानिस्तान आदि कुमारीद्वीप के ही जनपद थे। राजशेखर के ये सारे वर्णन, मनुस्मृति, महाभारत और कौटिलीय अर्थ-शास्त्र द्वारा प्रमाणित हैं।

राजशेखर ने भारतवर्ष को पाँच भागों में विभक्त किया है। चार दिशाओं के चार भाग और एक मध्यभाग। इस सम्बन्ध में आये हुए जनपदों, नगरी, नदियों और पर्वतों की आधुनिक स्थिति, परिचय, नाम आदि का विवेचन परिशिष्ट-प्रकरण में किया गया है। हम पाठकों के स्पष्ट परिचय के लिए उन पाँचों भागों का संक्षिप्त रूप प्रदर्शित कर देते हैं—

पूर्व देश : वाराणसी से कामरूप तक

जनपदों के नाम		पर्वत	नदियाँ	उत्पन्न होनेवाले द्रव्य
१. अंग	९. नेपाल	१. बृहद्ग्रह	१. शोण	१. लवली
२. कलिंग	१०. पुण्ड्र	२. लोहितगिरि	२. लौहित्य (ब्रह्मपुत्र)	२. ग्रन्थिपर्णक
३. कोशल	११. प्राग्ज्योतिष	३. चकोर	३. गंगा	३. अगुरु
४. तोसल	१२. ताम्रलिप्तक	४. दर्दुर	४. करतोया	४. द्राक्षा
५. उत्कल	१३. मलद	५. नेपाल	५. कपिशा आदि	५. कस्तूरिका आदि
६. मगध	१४. मल्लवर्त्तक	६. कामरूप आदि		
७. मुद्गर	१५. सुह्म			
८. विदेह	१६. ब्रह्मोत्तर आदि			

दक्षिणापथ : माहिष्मती से कन्याकुमारी तक

१. महाराष्ट्र	१४ चोल	१. विन्ध्य (दक्षिणपाद)	१. नर्मदा	
२. माहिषक	१५. दण्डक	२. महेन्द्र	२. तापी	
३. अश्म	१६. पाण्ड्य	३. मलय	३. पयोष्णी	
४. विदर्भ	१७. पल्लव	४. मेकल	४. गोदावरी	
५. कुन्तल	१८. गांग	५. पाल	५. कावेरी	मलय में उत्पन्न होनेवाली चन्दन आदि वस्तुएँ; ताम्रपर्णी के संगम में उत्पन्न होनेवाले मोती आदि।
६. क्रथकैशिक	१९. नासिक्य	६. मंजर	६. भीमरथी	
७. सूर्पारक	२०. कोंकण	७. सह्य	७. वेणा	
८. कांची	२१. कोल्लगिरि	८. श्रीपर्वत आदि	८. कृष्णवेणा	
९. केरल	२२. वल्लर आदि		९. बंजुरा	
१०. कावेर			१०. तुंगभद्रा	
११. मुरल			११. ताम्रपर्णी	
१२. वानवासक			१२. उत्पलावती	
१३. सिंहल			१३. रावणगंगा आदि	

पश्चाद्देश : देवसभा (देवास) से यवनदेश तक

जनपदों के नाम		पर्वत	नदियाँ	उत्पन्न होनेवाले द्रव्य
१. देवसभ	६. कच्छीय	१. गोवर्धन	१. सरस्वती	१. करीर
२. सुराष्ट्र	७. आनर्त्त	२. गिरिनगर	२. श्वभ्रवती	२. पीलु
३. दशेरक	८. अर्बुद	३. देवसभ	३. वार्त्तघ्नी	३. करभ
४. त्रवण	९. ब्राह्मणवाह	४. माल्यशिखर	४. मही	४. गुग्गुल
५. भृगुकच्छ	१०. यवन आदि	५. अर्बुद आदि	५. हिडिम्बा आदि	५. खर्जूर आदि

उत्तरापथ : पृथूदक (पिहोवा) से तुर्किस्तान तक

१. शक	१२. तंगन	१. हिमालय	१. गंगा	१. सरल
२. केकय	१३. तुषार	२. इन्द्रकील	२. सिन्धु	२. देवदारु
३. वोक्काण	१४. तुरुष्क	३. कलिन्द	३. सरस्वती	३. द्राक्षा
४. हूण	१५. वर्बर	४. चन्द्राचल आदि	४. शतद्रु	४. कुंकुम
५. वाणायुज	१६. हारहूरव		५. चन्द्रभागा	५. चमर
६. काम्बोज	१७. हुहुक		६. यमुना	६. अजिन
७. वाह्लीक	१८. सुहुड़		७. इरावती	७. सौवीर
८. वह्लव	१९. हंसमार्ग		८. वितस्ता	८. स्रोतोञ्जन
९. लिंपाक	२०. रमठ		९. विपाशा	९. सैन्धव
१०. कुलूत	२१. करकण्ठ		१०. कुहू	१०. वैदूर्य
११. कीर			११. देविका	११. अश्व

अष्टादश अध्याय

अट्ठारहवें अध्याय में काल-विभाग भी कवियों के लिए अत्यावश्यक वस्तु है। इसमें प्रकृति-वर्णन के सभी सामग्री को सुन्दर ढंग से सजाया गया है। राजशेखर ने अत्यन्त सूक्ष्मतम दृष्टि से प्रकृति-तत्त्व का निरीक्षण किया है और उसको सुव्यवस्थित रूप से रखते हुए कवियों के लिए महत्त्वपूर्ण कार्य किया है।

पहले सौर और चान्द्रमास का परिचय देते हुए बताया गया है कि कवि को किस ऋतु में किस दिशा की वायु का वर्णन करना चाहिए। तदनन्तर वर्षा से ग्रीष्म तक छहों ऋतुओं का वर्णन उनके वर्णनीय वृक्ष, पुष्प, उत्सव, त्योहार, विनोद आदि का वर्णन अत्यन्त हृदयाकर्षक रूप में वर्णित किया गया है। इसके अनन्तर गहराई में चलकर राजशेखर ने प्रत्येक ऋतु की चार-चार अवस्थाएँ बताई हैं—ऋतु-सन्धि, ऋतु-शैशव, ऋतु-प्रौढ, ऋतु-अनुवृत्ति। यह अत्यन्त रमणीय विषय है। इस विषय के उदाहरण भी प्रायः उन्होंने अपने निर्मित ग्रन्थों से ही दिये हैं। ऐसे सूक्ष्म विषयों पर सभी कवियों का ध्यान नहीं जाता और प्रकृति-वर्णन ही काव्य का जीवन है।

पुष्पों के छह प्रकार के भेद बताते हुए फलों के भी छह प्रकार के भेद बताये गये हैं—अन्तर्व्याज, बहिर्व्याज, बाह्यान्तर्व्याज, सर्वत्याग, बहुव्याज और निर्व्याज। विद्वानों के लिए यह प्रकरण मनन करने योग्य है।

इस प्रकार, अत्यन्त मधुरता के साथ कविरहस्य नामक प्रथम अधिकरण की समाप्ति हुई। इसे पढ़ने के बाद यह उत्कण्ठा प्रबल रूप में बनी रहती है कि जैसी आकर्षक शैली और गम्भीर मीमांसा के साथ वैज्ञानिक ढंग से लिखे हुए इस ग्रन्थ के अन्य अधिकरण भी प्राप्त होते, तो संस्कृत-वाङ्मय का कैसा महान् उपकार होता।

राजशेखर ने प्रथम अध्याय में कविरहस्य की जो विषय-सूची दी है, उसमें अन्तिम विषय 'भुवनकोश' है। इसकी चर्चा उन्होंने सप्तदश अध्याय के भौगोलिक वर्णन में भी की है। भुवनकोश का वह अंश, जो कविरहस्य-अधिकरण के लिए आवश्यक था, वह सप्तदश अध्याय में आ ही गया है। राजशेखर को भूगोल-ज्ञान का प्रेम अधिक था। अतः, उन्होंने उसपर विस्तृत निबन्ध भी लिखा था, जो कविरहस्य के परिशिष्ट-रूप में रहा होगा और हस्तलिपिकों ने उसे अत्यावश्यक न समझकर न लिखा होगा। यदि वह उपलब्ध होता, तो संस्कृत-वाङ्मय में एक व्यवस्थित और प्रामाणिक भूगोल की कमी दूर हो सकती थी।

प्रस्तुत अनुवाद

'काव्यमीमांसा' के हिन्दी-अनुवाद की प्रेरणा विहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् से मिली। मैंने कुतूहलवश इस कार्य के लिए अपनी इच्छा तो प्रकट की, किन्तु सार्वजनिक कार्यों में व्यस्त रहने के कारण इस अद्भुत ग्रंथ का भाषान्तर करने में शीघ्र हाथ न लगा सका। अन्त में, इसी भरोसे पर मैंने इस कार्य में हाथ लगाया कि सन् १९१८ ई० में जब 'काव्यमीमांसा' सद्यः प्रकाशित हुई थी, तब परमपूज्य गुरुवर महामहोपाध्याय श्रीरामावतार शर्माजी के चरणों की छाया में रहकर अध्ययन करते हुए इस ग्रन्थ के भी अध्ययन करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। अधिकतर यात्रा करते रहने के कारण इसका कुछ अंश काशी में, कुछ दिल्ली में और कुछ भिवानी में पूरा किया गया।

अनुवाद कैसा हुआ, यह तो सहृदय समालोचकों के विचार का विषय है। किन्तु, अनुवाद को सुस्पष्ट करने के लिए 'मक्षिकास्थाने मक्षिकादेशः' का अनुसरण नहीं किया गया है। परिशिष्टों तथा टिप्पणियों द्वारा भी मूल के भावों और अर्थों के स्पष्टीकरण का प्रयत्न किया गया है। संस्कृत के लम्बे समासवाले एवं संस्कृत की निजी शैली से लिखे गये वाक्यों और श्लोकों का समुचित अनुवाद करना सरल कार्य नहीं है। फिर, 'काव्यमीमांसा' के संबंध में संस्कृत में भी टीका-टिप्पणी आदि का अभाव है। काशी से इसकी एक संस्कृत-टीका प्रकाशित हुई है, जिसमें कठिन स्थल और भी दुरूह तथा भ्रामक हो गये हैं। इस ग्रन्थ की जो तालपत्र पर लिखी प्राचीन पाण्डुलिपि मिली है, उसमें भी कहीं-कहीं लेखक की असावधानी से त्रुटियाँ रह गई हैं। इन्हें ठीक करने में मूल पुस्तक के सम्पादकों की चेष्टा श्लाघनीय है, फिर भी मुझे कहीं-कहीं इसके मूल में संशोधन करना

पड़ा है। इस पुस्तक के मूल संस्कृत का मुख्य आधार बड़ौदा से प्रकाशित और श्रीदयाल द्वारा सम्पादित मूल पुस्तक 'काव्यमीमांसा' है।

प्रस्तुत अनुवाद को, मूल का मर्मोद्घाटन करने के उद्देश्य से, यथास्थान आवश्यक उद्धरण और विवरण देकर सुगम बनाने का प्रयत्न किया गया है। ग्रन्थ में आये हुए उदाहरणों, व्यक्तियों तथा देशों का ऐतिहासिक एवं प्रामाणिक परिचय यथासंभव दिया गया है। इस प्रकार, अनुवाद को आधुनिक पाठकों के संतोष के योग्य बनाने का यथा-शक्य प्रयास किया गया है।

प्रूफ-संशोधन के सम्बन्ध में यद्यपि मैंने तथा परिषद् ने पूर्ण प्रयत्न किये हैं, तथापि दृष्टिदोष से जहाँ-कहीं कुछ त्रुटियाँ रह गई हों, उन्हें सुधी-सज्जन सुधार लेने की कृपा करें।

इस अनुवाद के टाइप करने तथा प्रूफ देखने में मेरे योग्य शिष्य श्रीलीलाधर शर्मा शास्त्री, साहित्यरत्न ने जो सहायता मुझे दी है, उसके लिए आभार प्रकट करता हूँ। 'नाडीतत्त्व-दर्शन' के प्रसिद्ध लेखक भिषक्केसरी श्रीसत्यदेव वासिष्ठ को भी धन्यवाद और आशीर्वाद देता हूँ, जिनकी सहायता से निश्चिन्ततापूर्वक मैं यह अनुवाद तैयार कर सका।

'सुप्रभातम्', काशी
महाशिवरात्रि, २०१० वि०

केदारनाथ शर्मा सारस्वत

राजशेखरविरचिता काव्यमीमांसा

कविरहस्यम्

प्रथमोऽध्यायः शास्त्रसङ्ग्रहः

अथातः काव्यं मीमांसिष्यामहे यथोपदिदेश श्रीकण्ठः परमेष्ठि-वैकुण्ठादिभ्यश्चतुःषष्टये शिष्येभ्यः। सोऽपि भगवान्स्वयम्भूरिच्छाजन्मभ्यः स्वान्तेवासिभ्यः। तेषु सारस्वतेयो वृन्दीयसामपि वन्द्यः काव्यपुरुष आसीत्। तं च सर्वसमयविदं दिव्येन चक्षुषा भविष्यदर्थदर्शिनं भूर्भुवस्स्वस्त्रितयवर्त्तिनीषु प्रजासु हितकाम्यया प्रजापतिः काव्यविद्याप्रवर्त्तनायै प्रायुङ्क्त। सोऽष्टादशाधिकरणीं दिव्येभ्यः काव्यविद्यास्नातकेभ्यः सप्रपञ्चं प्रोवाच।

प्रथम अध्याय : शास्त्र-संग्रह

अब यहाँ से काव्य की विवेचना प्रारम्भ करते हैं। जैसा कि, भगवान् श्रीकंठ—शिव ने इस काव्यविद्या का सर्वप्रथम उपदेश परमेष्ठी, वैकुण्ठ आदि चौंसठ शिष्यों को किया था। उनमें से प्रथम शिष्य भगवान् स्वयम्भू—ब्रह्मदेव ने भी इस विद्या का द्वितीय वार उपदेश अपनी इच्छा से उत्पन्न (अयोनिज) अपने शिष्यों—ऋषियों को किया। उन शिष्यों में सरस्वती का पुत्र काव्य-पुरुष भी एक था; (जगद्वन्द्य) देवता भी जिसकी वन्दना करते थे। और, ब्रह्मदेव ने त्रिकालज्ञ तथा दिव्य दृष्टि द्वारा भविष्य की बातों को जाननेवाले उस काव्य-पुरुष को भूर्, भुवर् और स्वर्ग—तीनों लोकों की निवासिनी प्रजा में हित की कामना से काव्य-विद्या के प्रचार के लिए आज्ञा दी। उस काव्य-पुरुष ने अट्ठारह भागों में विभक्त काव्य-विद्या का विस्तृत उपदेश (सबसे प्रथम सहस्राक्ष आदि) दिव्य (स्वर्गीय) काव्य-विद्या के स्नातकों को किया।

उनमें से एक-एक शिष्य ने, अट्ठारह भागों में विभक्त उस काव्य-विद्या के एक-एक भाग में विशेषता प्राप्त करके, अपने-अपने विषय पर पृथक्-पृथक् ग्रन्थ-रचना की।

तत्र कविरहस्यं सहस्राक्षः समाम्नासीत्, औक्तिकमुक्तिगर्भः, रीतिनिर्णयं सुवर्णनाभः, आनुप्रासिकं प्रचेताः,[1] यमो यमकानि, चित्रं चित्राङ्गदः,[2] शब्दश्लेषं शेषः, वास्तवं पुलस्त्यः, औपम्यमौपकायनः,

---

१. कुछ लोगों का मत है कि 'आनुप्रासिकं प्राचेतायनः' के स्थान पर 'प्रचेता'—यह पाठ होना चाहिए। 'प्रचेता' नाम वरुण का है। यहाँ मूलप्रति के लेखक का भ्रम प्रतीत होता है। अतः, हमने 'प्रचेता' इसी पाठ को प्रामाणिक रूप से रखा है। हस्तलिखित प्रति में 'प्राचेतायनः' यह पाठ व्याकरण से अशुद्ध भी है।

२. यहाँ पर मूल संस्कृत-प्रति में यमक और चित्र दोनों का प्रणेता चित्रांगद को ही लिखा गया है किन्तु, इस प्रकार ग्रन्थकार के प्रतिज्ञात अट्ठारह अधिकरण न होकर सत्रह ही होते हैं और दो विषयों को

अतिशयं पाराशरः, अर्थश्लेषमुतथ्यः, उभयालङ्कारिकं कुबेरः, वैनोदिकं कामदेवः, रूपकनिरूपणीयं भरतः, रसाधिकारिकं नन्दिकेश्वरः, दोषाधिकरणं धिषणः, गुणौपादानिकमुपमन्युः, औपनिषदिकं कुचुमारः—इति। ततस्ते पृथक् पृथक् स्वशास्त्राणि विरचयाञ्चक्रुः।

उनमें से सहस्राक्ष इन्द्र ने कविरहस्य नामक प्रथम अधिकरण (भाग) का निर्माण किया। इसी प्रकार उक्तिगर्भ ने उक्ति-विषयक ग्रन्थ का निर्माण किया। सुवर्णनाभ ने रीति-विषयक, प्रचेता ने अनुप्रास-सम्बन्धी, यम ने यमक-सम्बन्धी, चित्रांगद ने चित्रकाव्य-विषयक, शेष ने शब्द-श्लेष पर, पुलस्त्य ने वास्तव, अर्थात् स्वभावोक्ति पर, औपकायन ने उपमालंकार के सम्बन्ध में, पाराशर ने अतिशयोक्ति के सम्बन्ध में, उतथ्य ने अर्थ-श्लेष पर, कुवेर ने शब्द और अर्थ—उभय अलङ्कारों के सम्बन्ध में, कामदेव ने विनोद-सम्बन्धी विषय पर, भरत ने नाट्य-विषय पर, नन्दिकेश्वर ने रस-विषय पर, धिषण—बृहस्पति ने दोष पर, उपमन्यु ने गुणों के उपादान के सम्बन्ध में और कुचुमार ने (रहस्यतन्त्र) औपनिषदिक अधिकरणों को संगृहीत किया था। तब फिर उन्होंने उन विषयों पर स्वतन्त्र रूप से अपनी-अपनी ग्रन्थ-रचना की थी।

इत्थङ्कारश्च प्रकीर्णत्वात् सा किञ्चिदुच्चिच्छिदे। इतीयं प्रयोजकाङ्गवती सङ्क्षिप्य सर्वमर्थमल्पग्रन्थेन अष्टादशाधिकरणी प्रणीता।

इस प्रकार, भिन्न-भिन्न विषयों की ग्रन्थ-रचनाओं से काव्य-विद्या अनेक भागों में विभक्त होकर कुछ छिन्न-भिन्न-सी हो गई थी। इसलिए, अत्यावश्यक काव्य-विद्या के सभी प्रयोजक विषयों को थोड़े शब्दों में संक्षिप्त करके हमने अट्ठारह अधिकरणों में काव्यमीमांसा नामक ग्रन्थ की रचना की। उसका यह प्रथम अधिकरण या भाग प्रारम्भ किया जाता है, जिसका नाम कविरहस्य है।

तस्या अयं प्रकरणाधिकरणसमुद्देशः। शास्त्रसङ्ग्रहः, शास्त्रनिर्देशः, काव्यपुरुषोत्पत्तिः, पदवाक्यविवेकः, पाठप्रतिष्ठा, अर्थानुशासनं, वाक्यविधयः, कविविशेषः, कविचर्या, राजचर्या, काकुप्रकाराः, शब्दार्थहरणोपायाः, कविसमयः, देशकालविभागः, भुवनकोश इति कविरहस्यं प्रथममधिकरणमित्यादि। इति सूत्राण्यथैतेषां व्याख्याभाष्यं भविष्यति।

इस कवि-रहस्य अधिकरण के अट्ठारह प्रकरण (अध्याय) हैं। उनका यह प्रकारणों के अधिकरण का समुद्देश है, अर्थात् नामग्रहणपूर्वक गणना-मात्र यहाँ की गई है, जिनमें

रचना एक ही निर्माता के नाम पर हो जाती है, जो ग्रन्थकार को अभिलषित नहीं है एवं प्रचलित क्रम के विरुद्ध भी है। अतः, यहाँ—'यमकानि यमः', 'चित्रं चित्राङ्गदः' ऐसा पाठ होना चाहिए, अर्थात् 'यम ने यमक पर और चित्राङ्गद ने चित्रकाव्यों पर' यह समुचित अर्थ सङ्गत होता है। सम्भव है, हस्तलिखित प्रति में लेखक की असावधानी से 'यमः' इतना पाठ छूट गया हो।

१. शास्त्र-संग्रह, २. शास्त्र-निर्देश, ३. काव्य-पुरुष की उत्पत्ति, ४. पद-वाक्य-विवेक, ५. पाठ-प्रतिष्ठा, ६. अर्थानुशासन, ७. वाक्य-विवेक, ८. कवि-विशेष, ६. कविचर्या, १०. राजचर्या, ११. काकु-प्रकार, १२. शब्दार्थहरणोपाय, १३. कवि-समय, १४. देश-काल-विभाग और १५. भुवनकोश का विवेचन किया गया है।[1] इस प्रकार, यह कविरहस्य नामक प्रथम भाग है। यहाँ सूत्ररूप से इसका विषय-निर्देश किया गया है। अगले अध्यायों में इनका भाष्य या विस्तृत विवेचन किया जायगा।

समासव्यासविन्यासः सैष शिष्यहिताय नः।
चित्रोदाहरणैर्गुर्वी ग्रन्थेन तु लघीयसी॥

इस प्रकार, हमने शिष्यों की हित-दृष्टि से इसमें कहीं संक्षिप्त और कहीं विस्तृत ग्रथन-विन्यास किया है। यह काव्यमीमांसा, ग्रन्थ की दृष्टि से संक्षिप्त होने पर भी विविध एवं विचित्र उदाहरणों से विस्तृत है।

इयं नः काव्यमीमांसा काव्यव्युत्पत्तिकारणम्।
इयं सा काव्यमीमांसा मीमांस्यो[2] यत्र वाग्लवः॥
वाग्लवं न स जानाति न विजानाति यस्त्विमाम्।

यह हमारी काव्यमीमांसा, काव्य-विद्या के प्रौढ ज्ञान का कारण है। यह काव्य की मीमांसा है। मीमांसा उसे कहते हैं, जिसके द्वारा वाणी के अंश—शब्द और अर्थ का सूक्ष्म विवेचन किया जाता है। वे उपपत्ति के साथ वाणी के अंशों (शब्द और अर्थ) का विवेचन करना नहीं जान सकते हैं, जो काव्य की मीमांसा को भी नहीं जानते।

यायावरीयः सङ्क्षिप्य मुनीनां मतविस्तरम्।
व्याकरोत्काव्यमीमांसा कविभ्यो राजशेखरः॥

इति राजशेखरकृतौ काव्यमीमांसायां कविरहस्ये प्रथमेऽधिकरणे
प्रथमोऽध्यायः शास्त्रसङ्ग्रहः।

इसलिए, यायावर-कुल में उत्पन्न राजशेखर ने प्राचीन मुनियों के विस्तृत विचारों को संक्षिप्त करके कवियों के लिए काव्यमीमांसा का प्रणयन किया है।

प्रथम अध्याय समाप्त



---

१. ग्रन्थकर्त्ता ने अठारह अध्यायों में वर्णित पन्द्रह विषयों का उल्लेख किया है। अतः, इसे अध्यायों का क्रम न समझकर विषयक्रम समझना चाहिए। कुछ विषय दो-दो अध्यायों में वर्णित हैं।

२. मूल हस्तलिखित प्रति के अनुसार यहाँ 'मीमांसा यत्र वाग्लवः' यह पाठ है, किन्तु यहाँ 'मीमांस्यो यत्र वाग्लवः' पाठ अधिक उपयुक्त हो सकता है। अतः, हमने इसी पाठ को रखा है।

द्वितीयोऽध्यायः शास्त्रनिर्देशः

इह हि वाङ्मयमुभयथा शास्त्रं काव्यं च। शास्त्रपूर्वकत्वात् काव्यानां पूर्वं शास्त्रेष्वभिनिविशेत। नह्यप्रवर्त्तितप्रदीपास्ते तत्त्वार्थसार्थमध्यक्षयन्ति।

द्वितीय अध्याय : शास्त्र-निर्देश

यहाँ शास्त्र और काव्य इन भेदों से वाङ्मय दो प्रकार का है। काव्य-ज्ञान के लिए शास्त्र-ज्ञान आवश्यक है। जैसे विना दीपक के पदार्थों का प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार शास्त्र-ज्ञान के विना काव्य-ज्ञान असम्भव है। अतः, काव्यों के पहले शास्त्रों का अभ्यास करना आवश्यक है।

तच्च द्विधा—अपौरुषेयं पौरुषेयं च। अपौरुषेयं श्रुतिः। सा च मन्त्रब्राह्मणे। विवृतक्रियातन्त्रा मन्त्राः। मन्त्राणां स्तुतिनिन्दा...विनियोगग्रन्थो ब्राह्मणम्।

शास्त्र दो प्रकार का है—अपौरुषेय और पौरुषेय। अर्थात्, ईश्वरीय (परम्परा-प्राप्त) तथा पुरुष-निर्मित। अपौरुषेय शास्त्र का नाम श्रुति या वेद है, जिसे परम्परा से सुनते आ रहे हैं। वेद के दो भाग हैं—मन्त्र-भाग और ब्राह्मण-भाग। याज्ञिक (यज्ञ-सम्बन्धी) क्रिया-कलाप को बतानेवाले मन्त्र हैं। मन्त्रों का स्तुति, निन्दा, निर्वचन, विधि, निषेध एवं क्रिया में विनियोग आदि करनेवाला भाग ब्राह्मण कहलाता है।

ऋग्यजुःसामवेदास्त्रयी। अथर्वणश्च तुरीयः। तत्रार्थव्यवस्थितपादा ऋचः। ताः सगीतयः सामानि। अच्छन्दांस्यगीतानि यजूंषि। ऋचो यजूंषि सामानि चाथर्वणं त इमे चत्वारो वेदाः।

ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद—इन तीनों वेदों का नाम त्रयी है। अथर्व नामक चतुर्थ वेद है। इनमें अर्थ के अनुसार छन्दोबद्ध भाग का नाम ऋक् है। इन्हीं ऋचाओं का सस्वर गेय-रूप भाग साम कहा जाता है और विना छन्द और गीति के अर्थात्, गद्यभाग का नाम यजुष् है। इस प्रकार ऋक्, साम, यजुष् और आथर्वण—ये चार वेद हैं।

इतिहासवेदधनुर्वेदौ गान्धर्वायुर्वेदावपि चोपवेदाः। 'वेदोपवेदात्मा सार्ववर्णिकः पञ्चमो गेयवेदः' इति द्रौहिणिः।

इतिहास-वेद, धनुर्वेद, गान्धर्ववेद और आयुर्वेद—ये चार उपवेद हैं। द्रौहिणि नामक आचार्य का मत है कि सभी वर्णों के लिए उपयुक्त एवं सभी वेदों और उपवेदों का आत्मस्वरूप गानवेद पाँचवाँ वेद है।

'शिक्षा, कल्पो, व्याकरणं, निरुक्तं, छन्दोविचितिः, ज्यौतिषं च षडङ्गानि' इत्याचार्याः। 'उपकारकत्वादलङ्कारः सप्तममङ्गम्' इति यायावरीयः। ऋते च तत्स्वरूपपरिज्ञानाद्वेदार्थानवगतिः। यथा—

प्राचीन आचार्यों के मत से वेद के छह अङ्ग हैं—१. शिक्षा, २. कल्प, ३. व्याकरण, ४. निरुक्त, ५. छन्दस्, और ६. ज्यौतिष। यायावरीय राजशेखर का मत है कि अलंकार-शास्त्र भी सातवाँ अंग है। क्योंकि, यह वेद के अर्थज्ञान का साधक है। अलंकार-ज्ञान के विना वेदार्थ का सम्यक् ज्ञान असम्भव है। जैसे, श्वेताश्वतर उपनिषद्[1] में 'द्वासुपर्णा' यह मन्त्र आलंकारिक रूप में है।

'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति॥'

सुन्दर पंखोंवाले, एक साथ रहनेवाले और परस्पर मित्रता रखनेवाले दो पक्षी एक ही वृक्ष में निवास करते हैं। उन दोनों में एक स्वादयुक्त पिप्पल-फलों को खाता है और दूसरा विना कुछ खाये ही प्रकाशमान रहता है।

सेयं शास्त्रोक्तिः। प्रत्यधिकरणं च ऋचं यजुः सामाथर्वणं ब्राह्मणं चोदाहृत्य भाषामुदाहरिष्यामः।

वह यह शास्त्रोक्ति है। आगे प्रत्येक अधिकरण में ऋक्, साम, यजुष् और ब्राह्मणों का उद्धरण दे करके संस्कृत-भाषा का विवेचन करेंगे।

तत्र वर्णानां स्थानकरणप्रयत्नादिभिः निष्पत्तिनिर्णायिनी शिक्षा आपिशलीयादिका।

इस प्रकार, चारों वेदों और ब्राह्मणों का लक्षण बताकर उनके अर्थज्ञान-साधन अंगों का स्वरूप बताया जाता है—

इन वेदांगों में शिक्षा-शास्त्र वह है, जिसके द्वारा वर्णों के स्थान, करण, प्रयत्न एवं उच्चारण आदि का युक्तियुक्त निर्णय किया गया है। जैसे—आपिशल, याज्ञवल्क्य, पाणिनि आदि ऋषियों द्वारा प्रणीत शिक्षा-ग्रन्थ।

नानाशाखाधीतानां मन्त्राणां विनियोजकं सूत्रं कल्पः। स च यजुर्विद्या।

भिन्न-भिन्न शाखाओं में पढ़े गये मन्त्रों का यथोचित कर्मों में विनियोग करने-

---

१. इस मन्त्र में रूपक अलंकार द्वारा एक ही शरीर में एक साथ रहनेवाले जीवात्मा और परमात्मा को आलंकारिक भाषा में दो पक्षियों के रूप में कहा गया है। तात्पर्य यह है कि वेद-मन्त्रों में ऐसे अनेक आलंकारिक वर्णन मिलते हैं, जो रूपक एवं उपमा आदि अलंकारों से रोचक बनाये गये हैं। उनके ज्ञान के लिए अलंकारों का स्वरूप जानना आवश्यक है। अलंकार-ज्ञान के विना उनका अर्थ-ज्ञान कठिन है। इसलिए, अलंकार को भी वेद का सातवाँ अंग मानना चाहिए। मन्त्रों के प्रथमार्द्ध में रूपक और उत्तरार्द्ध में व्यतिरेक नामक अलंकार है।

वाले सूत्रों का नाम कल्प है। जैसे—कात्यायन, आश्वलायन, बौधायन, गोभिल आदि ऋषियों के प्रणीत सूत्र-ग्रन्थ। यह कल्प-विद्या मुख्यतः यजुर्वेद से सम्बन्ध रखती है।

शब्दानामन्वाख्यानं व्याकरणम्।

प्रकृति और प्रत्ययों द्वारा सुबन्त एवं तिङन्त आदि शब्दों की सिद्धि करनेवाला व्याकरण-शास्त्र है। जैसे—आपिशलि, चन्द्र, शाकटायन, पाणिनि आदि के सूत्रबद्ध व्याकरण-ग्रन्थ।

निर्वचनं निरुक्तम्। छन्दसां प्रतिपादयित्री छन्दोविचितिः। ग्रहगणितं ज्यौतिषम्। अलङ्कारव्याख्यानं तु पुरस्तात्।

शब्दों के अर्थ का वर्णागम आदि पाँच प्रकारों द्वारा निर्णय करनेवाला शास्त्र निरुक्त है। अनुष्टुप्, त्रिष्टुप्, गायत्री आदि छन्दों के लक्षण, स्वरूप तथा नियमों को बतानेवाला शास्त्र छन्दःशास्त्र है और ग्रहों की गति-विधि, समय आदि के भेद बतानेवाला शास्त्र ज्योतिष-शास्त्र है। प्राचीन आचार्यों द्वारा बताये गये ये छह वेदांग-शास्त्र हैं। यायावरीय राजशेखर के मत में सातवाँ अङ्ग अलंकार-शास्त्र है। उसका वर्णन आगे किया जायगा।

पौरुषेयं तु—पुराणम्, आन्वीक्षिकी, मीमांसा, स्मृतितन्त्रमिति चत्वारि शास्त्राणि।

इस प्रकार वेद-संज्ञक अपौरुषेय शास्त्रों और उनके छह अंगों का वर्णन किया गया। अब पौरुषेय शास्त्रों का वर्णन किया जाता है। इनमें चार शास्त्र प्रसिद्ध हैं—१. पुराण, २. आन्वीक्षिकी, ३. मीमांसा और ४. धर्मशास्त्र।

तत्र वेदाख्यानोपनिबन्धनप्रायं पुराणमष्टादशधा। यदाहुः—

उनमें से वेद में आये हुए आख्यानों का आलंकारिक रूप से विस्तृत वर्णन करना पुराणों का विषय है। ये पुराण अट्ठारह हैं। पुराणों के वर्णनीय विषय पाँच हैं। जैसे कहा है—

'सर्गः प्रतिसंहारः कल्पो मन्वन्तराणि वंशविधिः।
जगतो यत्र निबद्धं तद्विज्ञेयं पुराणमिति ॥'

१. संसार की व्यापक सृष्टि, २. अवान्तर सृष्टि, ३. प्रलय, ४. मन्वन्तर और ५. वंशवर्णन, इन पाँचों विषयों का वर्णन जिसमें किया गया हो, उसे पुराण कहते हैं।

'पुराणप्रविभेद एवेतिहासः' इत्येके। स च द्विधा परक्रिया—पुराकल्पाभ्याम्। यदाहुः—

इतिहास भी पुराण का एक भेद है। वह परक्रिया और पुराकल्प भेद से दो प्रकार का होता है। जैसा कि कहा है—

'परक्रिया पुराकल्प इतिहासगतिर्द्विधा।

स्यादेकनायका पूर्वा द्वितीया बहुनायका ॥'

तत्र रामायणं भारतं चोदाहरणे ।

इतिहास की प्रगति दो प्रकार की होती है। एक का नाम परक्रिया और दूसरी का नाम पुराकल्प है। एक नायक के आधार पर रचित इतिहास परक्रिया कहा जाता है और अनेक नायकों के आधार पर निर्मित इतिहास पुराकल्प कहा जाता है। इन दोनों के उदाहरण क्रमशः रामायण और महाभारत हैं।

आन्वीक्षिकीं तु विद्यावसरे वक्ष्यामः ।

आन्वीक्षिकी का विवरण आगे विद्याओं की व्याख्या के अवसर पर करेंगे।

निगमवाक्यानां न्यायैः सहस्रेण विवेक्त्री मीमांसा । सा च द्विविधा विधिविवेचनी ब्रह्मनिदर्शनी च ।

वेद-वाक्यों का सहस्रों (विविध) तर्कों से विवेचन करनेवाला मीमांसा-शास्त्र है। वह दो प्रकार का है— १. कर्म-मीमांसा (पूर्वमीमांसा) और २. ब्रह्म-मीमांसा, अर्थात् वेदान्तशास्त्र।

अष्टादशैव श्रुत्यर्थस्मरणात्स्मृतयः । 'तानीमानि चतुर्दश विद्या-स्थानानि, यदुत वेदाश्चत्वारः, षडङ्गानि, चत्वारि शास्त्राणि' इत्याचार्याः । तान्येतानि कृत्स्नामपि भूर्भुवःस्वस्त्रयीं व्यासज्य वर्त्तन्ते । तदाहुः—

श्रुति (वेद) के अर्थों का अनुस्मरण करके धर्म का विवेचन करनेवाला धर्मशास्त्र, स्मृति कहा जाता है। स्मृतियाँ अठारह ही हैं। इस प्रकार प्राचीन आचार्यों के मत से विद्याओं के चौदह स्थान हैं। जैसे—चार वेद, छह अङ्ग और चार शास्त्र। इस प्रकार ये चौदह विद्याएँ भूर्, भुवर् और स्वर् इन तीनों लोकों में व्याप्त हैं। वैसा कहा भी है—

'विद्यास्थानानां गन्तुमन्तं न शक्तो
जीवेद्वर्षाणां योऽपि साग्रं सहस्रम् ।
तस्मात्सङ्क्षेपादर्थसन्दोह उक्तो
व्यासः सन्त्यक्तो ग्रन्थभीरुप्रियार्थम् ॥'

मनुष्य सहस्रों वर्षों से अधिक जीवित रहकर भी इन चौदह विद्याओं का अन्त नहीं पा सकता। अतः, संक्षेप में इनके अर्थ का सार कह दिया गया है। ग्रन्थ के अधिक विस्तार से भयभीत होनेवाले व्यक्तियों की प्रसन्नता के लिए अधिक विस्तार नहीं किया।

'सकलविद्यास्थानैकायतनं पञ्चदशं काव्यं विद्यास्थानम्' — इति यायावरीयः। गद्यपद्यमयत्वात् कविधर्मत्वात् हितोपदेशकत्वाच्च। तद्धि शास्त्राण्यनुधावन्ति ।

यायावरीय राजशेखर के मत में इन चौदह विद्यास्थानों के अतिरिक्त काव्य पन्द्रहवाँ विद्यास्थान है। क्योंकि, यह चौदहों विद्याओं का एकमात्र आधार है। इस काव्य के गद्य-पद्यमय होने, कवि का कर्म होने और हितोपदेशक होने के कारण सभी शास्त्र इस काव्य-विद्या का अनुसरण करते हैं।

'वार्त्ता कामसूत्रं शिल्पिशास्त्रं दण्डनीतिरिति। पूर्वैः सहाष्टादश विद्यास्थानानि' इत्यपरे।

कुछ विद्वानों का मत है कि पूर्वकथित चौदह विद्याओं के साथ वार्त्ता, कामसूत्र, शिल्पशास्त्र और दण्डनीति (अर्थशास्त्र)—इन चार विद्याओं को जोड़ देने से अट्ठारह विद्याएँ हो जाती हैं।

आन्वीक्षिकी त्रयी वार्त्ता दण्डनीतिश्चेति विद्याः। 'दण्डनीति-रेवैका विद्या' इत्यौशनसाः। दण्डभयाद्धि कृत्स्नो लोकः स्वेषु स्वेषु कर्मस्ववतिष्ठते। 'वार्त्ता दण्डनीतिर्द्वे विद्ये' इति बार्हस्पत्याः। वृत्तिर्विनय ग्रहणं च स्थितिहेतुर्लोकयात्रायाः। 'त्रयीवार्त्तादण्डनीतयस्तिस्रो विद्याः' इति मानवाः। त्रयी हि वार्त्तादण्डनीत्योरुपदेष्ट्री। 'आन्वीक्षिकी त्रयी वार्त्तादण्डनीतयश्चतस्रो विद्या' इति कौटिल्यः। आन्वीक्षिक्या हि विवेचिता त्रयी वार्त्तादण्डनीत्योः प्रभवति।

आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्त्ता और दण्डनीति या अर्थशास्त्र—ये चार विद्याएँ हैं। उशना भार्गव के मत से दण्डनीति ही एकमात्र विद्या है; क्योंकि दण्ड के भय से सभी व्यक्ति अपने-अपने कर्त्तव्य-पालन में सतर्क रहते हैं। बृहस्पति के मत में दो विद्याएँ हैं—१. दण्डनीति और २. वार्त्ता। क्योंकि, जीविका और अनुशासन—ये दो ही लोक-स्थिति के कारण हैं। मनु के सम्प्रदायानुयायी त्रयी, वार्त्ता और दण्डनीति—इन तीन विद्याओं को मानते हैं; क्योंकि त्रयी, अर्थात् वेद वार्त्ता और दण्डनीति के उपदेशक एवं आदेशक हैं। आचार्य कौटिल्य का मत है कि प्रमाणों और तर्कों से विवेचित त्रयी, अर्थात् वेद, वार्त्ता और दण्डनीति को आदेश देने में समर्थ हो सकते हैं। अतः, आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्त्ता और दण्ड-नीति—ये चार विद्याएँ हैं।

'पञ्चमी साहित्यविद्या' इति यायावरीयः। सा हि चतसृणा-मपि विद्यानां निष्यन्दः। आभिर्धर्मार्थौ यद्विद्यात्तद्विद्यानां विद्यात्वम्।

यायावरीय राजशेखर का मत है कि साहित्य-विद्या भी पाँचवीं विद्या है, जो उक्त चारों विद्याओं का सार (तत्व) है। धर्म और अर्थ की प्राप्ति ही इन विद्याओं का मुख्य फल है।

तत्र त्रयी व्याख्याता। द्विधा चान्वीक्षिकी पूर्वोत्तरपक्षाभ्याम्।

अर्हद्भदन्तदर्शने लोकायतं च पूर्वः पक्षः। साङ्ख्यं न्यायवैशेषिकौ चोत्तरः। त इमे षट् तर्काः। तत्र च तिस्रः कथा भवन्ति वादो, जल्पो, वितण्डा च।

इन विद्याओं में त्रयी की व्याख्या पहले की जा चुकी है। आन्वीक्षिकी, अर्थात् तर्कविद्या दो प्रकार की है—एक पूर्वपक्ष और दूसरा उत्तरपक्ष। पूर्वपक्ष में तीन दर्शन हैं—१. चार्वाक, २. बौद्ध और ३. जैन। उत्तरपक्ष में भी तीन दर्शन हैं— १. सांख्य, २. न्याय और ३. वैशेषिक। इस प्रकार, तर्क के ये छह भेद हुए। इन तर्कों में तीन प्रकार की कथाएँ होती हैं –१. वाद, २. जल्प और ३. वितण्डा।

मध्यस्थयोस्तत्त्वावबोधाय वस्तुतत्त्वपरामर्शो वादः। विजिगीषोः स्वपक्षसिद्धये छलजातिनिग्रहादिपरिग्रहो जल्पः। स्वपक्षस्यापरिग्रहित्री परपक्षस्य दूषयित्री वितण्डा।

दोनों ओर के मध्यस्थों (निर्णायकों) को अपने-अपने तर्क का तत्त्वज्ञान कराने के लिए वस्तुस्थिति का परिचय कराना वाद कहा जाता है। प्रतिवादी पर विजय प्राप्त करने के लिए वाक्छल, जाति और निग्रह-स्थान का आश्रय लेना जल्प कहा जाता है तथा अपने पक्ष को उपस्थित न करते हुए प्रतिवादी के पक्ष में दोष-प्रदर्शन मात्र करना वितण्डा है।

कृषिपाशुपाल्ये वणिज्या च वार्त्ता। आन्वीक्षिकीत्रयीवार्त्तानां योगक्षेमसाधनो दण्डस्तस्य नीतिर्दण्डनीतिः। तस्यामायत्ता लोकयात्रेति शास्त्राणि। सामान्यलक्षणं चैषाम्—

कृषि, पशुपालन और व्यापार इन तीनों का संयुक्त नाम वार्त्ताशास्त्र है और आन्वीक्षिकी, त्रयी एवं वार्त्ता इन तीनों विद्याओं की प्राप्ति और प्रयोग का साधन दण्डनीति है; क्योंकि दण्ड के विना इन तीनों के द्वारा सांसारिक स्थिति का निर्वाह सम्भव नहीं हो सकता।

इस प्रकार, शास्त्रों का निर्देश किया गया है। इनका सामान्य-लक्षण यह है—

'सरितामिव प्रवाहास्तुच्छाः प्रथमं यथोत्तरं विपुलाः।
ये शास्त्रसमारम्भा भवन्ति लोकस्य ते वन्द्याः॥'

जैसे, नदियों के प्रवाह प्रारम्भ में अत्यल्प (पतले) होते हैं और आगे बढ़ने पर क्रमशः उत्तरोत्तर विस्तृत होते हैं, उसी प्रकार शास्त्रों के प्रारम्भ भी पहले अल्प और पुनः उत्तरोत्तर विपुल (विस्तृत) हो जाते हैं। ऐसे शास्त्र सभी के लिए समादरणीय हैं।

सूत्रादिभिश्चैषां प्रणयनम्। तत्र सूत्रणात् सूत्रम्। यदाहुः—

इन शास्त्रों का प्रणयन और विस्तर सूत्र, भाष्य, वृत्ति, टीका, समीक्षा आदि के द्वारा किया गया है। उनके लक्षण कहे जाते हैं।

अत्यन्त विस्तृत विषय को अति संक्षिप्त रूप में कहना सूत्र है। सूत्रकारों ने सूत्र का लक्षण इस प्रकार किया है—

'अल्पाक्षरमसन्दिग्धं सारवद्विश्वतो मुखम्।
अस्तोभमनवद्यञ्च सूत्रं सूत्रकृतो विदुः॥'

अल्प-अक्षर-युक्त, सन्देह-रहित, सार-गर्भ, व्यर्थ शब्द-हीन, व्यापक एवं अनिन्द्य अर्थ को बतानेवाले सूत्र होते हैं।

सूत्राणां सकलसारविवरणं वृत्तिः। सूत्रवृत्तिविवेचनं पद्धतिः। आक्षिप्य भाषणाद्भाष्यम्। अन्तर्भाष्यं समीक्षा। अवान्तरार्थविच्छेदश्च सा। यथासम्भवमर्थस्य टीकनं टीका। विषमपदभञ्जिका पञ्जिका। अर्थप्रदर्शनकारिका कारिका। उक्तानुक्तदुरुक्तचिन्ता वार्त्तिकमिति शास्त्रभेदाः।

सूत्रों के समस्त सार-भाग का विवरण करनेवाली व्याख्या वृत्ति कही जाती है। सूत्र पर की गई वृत्ति की विवेचना का नाम पद्धति है। ऊपर से अनेक शंकाओं को उठा (आक्षेप) करके उनका समुचित उत्तर देते हुए विस्तृत विवेचन करना भाष्य कहा जाता है। भाष्य के अवान्तर और गर्भित अर्थों के स्पष्टीकरण एवं विशिष्ट कल्पन समीक्षा कहलाते हैं। यथासम्भव सरल अर्थों का संकेत करना टीका है। केवल कठिन शब्दों का सरल शब्दों द्वारा स्पष्टीकरण पंजिका कहलाता है। सूत्र के अर्थ का सरल प्रदर्शन-मात्र करना कारिका कहा जाता है। इसी प्रकार, सूत्रों के उक्त, अनुक्त एवं दुरुक्त विषयों का विवेचन वार्त्तिक कहा जाता है—ये शास्त्रों के भेद हैं।

'भवति प्रथयन्नर्थं लीनं समभिप्लुतं स्फुटीकुर्वन्।
अल्पमनल्पं रचयन्ननल्पमल्पं च शास्त्रकविः॥'

इन शास्त्रों का ज्ञाता शास्त्रकवि वह होता है, जो शब्दों के गूढ अर्थ को प्रकट करता है, संदिग्ध या संगतिरहित अर्थ का स्पष्टीकरण करता है तथा संक्षिप्त को विस्तृत और विस्तृत को संक्षिप्त करता है।

शास्त्रैकदेशस्य प्रक्रिया प्रकरणम्। अध्यायादयस्त्ववान्तरविच्छेदाः। कृतिभिः स्वतन्त्रतया प्रणीता इत्यपरिसङ्ख्येया अनाख्येयाश्च।

शास्त्र के किसी एक भाग की प्रक्रिया का नाम प्रकरण है। किन्तु, अवान्तर विषयों के विभाग—अध्याय, सर्ग, परिच्छेद आदि शब्दों से कहे जाते हैं। इनकी रचना विद्वानों ने स्वतन्त्र रूप से की है, अतः ये असंख्य और अवर्णनीय हैं।

शब्दार्थयोर्यथावत्सहभावेन विद्या साहित्यविद्या। उपविद्यास्तु चतुःषष्टिः। ताश्च कला इति विदग्धवादः। स आजीवः काव्यस्य। तमौपनिषदिके वक्ष्यामः।

शब्द और अर्थ के यथावत् सहभाव को बतानेवाली विद्या साहित्य-विद्या कहलाती है। इस विद्या की चौंसठ उपविद्याएँ हैं, जिन्हें विद्वान् कला कहते हैं। उपविद्याएँ या कलाएँ काव्य का जीवन हैं। इनका विस्तृत विवरण औपनिषदिक प्रकरण में किया जायगा।

इत्यनन्तोऽभियुक्तानामत्र संरम्भविस्तरः।
त्यक्तो निपुणधीगम्यो ग्रन्थगौरवकारणात् ॥

इति राजशेखरकृतौ काव्यमीमांसायां कविरहस्ये प्रथमेऽधिकरणे
द्वितीयोऽध्यायः शास्त्रनिर्देशः।

इस प्रकार, संसार में विद्वानों की कृतियों—रचनाओं का विस्तर अनन्त है और कुशलबुद्धि ही उसे समझते हैं, अतः हमने ग्रन्थ के विस्तर-भय से उसे छोड़ दिया।

द्वितीय अध्याय समाप्त

तृतीयोऽध्यायः काव्यपुरुषोत्पत्तिः

एवं गुरुभ्यो गिरः पुण्याः पुराणीः शृणुमः स्म, यत्किल धिषणं शिष्याः कथाप्रसङ्गे पप्रच्छुः, कीदृशः पुनरसौ सारस्वतेयः काव्यपुरुषो वो गुरुः ? —इति। स तान् बृहताम्पतिरूचे।

तृतीय अध्याय : काव्य-पुरुष की उत्पत्ति

हम अपने गुरुजनों से प्राचीन और पवित्र वाणी इस प्रकार सुनते आये हैं कि एक बार देवगुरु बृहस्पति के शिष्यों ने बातचीत के प्रसंग में गुरुदेव से पूछा था कि हे भगवन्! ये सरस्वती के पुत्र काव्य-पुरुष कौन थे, जो आप के काव्य-विद्या-गुरु हैं। बृहस्पति ने काव्य-पुरुष की उत्पत्ति और उनके चरित्र का वर्णन इस प्रकार किया[1]—

पुरा पुत्रीयन्ती सरस्वती तुषारगिरौ तपस्यामास। प्रीतेन मनसा तां विरिञ्चिः प्रोवाच—पुत्रं ते सृजामि।

प्राचीन काल में पुत्र-प्राप्ति की इच्छा से सरस्वती ने हिमालय पर्वत पर जाकर तपस्या प्रारम्भ की। उसकी तपश्चर्या से प्रसन्न होकर ब्रह्मा ने वरदान देते हुए कहा कि मैं तेरे लिए पुत्र उत्पन्न करता हूँ।

अथैषा काव्यपुरुषं सुषुवे। सोऽभ्युत्थाय सपादोपग्रहं छन्दस्वतीं वाचमुदचीचरत्।

इस घटना के कुछ दिनों के पश्चात् सरस्वती ने काव्य-पुरुष को उत्पन्न किया। उस पुत्र ने उत्पन्न होते ही उठकर माता के चरणों का स्पर्श करते हुए छन्दोबद्ध भाषा में कहा—

'यदेतद्वाङ्मयं विश्वमर्थमूर्त्या विवर्त्तते।
सोऽस्मि काव्यपुमानम्ब ! पादौ वन्देय तावकौ॥'

हे माता! यह सारा वाङ्मय विश्व, जिसके द्वारा अर्थ-रूप में परिणत हो जाता है, वह (काव्य-पुरुष) मैं तुम्हारे चरणों की वन्दना करता हूँ।

तामाम्नायदृष्टचरीमुपलभ्य भाषाविषये छन्दोमुद्रां देवी ससम्मद-

---

१. इस कथा की कल्पना राजशेखर ने आलङ्कारिक रूप से पुराणों की शैली पर की है। यद्यपि इसके प्रारम्भिक सूत्र वायुपुराण, महाभारत और बाण के हर्षचरित में भिन्न-भिन्न रूपों में मिलते हैं। सरस्वती के पुत्र की उत्पत्ति का वर्णन बाण के हर्षचरित में अत्यन्त सुन्दर ढंग से किया गया है और च्यवनऋषि के पुत्र दधीचि द्वारा सारस्वत नामक पुत्र की उत्पत्ति बताई गई है। वायुपुराण और महाभारत में भी इसी प्रकार है। परन्तु, राजशेखर ने ब्रह्मा से ही सरस्वती को पुत्र-प्रसव होना लिखा है। इसके बाद की यात्रा—कल्पना का तात्पर्य नाट्यशास्त्र तथा भामह आदि के मतानुसार प्रवृत्तियों, वृत्तियों और रीतियों के वर्णन से है।

मङ्कपर्यङ्केनादाय तमुदलापयत् । "वत्स, सच्छन्दस्काया गिरःप्रणेत-र्वाङ्मयमातरमपि मातरं मां विजयसे । प्रशस्यतमं चेदमुदाहरन्ति यदुत 'पुत्रात्पराजयो द्वितीयं पुत्रजन्म' इति । त्वत्तः पूर्वे हि विद्वांसो गद्यं ददृशुर्न पद्यम् । त्वदुपज्ञमथातः छन्दस्वद्वचः प्रवर्त्स्यति । अहो श्लाघनीयोऽसि ।"

इस प्रकार की छन्दोवद्ध वाणी अभी तक केवल वेदों में ही देखी गई थी। उसी के समान भाषा—संस्कृत—में भी छन्दोवद्ध वाणी को सुनकर सरस्वती अत्यन्त हर्षित हुई और उस नवजात शिशु को अङ्क में लेकर प्यार करती हुई बोली—"पुत्र ! यद्यपि मैं समूचे वाङ्मय की माता हूँ, परन्तु तूने इस प्रकार की छन्दोवद्ध भाषा से आज मुझपर भी विजय प्राप्त कर ली; यह अत्यन्त हर्ष की बात है। कहा जाता है कि 'पुत्र से पराजित होना द्वितीय पुत्रजन्म के समान है।' तुमसे पूर्वज विद्वानों ने गद्य की सृष्टि की है, पद्य की नहीं। इस छन्दोबद्ध वाणी के प्रथम आविष्कारक तुम ही हो। अतः, तुम सचमुच प्रशंसनीय हो।"

"शब्दार्थौ ते शरीरं, संस्कृतं मुखं, प्राकृतं बाहुः, जघनमपभ्रंशः, पैशाचं पादौ, उरो मिश्रम् । समः प्रसन्नो मधुर उदार ओजस्वी चासि । उक्तिचणं च ते वचो, रस आत्मा, रोमाणि छन्दांसि, प्रश्नोत्तरप्रवह्लिकादिकं च वाक्केलिः, अनुप्रासोपमादयश्च त्वामलङ्कुर्वन्ति । भविष्यतोऽर्थस्याभिधात्री श्रुतिरपि भवन्तमभिस्तौति ।"

"शब्द और अर्थ तेरे शरीर हैं। संस्कृत-भाषा मुख है। प्राकृत-भाषाएँ तेरी भुजाएँ हैं। अपभ्रंश-भाषा जंघा है। पिशाच-भाषा चरण है और मिश्र-भाषाएँ वक्षःस्थल हैं। तू सम, प्रसन्न, मधुर, उदार और ओजस्वी है। (ये काव्य के गुण हैं)। तेरी वाणी उत्कृष्ट है। रस तेरी आत्मा है। छन्द तेरे रोम हैं। प्रश्नोत्तर, पहेली, समस्या आदि तेरे वाग्विनोद हैं और अनुप्रास, उपमा आदि अलंकार तुझे अलंकृत करते हैं। भावी अर्थों को बतानेवाली श्रुति (वेद) भी तेरी स्तुति करती है"—

"चत्वारि शृङ्गास्त्रयोऽस्य पादा द्वे शीर्षे सप्तहस्तासोऽस्य ।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्य (र्त्यां) माविवेश ॥"

"जिसके चार शृङ्ग (सींग) हैं, तीन पैर हैं, दो सिर हैं, सात हाथ हैं—ऐसे तीन प्रकार से बँधा हुआ और शब्द करता हुआ यह महादेव मर्त्यलोक में अवतीर्ण हुआ है।"[1]

---

१. यह मन्त्र ऋग्वेद (३-८-१०-३) में आया है। भिन्न-भिन्न शास्त्रकारों ने इस मन्त्र के अपने-अपने शास्त्रानुकूल अर्थ किये हैं। वेदभाष्यकार सायण ने इसका अर्थ यज्ञ की ओर लिया है। पतञ्जलि ने व्याकरण-महाभाष्य में इसका अर्थ व्याकरण की ओर लगाया है। भरत मुनि ने नाट्यशास्त्र के १७वें अध्याय में इसका अर्थ नाट्य और काव्य की दृष्टि से किया है, जो ग्रन्थकार राजशेखर को भी अभिमत है। विशेष विवरण भूमिका में देखिए।

"तथापि संवृणु प्रगल्भस्य पुंसः कर्म, बालोचितं चेष्टस्व।"

"फिर भी, प्रौढ पुरुषों के समान इस अपने व्यवहार को समेट लो और नवजात शिशु के समान आचरण करो।"

इति निगद्य निवेश्य चैनमनोकहाश्रयिणि गण्डशैलतलतल्पे स्नातुमभ्रगङ्गां जगाम।

सरस्वती इस प्रकार पुत्र को आशीर्वाद देकर और एक सघन वृक्ष के तल में पड़ी हुई पर्वत-शिलातल की शय्या पर उसे सुलाकर आकाशगंगा में स्नान के लिए चली गई।

तावच्च कुशान् समिधश्च समाहर्त्तुं निःसृतो महामुनिरुशनाः परिवृत्ते पूषण्यूष्मोपप्लुतं तमद्राक्षीत्। कस्यायमनाथो बाल इति चिन्तयन्स्व-माश्रमपदमनैषीत्।

इधर नित्यक्रिया के कारण कुशों और समिधों को लेने के लिए महामुनि उशना आश्रम से निकले और उन्होंने पर्वत-शिला पर चढ़ते हुए सूर्य के ताप से व्याकुल एवं विलखते हुए उस बालक को देखा। उसके आसपास अन्य किसी को न देखकर 'यह अनाथ बालक किसका है?'—ऐसा सोचते हुए उसे उठाकर अपने आश्रम में ले गये।

क्षणादाश्वस्तश्च स सारस्वतेयस्तस्मै छन्दस्वतीं वाचं समचारयत्। अकस्माद्विस्मापयन्स चाभ्युवाच।

कुछ ही समय के अनन्तर (आश्रम के प्रशान्त-पावन वातावरण में) स्वस्थ होकर बालक सरस्वती-पुत्र ने मुनि के हृदय में छन्दोवद्ध वाणी की प्रेरणा की और मुनि उशना (शुक्र) अकस्मात् बोल उठे—

"या दुग्धाऽपि न दुग्धेव कविदोग्धृभिरन्वहम्।
हृदि नः सन्निधत्तां सा सूक्तिधेनुः सरस्वती॥"—इति

'जिसे कविगण, ग्वालों के समान दिन-रात दुहते रहते हैं, फिर भी जो विना दुही-सी प्रतीत होती है, वह सूक्तियों की कामधेनु सरस्वती हमारे हृदय में निवास करे।"

तत्पूर्वकमध्येतॄणां च सुमेधस्त्वमादिदेश। ततः प्रभृति तमुशनसं सन्तः कविरित्याचक्षते। तदुपचाराच्च कवयः कवय इति लोकयात्रा। कवि-शब्दश्च 'कवृ वर्णे' इत्यस्य धातोः काव्यकर्मणो रूपम्। काव्यैकरूपत्वाच्च सारस्वतेयेऽपि काव्यपुरुष इति भक्त्या प्रयुञ्जते।

जब से कवि उशना के मुख से यह छन्दोवद्ध वाणी प्रवृत्त हुई, तभी से संसार में उशना ऋषि कवि के नाम से प्रसिद्ध हो गये और उन्हीं के कारण सभी छन्दोरचना करने-वाले कवि कहलाने लगे। कवि शब्द 'कवृ वर्णे' इस धातु से बनता है। जिसका अर्थ है—

कवि-कर्म, अर्थात् काव्य-रचना। काव्यमय होने के कारण ही सरस्वती के उस पुत्र को भी लाक्षणिक रूप में काव्यपुरुष कहा जाने लगा।

ततश्च विनिवृत्ता वाग्देवी तत्र पुत्रमपश्यन्ती मध्येहृदयं चक्रन्द। प्रसङ्गागतश्च वाल्मीकिर्मुनिवृषा सप्रश्रयं तमुदन्तमुदाहृत्य भगवत्यै भृगुसूते-राश्रमपदमदर्शयत्।

उधर सरस्वती ने स्नान करके लौटने पर पुत्र को नहीं पाया और उसके विरह में हार्दिक वेदना का अनुभव करने लगी। इतने में ही किसी प्रसंग से मुनिश्रेष्ठ वाल्मीकि उस ओर आ निकले। उन्होंने सहानुभूति के साथ सरस्वती के पुत्रहरण का समाचार सुना और भगवती को समीपस्थ भृगुपुत्र उशना के आश्रम का मार्ग प्रदर्शित किया।

सापि प्रस्नुतपयोधरा पुत्रायाङ्कपालीं ददाना शिरसि च चुम्बन्ती स्वस्तिमता चेतसा प्राचेतसायाऽपि महर्षये निभृतं सच्छन्दांसि वचांसि प्रायच्छत्।

भार्गव मुनि के आश्रम में बालक को देखकर स्तनों से दुग्धधारा बहाती हुई सरस्वती ने उसे गोद में उठा लिया और उसके सिर का चुम्बन करने लगी। पुत्र का पता बताने के कारण सरस्वती ने कृतज्ञता और कल्याण-पूर्ण हृदय से वाल्मीकि को छन्दोबद्ध रचना के लिए हार्दिक वरदान दिया।

अनुप्रेषितश्च स तया निषादनिहतसहचरीकं क्रौञ्चयुवानं करुणक्रेङ्कारया गिरा क्रन्दन्तमुदीक्ष्य शोकवान् श्लोकमुज्जगाद।

वाल्मीकि मुनि सरस्वती से आज्ञा प्राप्त कर जब अपने आश्रम को लौट रहे थे, तब वे निषाद के बाण से सहचरी (मादा) के मारे जाने पर अति करुण क्रेङ्कार स्वर से क्रन्दन करते हुए युवा क्रौंच पक्षी (नर) को देखकर (अत्यन्त) शोक-संतप्त हुए और श्लोकमय वाणी में निषाद से बोले—

"मा निषाद ! प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः।
यत्क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्॥"

"हे निषाद ! तूने कामकेलि-रत इस क्रौंच-मिथुन में से एक को मार डाला, अतः तू भी अधिक दिनों तक जीवित न रहना। (शाश्वत वर्षों तक प्रतिष्ठा न प्राप्त कर सको।)"

ततो दिव्यदृष्टिर्देवी तस्मा अपि श्लोकाय वरमदात्, यदुतान्यद-नधीयानो यः प्रथममेनमध्येष्यते स सारस्वतः कविः सम्पत्स्यत इति।

दिव्यदृष्टि द्वारा जब सरस्वती को यह समाचार मालूम हुआ, तब उसने वाल्मीकि के मुँह से निकले हुए उस श्लोक को भी वरदान दिया कि 'जो कुछ न पढ़कर सबसे प्रथम इस श्लोक का अध्ययन करेगा, वह सारस्वत (स्वाभाविक) कवि होगा।'

स तु महामुनिः प्रवृत्तवचनो रामायणमितिहासं समदृभत्; द्वैपायनस्तु श्लोकप्रथमाध्यायी तत्प्रभावेन शतसाहस्रीं संहितां भारतम्।

ऋषि वाल्मीकि ने भी इस प्रकार स्वाभाविक वाणी के प्रवृत्त होने पर रामायण नामक इतिहास का प्रणयन किया और इसी श्लोक को सबसे पहले पढ़कर द्वैपायन मुनि व्यास ने इसी के प्रभाव से एक लाख श्लोकों की महाभारत-संहिता का निर्माण किया।

एकदा तु ब्रह्मर्षिवृन्दारकयोः श्रुतिविवादे दाक्षिण्यवान्देवः स्वयम्भूस्तामिमां निर्णेत्रीमुद्दिदेश। उपश्रुतवृत्तान्तश्च मातरं व्रजन्तीं सोऽनुवव्राज। वत्स, परमेष्ठिनाऽननुमतस्य ते न ब्रह्मलोकयात्रा निःश्रेयसायेत्यभिदधाना हठान्न्यवर्त्तयदेनमात्मना तु प्रवव्रृते।

एक बार ब्रह्मलोक में ब्रह्मर्षियों और देवताओं में किसी वैदिक विषय पर विवाद हो गया। उसका निर्णय करने के लिए चतुर ब्रह्मा ने सरस्वती को निर्णेत्री बनने का आदेश दिया। इसलिए, सरस्वती मर्त्यलोक को छोड़कर ब्रह्मलोक की ओर चल पड़ी। माता को जाते हुए देखकर पुत्र काव्यपुरुष भी साथ जाने के लिए तैयार हो गया। सरस्वती ने कहा—'पुत्र! भगवान् ब्रह्मदेव ने तुम्हें आने की आज्ञा नहीं दी है, इसलिए उनकी आज्ञा के विना तुम्हारा ब्रह्मलोक में जाना कल्याणकारक न होगा।' ऐसा कहकर सरस्वती ने उसे हठात् मर्त्यलोक में लौटा दिया और स्वयं तो ब्रह्मलोक को चली गई।

ततः स काव्यपुरुषो रुषा निश्चक्राम। प्रियं मित्रमस्य च कुमारः साक्रन्दं रुदन्नभ्यधीयत गौर्या—तात, तूष्णीमास्स्व, साऽहमेषा निषेधामीति निगदन्ती समचिन्तयत्। प्रायः प्राणभृतां प्रेमाणमन्तरेण नान्यद् बन्धनमस्ति, तदेतस्य वशीकरणं कामपि स्त्रियं सृजामीति विचिन्तयन्ती साहित्यविद्यावधूमुदपादयदादिशच्चैनामेष ते रुषा धर्मपतिः पुरः प्रतिष्ठते, तदनुवर्त्तस्वैनं निवर्त्तय च। भवन्तोऽपि हन्त मुनयः काव्यविद्यास्नातकाश्चरितमेतयोः स्तुध्वमेतद्धि वः काव्यसर्वस्वं भविष्यतीत्यभिधाय भगवती भवानी जोषमासिष्ट। तेऽपि तथा कर्त्तुमवतस्थिरे।

माता के इस व्यवहार से रुष्ट होकर काव्यपुरुष अपने स्थान से निकल पड़ा। उसे जाते हुए देखकर उसका प्रियमित्र गौरीपुत्र कुमार (कार्त्तिकेय) रोने लगा। माता गौरी ने उसे समझाते हुए कहा—'पुत्र, रो मत, मैं उसे समझाती हूँ।' ऐसा कहकर पार्वती सोचने लगी कि 'प्राणियों के लिए प्रेम के सिवा दूसरा दृढ बन्धन नहीं है। इसलिए, भागते हुए काव्यपुरुष को वश में करने के लिए किसी स्त्री को उत्पन्न करती हूँ।'—ऐसा सोचकर पार्वती ने साहित्य-विद्यावधू को उत्पन्न किया और उसे आज्ञा दी कि 'तेरा धर्मपति क्रुद्ध होकर वह आगे जा रहा है। उसके पीछे जाकर उसे मनाकर लौटा ला।'

उधर मुनियों से कहा कि 'तुम काव्यविद्या के स्नातक हो, इसलिए इन दोनों के पीछे जाओ और दोनों की स्तुति करो। क्योंकि, यही तुम्हारे लिए काव्य का सर्वस्व होगा।' ऐसा कहकर भगवती भवानी चुप होकर बैठ गईं और वे भी वैसा करने के लिए प्रस्तुत हो गये।

अथ सर्वे प्रथमं प्राचीं दिशं शिश्रियुर्यत्राङ्गवङ्गसुह्मब्रह्मपुण्ड्राद्या जनपदाः। तत्राऽभियुञ्जाना तमौमेयी यं वेषं यथेष्टमसेविष्ट। स तत्रत्याभिः स्त्रीभिरन्वक्रियत। सा प्रवृत्तिरौड्रमागधी। तां ते मुनयोऽभितुष्टुवुः—

वे सब, अर्थात् साहित्य-विद्यावधू एवं काव्यविद्या-स्नातक मुनिजन, काव्य-पुरुष के पीछे-पीछे पूर्व दिशा की ओर चल पड़े। पूर्वदेश[1] के अंग, वंग, सुह्म, ब्रह्म एवं पुंड्र आदि जनपदों में इन लोगों के पहुँचने पर वहाँ के निवासियों ने उमा की पुत्री साहित्य-वधू के वेष का इच्छानुसार अनुसरण किया। यह अनुसरण वहाँ की स्त्रियों ने किया। उस वेष-प्रवृत्ति का नाम औड्र-मागधी प्रवृत्ति है। इस प्रवृत्ति की स्तुति काव्यविद्या-स्नातक मुनियों ने इस प्रकार की—

"आर्द्रार्द्रचन्दनकुचार्पितसूत्रहारः
सीमन्तचुम्बिसिचयः स्फुटबाहुमूलः।
दूर्वाप्रकाण्डरुचिरास्वगुरूपभोगाद्
गौडाङ्गनासु चिरमेष चकास्तु वेषः॥"

"अगुरु (सुगन्ध द्रव्य) की धूलि से धूसर, अतएव दूर्वा के डंठल के समान गौर शरीरवाली गौड (वंग) देश की ललनाओं में यह वेष चिरकाल तक सुशोभित हो, जिसमें गीले चन्दन से लिप्त कुचों पर हारों के सूत्र चिपके हुए हैं, जिसमें घूँघट मस्तक का चुम्बन करते हैं और बाहुमूल (काँख) का स्पष्ट रूप से प्रदर्शन हो रहा है।"

यदृच्छयाऽपि यादृङ्नेपथ्यः स सारस्वतेय आसीत् तद्वेषाश्च पुरुषा बभूवुः। साऽपि सैव प्रवृत्तिः। यदपरं नृत्तवाद्यादिकमेषा चक्रे सा भारती वृत्तिः। तां ते मुनय इति समानं पूर्वेण।

उन जनपदों के निवासी पुरुषों ने भी उस काव्यपुरुष के कुछ अव्यवस्थित-से वेष का अनुकरण किया। इस वेष की रचना-प्रवृत्ति का नाम भी औड्र-मागधी है। साहित्य-वधू ने इस देश में नृत्य-गान आदि का जो प्रदर्शन किया, उसका अनुकरण स्त्रियों ने किया। उसका नाम भारती-वृत्ति है। इस वृत्ति की भी मुनियों ने प्रशंसा की।

---

१. इन देशों का तथा आगे वर्णित देशों का विस्तृत परिचय, सप्तदश अध्याय के भूगोल-वर्णन-प्रसङ्ग में, विशद रूप से परिशिष्ट प्रकरण में प्रदर्शित किया गया है। अतः, यहाँ इनका स्पष्टीकरण नहीं किया गया। वहीं देखिए।

तथाविधाकल्पयापि तया यद्ऽवशंवदीकृतः समासवदनुप्रासवद्योगवृत्तिपरम्परागर्भं जगाद सा गौडीया रीतिः। तां ते मुनय इति समानं पूर्वेण।

पूर्वदेश में साहित्य-वधू ने इस प्रकार की वेष-रचना आदि द्वारा काव्यपुरुष को रिझाने का जो प्रयत्न किया, उससे उसे विशेष आकर्षण नहीं हुआ और उसने जो कुछ भी बातें कीं, उनमें लम्बे समासों और अनुप्रासों की तथा योगवृत्ति (अभिधा) की परम्परा (प्रवृत्ति) प्रकट होती थी। इस प्रकार की काव्यरचना-प्रवृत्ति का नाम 'गौडी रीति' है। काव्यविद्या-स्नातक मुनियों ने इस रीति की भी स्तुति की।

वृत्तिरीतिस्वरूपं यथावसरं वक्ष्यामः।

भारती आदि वृत्तियों, औड्र-मागधी आदि प्रवृत्तियों तथा गौडी-पांचाली आदि रीतियों के स्वरूप अगले प्रकरणों में विस्तृत रूप से कहे जायेंगे।

ततश्च स पाञ्चालान्प्रत्युच्चचाल यत्र पाञ्चालशूरसेनहस्तिनापुरकाश्मीरवाहीकबाह्लीकबाह्लवेयादयो जनपदाः। तत्राऽभियुञ्जाना तमौमेयीति समानं पूर्वेण। सा पाञ्चालमध्यमा प्रवृत्तिः। तां ते मुनयोऽभितुष्टुवुः—

इसके उपरान्त काव्यपुरुष पांचाल देश की ओर चला, जिस देश में पांचाल, शूरसेन, हस्तिनापुर, काश्मीर, वाहीक, वाह्लीक, बाह्लवेय आदि प्रसिद्ध जनपद हैं। वहाँ के निवासियों ने भी साहित्य-वधू का इच्छानुसार अनुसरण किया। वहाँ की स्त्रियों ने तो विशेष रूप से वधू के वेश का अनुकरण किया। वह पांचालमध्यमा प्रवृत्ति कही जाती है। स्नातक मुनियों ने उस वेश की इस प्रकार प्रशंसा की—

"ताडङ्कवल्गनतरङ्गितगण्डलेख-
मानाभिलम्बिदरदोलिततारहारम्।
आश्रोणिगुल्फपरिमण्डलितान्तरीयं
वेषं नमस्यत महोदयसुन्दरीणाम्॥"

"कन्नौज की सुन्दरियों का वेश नमस्कार करने योग्य (वन्दनीय) है, जिसमें कर्णाभरण (कर्णफूल) के हिलने से कपोल तरंगित हो रहे हैं, जो नाभि-पर्यन्त लटकते हुए लम्बे शुद्ध मुक्ताहारों से शोभित है और जिसमें कमर से घुट्टी (टखना)-पर्यन्त लटकते हुए घाँघरे (लहँगे) लहराते हैं।"

किञ्चिदार्द्रितमना यन्नेपथ्यः स सारस्वतेय आसीदिति समानं पूर्वेण। सापि यदीषन्नृत्तगीतवाद्यविलासादिकं दर्शयाम्बभूव सा सात्त्वती वृत्तिः। आविद्धगतिमत्त्वात्सा चारभटी। तां ते मुनय इति समानं पूर्वेण।

तथाविधाकल्पयापि तया यदीषद्वशंवदीकृत ईषदसमासं ईषदनुप्रासमुपचारगर्भञ्च जगाद सा पाञ्चाली रीतिः। तां ते मुनय इति समानं पूर्वेण।

इस देश में आकर काव्यपुरुष का मन साहित्य-वधू की ओर कुछ-कुछ सरस और आकृष्ट होने लगा था। अतः, उस समय उस वधू का जैसा वेष था, उसका पाञ्चाल देश के पुरुषों ने भी अनुकरण किया और मुनियों ने उसकी प्रशंसा की। वधू ने भी काव्य-पुरुष को रिझाने के लिए जो नृत्य, गीत, वाद्य आदि का प्रदर्शन किया, उसका नाम 'सात्वती वृत्ति' है। इसे ही, कुटिल गति हो जाने पर 'आरभटी वृत्ति' भी कहते हैं। इसकी मुनियों ने प्रशंसा की। इस प्रकार के आयोजन से कुछ सरसहृदय होकर काव्य-पुरुष ने जो छोटे-छोटे समास तथा अल्प अनुप्रास-युक्त एवं लाक्षणिक (लक्षणावृत्ति-युक्त) वाक्यों का प्रयोग किया, उसका नाम पाञ्चाली रीति है। इस रीति की भी मुनियों ने प्रशंसा की।

ततः सोऽवन्तीन्प्रत्युच्चचाल यत्रावन्तीवैदिशसुराष्ट्रमालवार्बुदभृगुकच्छादयो जनपदाः। तत्राऽभियुञ्जाना तमौमेयीति समानं पूर्वेण। सा प्रवृत्तिरावन्ती। पाञ्चालमध्यमादाक्षिणात्ययोरन्तरचारिणी हि सा। अत एव सात्त्वतीकैशिक्यौ तत्र वृत्ती। तां ते मुनयोऽभितुष्टुवुः—

इसके अनन्तर वह काव्यपुरुष अवन्तिदेश की ओर चला। जहाँ अवन्ती, वैदिश, सुराष्ट्र, मालव, अबुद, भृगुकच्छ आदि जनपद हैं। उस देश में रहनेवालों ने उसी प्रकार साहित्य-वधू के वेश का अनुसरण किया, विशेषतः स्त्रियों ने। उसका नाम 'आवन्ती प्रवृत्ति' है। यह 'आवन्ती प्रवृत्ति' पाञ्चाल और दक्षिण के प्रवृत्तियों के मध्य की प्रवृत्ति है। अतः, अवन्ति देश की दो वृत्तियाँ है—सात्त्वती और कैशिकी[1]। इस वृत्ति की मुनियों ने इस प्रकार प्रशंसा की—

"पाञ्चालनेपथ्यविधिर्नराणां स्त्रीणां पुनर्नन्दतु दाक्षिणात्यः।
यज्जल्पितं यच्चरितादिकं तदन्योन्यसम्भिन्नमवन्तिदेशे॥"

---

१. कथानक का तात्पर्य यह है कि भारत के पूर्वभाग में काव्य-रचना में औड्र-मागधी प्रवृत्ति, भारती-वृत्ति और गौडीया रीति का प्रयोग होता है। पाञ्चाल देश में पाञ्चाली-मध्यमा प्रवृत्ति, सात्त्वती या आरभटी प्रवृत्ति तथा पाञ्चाली रीति से काव्य-रचना होती है। अवन्ति देश में आवन्ति प्रवृत्ति, सात्त्वती और कैशिकी वृत्ति प्रचलित है तथा दक्षिण देश में दाक्षिणात्या प्रवृत्ति, कैशिकी वृत्ति और वैदर्भी रीति के अनुसार रचना होती है। यद्यपि देश अनेक हैं, किन्तु काव्य-रचना की दृष्टि से उसके इतने ही विभाग हैं। इनका विशेष विस्तृत विवरण भरत के नाट्यशास्त्र (अध्याय १३) तथा भामह एवं दण्डी आदि के अलङ्कार-ग्रन्थों में देखना चाहिए। पूर्वदिशा में साहित्य-वधू काव्यपुरुष का आकर्षण नहीं कर सकी और उसके अनन्तर क्रमशः काव्यपुरुष का आकर्षण बढ़ने लगा। इसका तात्पर्य भी यही है कि काव्य-रचनाशैली में क्रमशः सुधार और सरलता होने लगी। अन्त में वैदर्भी रीति की रचना सर्वोत्कृष्ट रही। इससे काव्यपुरुष में प्रसन्नता या प्रसादगुण अधिक मात्रा में उत्पन्न हुआ।

पाञ्चाल देश के पुरुषों और दक्षिण देश की स्त्रियों का वेश, भाषण, व्यवहार आदि प्रशंसनीय होते हैं और इन दोनों देशों का सम्मिश्रण अवन्ति देश में है।

ततश्च स दक्षिणां दिशमाससाद यत्र मलयमेकलकुन्तलकेरलपाल-मञ्जरमहाराष्ट्रवङ्गकलिङ्गादयो जनपदाः। तत्राऽभियुञ्जाना तमौमेयीति समानं पूर्वेण। सा दाक्षिणात्या प्रवृत्तिः। तां ते मुनयोऽभितुष्टुवुः—

इसके अनन्तर काव्यपुरुष दक्षिण दिशा की ओर चला, जहाँ मलय, मेकल, कुन्तल, केरल, पाल, मंजर, महाराष्ट्र, वंग, कलिंग आदि जनपद हैं। वहाँ के रहनेवालों ने साहित्य-वधू के वेश का इच्छानुसार अनुसार किया, स्त्रियों ने विशेष रूप से। यह 'दाक्षिणात्या प्रवृत्ति' है। स्नातक मुनियों ने इसकी इस प्रकार स्तुति की—

"आमूलतो वलितकुन्तलचारुचूड-
श्चूर्णालकप्रचयलाञ्छितभालभागः।
कक्षानिवेशनिबिडीकृतनीविरेष
वेषश्चिरं जयति केरलकामिनीनाम् ॥"

मूल से लेकर गुँथे हुए केशों का सुन्दर वन्धन, घुँघराली लटों से ललित ललाट और भुजाओं के नीचे से कसकर बाँधी हुई साड़ियाँ—यह केरल-कामिनियों का कमनीय वेश असाधारण शोभावाला मालूम होता है।

तामनुरक्तमनाः स यन्नेपथ्यः सारस्वतेय आसीदिति समानं पूर्वेण। सापि यद्विचित्रनृत्तगीतवाद्यविलासादिकमाविर्भावयामास सा कैशिकीवृत्तिस्तां ते मुनय इति समानं पूर्वेण। यदत्यर्थं च स तया वशंवदीकृतः स्थाना-नुप्रासवदसमासं योगवृत्तिगर्भञ्च जगाद सा वैदर्भी रीतिः। तां ते मुनय इति समानं पूर्वेण। तत्र वेषविन्यासक्रमः प्रवृत्तिः, विलासविन्यासक्रमो वृत्तिः, वचनविन्यासक्रमो रीतिः।

यहाँ आने तक सरस्वती-पुत्र काव्यपुरुष का मन साहित्य-विद्यावधू की ओर अनुरक्त हो चुका था। अतः, यहाँ उसने अनुरागवश जिस वेष को धारण किया था, उस वेष का वहाँ के पुरुषों ने अनुकरण किया। साहित्य-वधू ने भी इस देश में जो विचित्र नाच, गान, वाद्य आदि विलास-क्रियाएँ कीं, उसका नाम 'कैशिकी वृत्ति' है। स्नातक मुनियों ने इसकी भी प्रशंसा की।

इस प्रकार, इतने दिनों तक निरन्तर साथ रहने के कारण काव्यपुरुष साहित्य-विद्यावधू की ओर पूर्णरूपेण आकृष्ट होकर सर्वथा वश में हो गया। अतः, उसने प्रसन्न चित्त से यथास्थान अनुप्रास-युक्त, समास-रहित और योगवृत्ति (अभिधा-वृत्ति)-पूर्ण जो भाषण किया, उसका नाम 'वैदर्भी रीति' है। इसकी भी मुनियों ने प्रशंसा की। उन-उन

देशों के वेषविन्यास-क्रम का नाम प्रवृत्ति, नाच-गान आदि विलास-विन्यास का नाम वृत्ति और वचन-विन्यास का नाम रीति है।

'चतुष्टयी गतिर्वृत्तीनां प्रवृत्तीनां च, देशानां पुनरानन्त्यं तत्कथमिव कार्त्स्न्येन परिग्रहः' इत्याचार्याः। अनन्तानपि हि देशांश्चतुर्धैवाकल्प्य कल्पयन्ति। 'चक्रवर्त्तिक्षेत्रं सामान्येन तदवान्तरविशेषैः पुनरनन्ता एव' इति यायावरीयः।

आचार्यों का प्रश्न है कि वृत्ति और प्रवृत्ति तो चार प्रकार की ही कही गई है। किन्तु, देश अनन्त हैं। इस स्थिति में चार वृत्तियों और प्रवृत्तियों में सभी देशों का अन्तर्भाव कैसे हो सकेगा? यायावरीय राजशेखर का कथन है कि उन अनन्त देशों को चार भागों में विभक्त करके कविगण कार्य-निर्वाह करते हैं। यह सारा देश सामान्यरूप से चक्रवर्त्तिक्षेत्र कहा जाता है और उसके अन्दर भीतरी विशेषताओं के कारण छोटे-छोटे देश अनन्त हैं।

दक्षिणात्समुद्रादुदीचीं दिशं प्रति योजनसहस्रं चक्रवर्त्तिक्षेत्रं, तत्रैष नेपथ्यविधिः। ततः परं दिव्याद्या अपि यं देशमधिवसेयुस्तद्देश्यं वेषमाश्रयन्तो निबन्धनीयाः। स्वभूमौ तु कामचारः। द्वीपान्तरभवानां तदनुसारेण वृत्तिप्रवृत्ती।

दक्षिण समुद्र से उत्तर दिशा-पर्यन्त एक सहस्र योजन (८००० मील का) चक्रवर्त्ती-क्षेत्र है। इस चक्रवर्त्ती-क्षेत्र की वेष-भूषाओं का वर्णन किया गया है। इसके आगे के दिव्य आदि देशों का वर्णन करने की आवश्यकता हो, तो कवियों को उन देशों की वेष-भूषा का वर्णन करना चाहिए। अपने देश में अपनी इच्छा के अनुसार वर्णन करना चाहिए और द्वीपान्तरीय वर्णन उन-उन द्वीपों के वेष-विन्यास, आचार-व्यवहार आदि को जानकर उसके अनुसार करना चाहिए।

रीतयस्तु तिस्रस्तास्तु पुरस्तात्।

रीतियाँ तीन प्रकार की हैं। इन्हें आगे चलकर कहा जायगा।

तत्रास्ति मनोजन्मनो देवस्य क्रीडावासो विदर्भेषु वत्सगुल्मं नाम नगरम्। तत्र सारस्वतेयस्तामौमेयीं गन्धर्ववत्परिणिनाय। ततस्तद्वधूवरं विनिवृत्त्य तेषु प्रदेशेषु विहरमाणं तुषारगिरिमेवाजगाम, यत्र गौरी सरस्वती च मिथः सम्बन्धिन्यौ तस्थतुः। तौ च कृतवन्दनौ दम्पती दत्त्वाशिषं प्रभावमयेन वपुषा कविमानसनिवासिनौ चक्रतुः।

विदर्भ देश में भगवान् कामदेव की क्रीडाभूमि वत्सगुल्म नाम का नगर है। उस नगर में काव्यपुरुष ने साहित्य-वधू का पाणिग्रहण गान्धर्व विधि से किया, अर्थात्

गान्धर्व विवाह किया। वहाँ से लौटकर वह वर-वधू की जोड़ी, विभिन्न देशों में विहार करती हुई फिर उसी हिमालय की ओर आई, जहाँ गौरी और सरस्वती दोनों समधिनें एक साथ बैठी हुई थीं। उस नवदम्पती ने दोनों की चरण-वन्दना की और दोनों ने दम्पती को आशीर्वाद देकर प्रभावमय शरीर से कवियों के हृदय में उनका निवास-स्थान निश्चित कर दिया।

तयोश्च कविलोकस्वर्गसर्गं तमकल्पतां, यत्र काव्यमयेन शरीरेण मर्त्यमधिवसन्तो दिव्येन देहेन कवय आकल्पं मोदन्ते।

इस प्रकार उन दोनों के लिए कविलोक-रूपी नवीन स्वर्ग की सृष्टि की गई, जिसमें कविजन काव्यमय शरीर से मर्त्यलोक में और दिव्य शरीर से स्वर्गलोक में प्रलय-पर्यन्त निवास करते हैं।

इत्येष काव्यपुरुषः पुरा सृष्टः स्वयम्भुवा।
एवं विभज्य जानानः प्रेत्य चेह च नन्दति॥

इस प्रकार, स्वयम्भू ब्रह्मदेव ने काव्यपुरुष की सृष्टि की। इस कथा को विवेक-पूर्वक जाननेवाला कवि इहलोक और परलोक दोनों में आनन्दमय रहता है।

॥ इति राजशेखरकृतौ काव्यमीमांसायां कविरहस्ये प्रथमेऽधिकरणे
तृतीयोऽध्यायः काव्यपुरुषोत्पत्तिः ॥५॥

तृतीय अध्याय समाप्त[1]

१. इस अध्याय में ग्रन्थकार ने उशना कवि और प्राचेतस वाल्मीकि आदि की काव्योत्पत्ति-कथाओं का एक काल्पनिक कथानक में समावेश करके काव्य और इसकी सहायक साहित्य-विद्या का सम्बन्ध प्रदर्शित करते हुए विभिन्न देश की कविता-शैलियों का संक्षिप्त वर्णन किया है। इस अध्याय के सम्बन्ध में विस्तृत विवेचन भूमिका में किया गया है। वहीं देखिए।

चतुर्थोऽध्यायः पदवाक्यविवेकः

द्विविधं शिष्यमाचक्षते यदुत बुद्धिमानाहार्यबुद्धिश्च। यस्य निसर्गतः शास्त्रमनुधावति बुद्धिः स बुद्धिमान्। यस्य च शास्त्राभ्यासः संस्कुरुते बुद्धिमसावाहार्यबुद्धिः।

चतुर्थ अध्याय : पदवाक्यविवेक[1]

शिष्य और प्रतिभा[2]

पिछले अध्याय में एक कल्पित कथानक द्वारा काव्य की उत्पत्ति, एवं स्वरूप आदि का विवेचन किया गया है। अब इस अध्याय में काव्यविद्या के अधिकारी और काव्य की जननी प्रतिभा का विशद विवेचन किया जायगा।

शिष्य दो प्रकार के होते हैं—बुद्धिमान् और आहार्यबुद्धि। जिसकी बुद्धि शास्त्रों और सूक्ष्म तत्त्वों के ज्ञान में स्वभावतः झुकती है और उन्हें ग्रहण करती है, वह बुद्धिमान् शिष्य कहा जाता है तथा जिसकी बुद्धि शास्त्र एवं गुरूपदेश द्वारा संस्कृत-परिष्कृत होने पर तत्त्वज्ञान के योग्य बनती है, उसे आहार्यबुद्धि शिष्य कहते हैं।

त्रिधा च सा—स्मृतिर्मतिः प्रज्ञेति। अतिक्रान्तस्यार्थस्य स्मर्त्री स्मृतिः। वर्त्तमानस्य मन्त्री मतिः। अनागतस्य प्रज्ञात्री प्रज्ञेति। सा त्रिप्रकाराऽपि कवीनामुपकर्त्री।

बुद्धि तीन प्रकार की होती है—स्मृति, मति और प्रज्ञा। पिछले अनुभूत विषयों का स्मरण रखनेवाली बुद्धि स्मृति कहलाती है। वर्त्तमान विषयों का मनन करने-वाली बुद्धि का नाम मति और भविष्यदर्शिनी या दीर्घदर्शिनी बुद्धि का नाम प्रज्ञा है। तीनों प्रकार की बुद्धि कवि के लिए उपकारक और आवश्यक है।

तयोर्बुद्धिमान् शुश्रूषते शृणोति गृह्णीते धारयति विजानात्यूहतेऽपोहति तत्त्वं चाभिनिविशते। आहार्यबुद्धेरप्येत एव गुणाः किन्तु प्रशास्तारमपेक्षन्ते। अहरहः सुगुरूपासना तयोः प्रकृष्टो गुणः। सा हि बुद्धिविकाशकामधेनुः। तदाहुः—

---

१. इस अध्याय से काव्यमीमांसा के प्रथम अधिकरण 'कविरहस्य' का प्रारम्भ होता है। पिछले तीन अध्याय सम्पूर्ण काव्यमीमांसा की भूमिका-रूप थे, जिनमें काव्य की उत्पत्ति, विषय, प्रयोजन और फल बताये गये। इसका विस्तृत विवेचन भूमिका में किया गया है।

२. ग्रन्थकार ने इस अध्याय का नाम 'पदवाक्यविवेक' रखा है। यह शीर्षक विषय के अनुसार रखा गया है। इस विषय का सम्बन्ध ४, ५ और ६ इन तीन अध्यायों से है। उसी के अन्तर्गत इस चतुर्थ अध्याय में काव्यविद्या के अधिकारी शिष्य और काव्य की आधारभूत प्रतिभा का विवेचन किया गया है।

उक्त दो प्रकार के शिष्यों में बुद्धिमान् शिष्य, सुनने की इच्छा करता है, सुनता है, समझता है, हृदय में धारण करता है, मनन करता है, उसपर नवीन शंकाएँ करता है, उनका समाधान करता है और अन्त में उसके तत्त्व का ज्ञान करता है। आहार्यबुद्धि शिष्य में भी ये गुण होते हैं, परन्तु उसे पथप्रदर्शक या शिक्षक की सहायता अपेक्षित होती है। सर्वथा योग्य गुरु की उपासना दोनों प्रकार के शिष्यों का सर्वोत्तम गुण है। क्योंकि, गुरुसेवा बुद्धि-विकास के लिए कामधेनु के समान है। जैसा कि प्राचीन लोगों ने कहा है—

"प्रथयति पुरः प्रज्ञाज्योतिर्यथार्थपरिग्रहे
तदनु जनयत्यूहापोहक्रियाविशदं मनः।
अभिनिविशते तस्मात्तत्त्वं तदेकमुखोदयं
सह परिचयो विद्यावृद्धैः क्रमादमृतायते॥"

विद्यावृद्ध या विद्वान् गुरुजनों का सहवास क्रमशः अमृत के समान काम करता है। उनके सहवास से बुद्धि-विकास का क्रम इस प्रकार है—सबसे प्रथम प्रज्ञा-बुद्धि को यथार्थ वस्तु-ज्ञान के लिए प्रकाश प्राप्त होता है, उसके अनन्तर मन, विविध शंका-समाधानों की कल्पना करने में समर्थ होता है और अन्त में वह मन, एक निश्चित सिद्धान्त या तत्त्वज्ञान को प्राप्त कर लेता है।

ताभ्यामन्यथाबुद्धिर्दुर्बुद्धिः। तत्र बुद्धिमतः प्रतिपत्तिः। स खलु सकृदभिधानप्रतिपन्नार्थः कविमार्गंमृगयितुं गुरुकुलमुपासीत। आहार्यबुद्धेस्तु द्वयमप्रतिपत्तिः सन्देहश्च। स खल्वप्रतिपन्नमर्थं प्रतिपत्तुं सन्देहं च निराकर्त्तुमाचार्यानुपतिष्ठेत।

इन दोनों के अतिरिक्त तृतीय श्रेणी के शिष्य को दुर्बुद्धि समझना चाहिए। इन दोनों प्रकार के शिष्यों में बुद्धिमान् शिष्य स्वभावतः ज्ञानवान् होता है। एक बार संकेत-मात्र कर देने से ही तत्त्व समझ लेनेवाले ऐसे शिष्य को कविता-प्राप्ति के लिए गुरुकुल में अवश्य प्रवेश करना चाहिए। आहार्यबुद्धि शिष्य को एक बार संकेत करने से ज्ञान भी नहीं होता और ज्ञान होने पर भी सन्देह बना रहता है। अतः, उसे अवश्य इन दोनों दोषों को दूर करने के लिए आचार्यों के समीप रहकर काव्यनिर्माण-शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए।

दुर्बुद्धेस्तु सर्वत्र मतिविपर्यास एव। स हि नीलीमेचकितसिचयकल्पोऽनाधेयगुणान्तरत्वात्तं यदि सारस्वतोऽनुभावः प्रसादयति तमौपनिषदिके वक्ष्यामः।

तृतीय श्रेणी का दुर्बुद्धि शिष्य विशेष शिक्षा द्वारा भी ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता। उसकी बुद्धि नीले रंग से रँगे हुए वस्त्र के समान है, जिसपर दूसरा रंग नहीं

चढ़ सकता। हाँ, सरस्वती की विशेष कृपा या वर-प्रदान से वह भी कवि बन सकता है। इसे 'औपनिषदिक' प्रकरण में सविस्तर कहा जायगा।[१]

'काव्यकर्मणि कवेः समाधिः परं व्याप्रियते' इति श्यामदेवः। मनस एकाग्रता समाधिः। समाहितं चित्तमर्थान्पश्यति। उक्तञ्च—

श्यामदेव का मत है कि कवि को कविता करने में समाधि की परम आवश्यकता है। समाधि का अर्थ मन की एकाग्रता है। एकाग्रचित्त व्यक्ति विविध सूक्ष्म विषयों का चिन्तन कर सकता है। कहा है—

"सारस्वतं किमपि तत्सुमहारहस्यं
यद्गोचरे च विदुषां निपुणैकसेव्यं।
तत्सिद्धये परमयं परमोऽभ्युपायो
यच्चेतसो विदितवेद्यविधेः समाधिः॥"

सरस्वती का रहस्य (काव्य-निर्माण) महान् गम्भीर और अवर्णनीय है। वह अत्यन्त निपुण विद्वानों के ज्ञान का विषय है किन्तु, उसकी प्राप्ति का एकमात्र उपाय है—ज्ञानपूर्ण मन की समाधि, अर्थात् एकाग्रता।

'अभ्यासः' इति मङ्गलः। अविच्छेदेन शीलनमभ्यासः। स हि सर्वगामी सर्वत्र निरतिशयं कौशलमाधत्ते। समाधिरान्तरः प्रयत्नो बाह्यस्त्वभ्यासः। तावुभावपि शक्तिमुद्भासयतः। 'सा केवलं काव्ये हेतुः' इति यायावरीयः।

मंगल नामक विद्वान् का मत है कि 'काव्य-निर्माण के लिए अभ्यास ही प्रधान कारण है। निरन्तर अनुशीलन का नाम अभ्यास है। अभ्यास सभी विषयों के लिए आवश्यक है और उसके द्वारा उत्कृष्टतम कुशलता प्राप्त होती है। वास्तव में समाधि या एकाग्रता आन्तरिक प्रयत्न है और अभ्यास बाह्य। समाधि और अभ्यास ये दोनों कवित्व-शक्ति को उत्पन्न करते हैं। 'वह शक्ति ही काव्य-निर्माण में प्रधान कारण होती है'—यह मत राजशेखर का है।

विप्रसृतिश्च सा प्रतिभाव्युत्पत्तिभ्याम्। शक्तिकर्तृके हि प्रतिभाव्युत्पत्तिकर्मणी। शक्तस्य प्रतिभाति शक्तश्च व्युत्पद्यते। या शब्दग्राममर्थसार्थमलङ्कारतन्त्रमुक्तिमार्गमन्यदपि तथाविधमधिहृदयं प्रतिभासयति सा प्रतिभा। अप्रतिभस्य पदार्थसार्थः परोक्ष इव, प्रतिभावतः पुनरपश्यतोऽपि प्रत्यक्ष इव। यतो मेधाविरुद्रकुमारदासादयो जात्यन्धाः कवयः श्रूयन्ते।

---

१. कौटिलीय अर्थशास्त्र में यही तीन प्रकार के पुत्र कहे गये हैं। देखिए—कौटिल्य अर्थशास्त्र, १-१७।

शक्ति,[1] प्रतिभा और व्युत्पत्ति से भिन्न (पृथक्) वस्तु है। वास्तव में शक्ति कर्तृरूप है और प्रतिभा तथा व्युत्पत्ति कर्मरूप। शक्तिवाले में प्रतिभा उत्पन्न होती है और शक्तिसम्पन्न ही व्युत्पन्न होता है। प्रतिभा, शब्दों के समूह को, अर्थों के समुदाय को, अलंकारों एवं सुन्दर उक्तियों को तथा अन्यान्य काव्य-सामग्री को हृदय के भीतर प्रतिभासित करती है। जिसे प्रतिभा नहीं है, उसके लिए प्रत्यक्ष दीखते हुए भी अनेक पदार्थ परोक्ष-से मालूम होते हैं और प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्ति के लिए अनेक अप्रत्यक्ष पदार्थ भी प्रत्यक्ष-से प्रतीत होते हैं। क्योंकि, सुनते हैं,[2] मेधाविरुद्र एवं कुमारदास आदि महाकवि जन्म से अन्धे थे; परन्तु उनके वर्णन, प्रतिभा-प्रकर्ष के कारण प्रत्यक्ष किये हुए-से प्रतीत होते हैं।

किञ्च महाकवयोऽपि देशद्वीपान्तरकथापुरुषादिदर्शनेन तत्रस्थां व्यवहृतिं निबध्नन्ति स्म। तत्र देशान्तरव्यवहारः—

प्रतिभा-संपन्न महाकवि प्रतिभा-प्रकर्ष के कारण अप्रत्यक्ष वस्तुओं का प्रत्यक्ष के समान वर्णन करते हैं। अप्रत्यक्ष देशान्तर, द्वीपान्तर एवं कथा-पुरुषों के प्रत्यक्ष के समान सजीव वर्णनों के कुछ उदाहरण कविकुलगुरु कालिदास की रचनाओं से उद्धृत किये गये हैं—

देशान्तर-व्यवहार का उदाहरण (अभिज्ञानशाकुन्तल में स्वर्ग में रहनेवाले तपस्वी मुनियों का वर्णन)—

"प्राणानामनिलेन वृत्तिरुचिता सत्कल्पवृक्षे वने
तोये काञ्चनपद्मरेणुकपिशे पुण्याभिषेकक्रिया।
ध्यानं रत्नशिलागृहेषु विबुधस्त्रीसन्निधौ संयमो
यत्काङ्क्षन्ति तपोभिरन्यमुनयस्तस्मिंस्तपस्यन्त्यमी॥"

ये स्वर्गस्थ तपस्वी, समस्त कामनाओं को तुरन्त पूर्ण करनेवाले कल्पवृक्षों के वन में रहकर भी केवल प्राणवायु के आधार पर जीवन-निर्वाह कर रहे हैं। खिले हुए स्वर्ण-कमलों के पराग से रंजित एवं सुगन्धित सरोवरों के जल से स्नान, आचमन, तर्पण आदि धार्मिक क्रियाएँ सम्पन्न कर रहे हैं। मणियों एवं रत्नों की शिलाओं से निर्मित कन्दराओं में ध्यान लगा रहे हैं और रम्भा एवं उर्वशी-जैसी देवांगनाओं के निरन्तर सम्पर्क में रहकर भी कठोर संयम को धारण कर रहे हैं। आश्चर्य है कि जिन स्वर्गीय पदार्थों की प्राप्ति के लिए अन्यान्य तपस्विगण घोर तपःसाधना करते हैं; ये तपस्वी उन स्वर्गीय पदार्थों के वातावरण में रहकर भी उनकी अवहेलना करते हुए तपश्चरण कर रहे हैं।[3]

---

१. रुद्रट ने अपने 'काव्यालङ्कार' नामक ग्रन्थ में शक्ति का लक्षण इस प्रकार लिखा है—

मनसि सदा सुसमाधिनि विस्फुरणमनेकधाभिधेयस्य।
अक्लिष्टानि पदानि च विभान्ति यस्यामसौ शक्तिः॥ १-१५॥

२. मेधाविरुद्र और कुमारदास के सम्बन्ध में विस्तृत विवरण परिशिष्ट में देखिए।

३. देखिए—अभिज्ञानशाकुन्तल, ७-१२।

यहाँ कवि ने अप्रत्यक्ष स्वर्ग के तपस्वियों का ऐसा सजीव वर्णन किया है, जो प्रत्यक्ष-सा प्रतीत होता है।

द्वीपान्तरव्यवहारः—

द्वीपान्तर-व्यवहार का उदाहरण—

"अनेन सार्द्धं विहराम्बुराशे-
स्तीरेषु तालीवनमर्मरेषु।
द्वीपान्तरानीतलवङ्गपुष्पै-
रपाकृतस्वेदलवा मरुद्भिः॥"

इन्दुमती को राजाओं का परिचय कराती हुई सुनन्दा दक्षिण देश के राजा के समीप लाकर कहती है—हे इन्दुमती, तू इस दक्षिण देश के राजा के साथ पाणिग्रहण करके समुद्र के सुरम्य तटों पर; जो तालवृक्षों के वनों की मर्मर-ध्वनि से सदा संगीतमय रहते हैं, विचरण कर। उन तटों पर मलय आदि दूसरे द्वीपों से लवंग-पुष्पों को उड़ाकर लानेवाली सुगन्धित वायु तुम्हारे सुरतश्रम-जनित स्वेद-बिन्दुओं का अपहरण करेगी।[1]

कथापुरुषव्यवहारः—

कथापुरुष-व्यवहार का उदाहरण—

"हरोऽपि तावत्परिवृत्तधैर्य-
श्चन्द्रोदयारम्भ इवाम्बुराशिः।
उमामुखे बिम्बफलाधरोष्ठे
व्यापारयामास विलोचनानि॥"

शिवजी के तपोवन में जब कामदेव ने अपना जाल पूर्णरूपेण बिछा दिया और उनके आश्रमवासी पशु, पक्षी, लता, वृक्ष आदि सभी अधीर हो उठे, तब परम तपस्वी शंकर भगवान् का आसन भी हिल गया और वे चन्द्रोदय-कालीन समुद्र के समान अधीर होकर उद्वेलित (क्षुब्ध) हो उठे एवं पार्वती के बिम्बफल के समान अरुण ओष्ठवाले मुख पर उन्होंने भावपूर्ण दृष्टिपात किया।[2]

इसी प्रकार एक और भी उदाहरण रघुवंश में इन्दुमती के स्वयंवर-प्रसंग का है—

"तथागतायां परिहासपूर्वं
सख्यां सखी वेत्रभृदाबभाषे।
बाले व्रजामोऽन्यत इत्यथैनां
वधूरसूयाकुटिलं ददर्श॥"

---

१. देखिए—रघुवंश महाकाव्य, ६-५७।
२ देखिए—कुमारसम्भव, ३-६७।

जब इन्दुमती किसी राजा के प्रति आकृष्ट होकर कुछ रुक गई, तब सुनन्दा ने मुस्कराते हुए कहा —'आर्ये, चलो, दूसरी ओर चलें'। सखी के इस कूट-परिहास पर वधू इन्दुमती ने ईर्ष्यापूर्ण तिरछी चितवन से उसकी ओर देखा।[1]

उक्त उदाहरण कथाओं में वर्णित व्यक्तियों के हैं। परन्तु कवि ने अपनी अलौकिक प्रतिभा से उनके भावों का प्रत्यक्ष देखा-सा वर्णन किया है।

प्रतिभा-वर्णन के उपरान्त अब उसके भेद बताये जाते हैं —

सा च द्विधा कारयित्री भावयित्री च। कवेरुपकुर्वाणा कारयित्री। साऽपि त्रिविधा सहजाऽऽहार्यौपदेशिकी च। जन्मान्तरसंस्कारापेक्षिणी सहजा। जन्मसंस्कारयोनिराहार्या। मन्त्रतन्त्राद्युपदेशप्रभवा औपदेशिकी। ऐहिकेन कियतापि संस्कारेण प्रथमां तां सहजेति व्यपदिशन्ति। महता पुनराहार्याम्। औपदेशिक्याः पुनरैहिक एव उपदेशकालः, ऐहिक एव संस्कारकालः।

प्रतिभा दो प्रकार की होती है—१. कारयित्री और २. भावयित्री। कारयित्री प्रतिभा कवि की उपकारक होती है। वह तीन प्रकार की है —१. सहजा, २. आहार्या और ३. औपदेशिकी। पूर्वजन्म के संस्कारों से प्राप्त जन्मजात प्रतिभा सहजा, जन्म और शास्त्रों एवं काव्यों के अभ्यास से उत्पन्न प्रतिभा आहार्या तथा मन्त्र, तन्त्र, देवता, गुरु आदि के वरदान या उपदेश से प्राप्त प्रतिभा औपदेशिकी कही जाती है। सहजा कारयित्री प्रतिभा जन्मजात होने के कारण इस जन्म के अल्प संस्कार से ही उद्बुद्ध हो जाती है। आहार्या कारयित्री प्रतिभा के लिए अधिक संस्कार या अभ्यास की आवश्यकता होती है। औपदेशिकी प्रतिभा इसी जन्म के उपदेश, वरदान आदि से प्राप्त होती है। इसका उपदेश और संस्कार इस जन्म में ही होता है, जन्मान्तर से कोई सम्बन्ध नहीं।

त इमे त्रयोऽपि कवयः सारस्वतः, आभ्यासिकः, औपदेशिकश्च।

इस प्रकार ऊपर कही हुई तीन प्रकार की कारयित्री प्रतिभा से सम्पन्न कवि भी क्रमशः तीन प्रकार के होते हैं, जैसे—१. सारस्वत, २. आभ्यासिक और ३. औपदेशिक।

जन्मान्तरसंस्कारप्रवृत्तसरस्वतीको बुद्धिमान्सारस्वतः। इह जन्माभ्यासोद्भासितभारतीक आहार्यबुद्धिराभ्यासिकः। उपदेशितदर्शितवाग्विभवो दुर्बुद्धिरौपदेशिकः। तस्मान्नेतरौ तन्त्रशेषमनुतिष्ठताम्। 'नहि प्रकृतिमधुरा द्राक्षा फाणितसंस्कारमपेक्षते' इत्याचार्याः। 'न' इति यायावरीयः। एकार्थं हि क्रियाद्वयं द्वैगुण्याय सम्पद्यते। 'तेषां पूर्वः पूर्वः श्रेयान्' इति श्यामदेवः। यतः—

१. देखिए—रघुवंश महाकाव्य, ६–८२।

जिसकी सरस्वती जन्मान्तरीय संस्कारों से प्रवृत्त होती है, उस स्वाभाविक बुद्धिमान् कवि का नाम 'सारस्वत' है। इस जन्म के अभ्यास से जिसकी सरस्वती उन्मिषित होती है, उस शास्त्राभ्यास-जन्य बुद्धिवाले कवि को 'आभ्यासिक' कहा जाता है। मन्द-बुद्धि होने पर भी मन्त्रोपदेश, अनुष्ठान आदि से वाणी का वैभव प्रदर्शित करनेवाला कवि 'औपदेशिक' कहा जाता है।

'सारस्वत और आभ्यासिक इन दोनों कवियों को तन्त्र, मन्त्र आदि के अनुष्ठान की आवश्यकता उसी प्रकार नहीं होती, जिस प्रकार स्वभाव से ही मधुर द्राक्षा को मीठी चासनी में पकाने की आवश्यकता नहीं रहती'—ऐसा आचार्यों का मत है। यायावरीय राजशेखर का मत इससे कुछ भिन्न है। उनका कहना है कि 'द्राक्षा को चासनी से संस्कृत करना हानिकारक नहीं। एक कार्य के लिए यदि दो उपाय किये जायँ, तो उसका फल भी दूना होता है।' श्यामदेव के मत में 'तीसरे से दूसरा और उससे भी पहला कवि श्रेष्ठ है।' क्योंकि —

"सारस्वतः स्वतन्त्रः स्याद्भवेदाभ्यासिको मितः।
औपदेशिककविस्त्वत्र वल्गु फल्गु च जल्पति ॥"

सारस्वत कवि, स्वतन्त्रता के साथ रचना करता है; आभ्यासिक कवि, एक सीमित रूप से काव्य-निर्माण करता है और औपदेशिक कवि, सुन्दर, किन्तु सारहीन रचना करता है।

'उत्कर्षः श्रेयान्' इति यायावरीयः। स चानेकगुणसन्निपाते भवति। किञ्च—

यायावरीय राजशेखर का कथन है कि 'जितना भी अधिक उत्कर्ष प्राप्त किया जाय, अच्छा है। उत्कर्ष की प्राप्ति अनेक गुणों के एकत्र होने से ही होती है।' कहा भी है—

"बुद्धिमत्त्वं च काव्याङ्गविद्यास्वभ्यासकर्म च।
कवेश्चोपनिषच्छक्तिस्त्रयमेकत्र दुर्लभम् ॥

बुद्धिमत्ता, काव्य एवं उसकी अंगभूत विद्याओं में अभ्यास-कर्म और साथ ही दैवी शक्ति—ये तीनों एक साथ दुर्लभ होते हैं।

काव्यकाव्याङ्गविद्यासु कृताभ्यासस्य धीमतः।
मन्त्रानुष्ठाननिष्ठस्य नेदिष्ठा कविराजता ॥"

काव्य और काव्यांग-विद्याओं में निष्णात, बुद्धिमान् और मन्त्र, अनुष्ठान आदि में श्रद्धा रखनेवाले कवि के लिए कविराजता अति निकट हो जाती है। अर्थात्, वह कविराज कहा जा सकता है या इस उपाधि से अलंकृत हो सकता है।

कवीनां तारतम्यतश्चैष प्रायो वादः।

कवियों में तारतम्य (परम्परा) से यह प्रसिद्धि है—

"एकस्य तिष्ठति कवेर्गृह एव काव्य-
मन्यस्य गच्छति सुहृद्भवनानि यावत् ।
न्यस्याविदग्धवदनेषु पदानि शश्वत्
कस्याऽपि सञ्चरति विश्वकुतूहलीव ॥"

कुछ कवि ऐसे होते हैं, जिनकी रचना अपने घर की चहारदीवारी के भीतर ही विचरण करती रह जाती है, कुछ कवियों की रचनाएँ उनके मित्रों के भवनों तक पहुँच जाती हैं और कुछ कवि ऐसे होते हैं, जिनकी रचना अविदग्धों के मुख पर भी पदन्यास करती हुई सदा विश्व-भ्रमण की इच्छा पूर्ण करती है, अर्थात् उनकी रचना के पद पठित तथा अपठित सभी के मुख पर स्थान प्राप्त कर लेते हैं।

सेयं कारयित्री ।

इस प्रकार, कवि से सम्बन्ध रखनेवाली कारयित्री प्रतिभा का विवेचन किया गया। अब समालोचक से सम्बद्ध भावयित्री प्रतिभा का विवेचन किया जाता है।

भावकस्योपकुर्वाणा भावयित्री । स हि कवेः श्रममभिप्रायं च भावयति । तया खलु फलितः कवेर्व्यापारतरुरन्यथा सोऽवकेशी स्यात् । 'कः पुनरनयोर्भेदो यत्कविर्भावयति भावकश्च कविः' इत्याचार्याः। तदाहुः—

भावयित्री प्रतिभा भावक या आलोचक का उपकार करती है, अतः उसका नाम भावयित्री है। वह सचमुच कवि के श्रम और अभिप्राय को पूर्ण करती है। यह प्रतिभा कवि की कविता-लता को सफल बनाती है। इसके बिना कविता निष्फल रह जाती है। प्राचीन आचार्य कहते हैं कि 'कवि और भावक (आलोचक) में भेद नहीं है; क्योंकि कवि भावक है और भावक भी कवि है।' कहा भी है—

"प्रतिभातारतम्येन प्रतिष्ठा भुवि भूरिधा ।
भावकस्तु कविः प्रायो न भजत्यधमां दशाम् ॥"

प्रतिभा के तारतम्य से संसार में विविध प्रकार की प्रतिष्ठा होती है। भावक कवि तो प्रायः अधम दशा को नहीं प्राप्त होते।

'न' इति कालिदासः। पृथगेव हि कवित्वाद्भावकत्वं, भावकत्वाच्च कवित्वं, स्वरूपभेदाद्विषयभेदाच्च । यदाहुः—

कालिदास का मत इससे भिन्न है। उनके मत में कवित्व से भावकत्व पृथक् है, अर्थात् कवि और सहृदय या आलोचक एक दूसरे से भिन्न हैं।[1] इनमें एक का विषय शब्द-रचना है और दूसरे का विषय रसास्वादन। जैसा कि कहा गया है—

१. इस सम्बन्ध में कालिदास का कोई स्वतन्त्र प्रवन्ध तो नहीं है, किन्तु उनके इस मत की कल्पना उनके कतिपय श्लोकों के आधार पर की गई है, ऐसा प्रतीत होता है। दे० अभिज्ञानशाकुन्तल, १—२; रघुवंश, १—१३।

"कश्चिद्वाचं रचयितुमलं श्रोतुमेवाऽपरस्तां
कल्याणी ते मतिरुभयथा विस्मयं नस्तनोति।
नह्येकस्मिन्नतिशयवतां सन्निपातो गुणाना-
मेकः सूते कनकमुपलस्तत्परीक्षाक्षमोऽन्यः॥"

कोई तो वाणी की रचना (कविता) करने में निपुण है और कोई उसके सुनने में ही प्रवीण है। तुम्हारी दोनों प्रकार की बुद्धि आश्चर्यजनक है। एक में अनेक गुणों का समन्वय कठिन है। एक पत्थर (शालग्राम की शिला आदि) सुवर्ण उत्पन्न करता है और दूसरा पत्थर (कसौटी) उसकी परीक्षा करता है।

'ते च द्विधाऽरोचकिनः, सतृणाभ्यवहारिणश्च' इति मङ्गलः। 'कवयोऽपि भवन्ति' इति वामनीयाः। 'चतुर्द्धा' इति यायावरीयः मत्सरिणस्तत्त्वाभिनिवेशिनश्च। 'तत्र विवेकिनः पूर्वं तद्विपरीतास्तु ततोऽनन्तराः' इति वामनीयाः।

जैन महाकवि[1] मंगल के मत में भावक या आलोचक दो प्रकार के होते हैं—१. अरोचकी और २. सतृणाभ्यवहारी। वामन के मत में कवि भी अरोचकी और सतृणाभ्यवहारी दो प्रकार के होते हैं। यायावरीय के मत में ये भावक चार प्रकार के होते हैं — १ अरोचकी, २. सतृणाभ्यवहारी, ३. मत्सरी और ४. तत्त्वाभिनिवेशी। वामन के मतानुयायियों का कहना है कि इन में अरोचकी और विवेकी, ये दो विवेकी हैं और सतृणाभ्यवहारी तथा अविवेकी, ये दो अविवेकी हैं।

"अरोचकिता हि तेषां नैसर्गिकी ज्ञानयोनिर्वा। नैसर्गिकीं हि संस्कारशतेनाऽपि रङ्गमिव कालिकां ते न जहति। ज्ञानयोनौ तु तस्यां विशिष्टज्ञेयवतिव चसि रोचकितावृत्तिरेव" इति यायावरीयः।

अरोचकी समालोचक वे होते हैं, जिन्हें किसी की अच्छी-अच्छी रचना भी नहीं जँचती। सतृणाभ्यवहारी आलोचक वे होते हैं, जो भली-बुरी सभी प्रकार की रचनाओं पर 'वाह-वाह' कर उठते हैं। मत्सरी वे होते हैं, जो ईर्ष्यावश किसी रचना को पसन्द नहीं करते और कुछ-न-कुछ दोष-दर्शन कराने की चेष्टा करते रहते हैं तथा तत्त्वाभिनिवेशी वे हैं, जो निष्पक्ष और सच्चे समालोचक होते हैं।

'अरोचकी आलोचकों की अरोचकता दो प्रकार की होती है—एक स्वाभाविकी और दूसरी ज्ञानयोनि। स्वाभाविकी अरोचकता सैकड़ों संस्कारों से भी दूर नहीं हो

१. 'मङ्गल' नामक विद्वान् कवि के दो श्लोक 'सदुक्तिकर्णामृत' में प्राप्त होते हैं और इसके किसी निबन्ध का पता नहीं चलता। किन्तु, यहाँ का यह वाक्य वामन के काव्यालंकार में भी इसी प्रकार आया है, जो कवि के लिए प्रयुक्त हुआ है। 'अरोचकिनः सतृणाभ्यवहारिणश्च कवयः' (काव्या० १-२-१)।

सकती। जिस प्रकार कि राँगे का कितनी ही बार औषधियों द्वारा संस्कार किये जाने पर भी उसकी कालिमा नहीं मिटती। यदि अरोचकता ज्ञानजन्य, अर्थात् समझ-बूझकर है, तो किसी अलौकिक एवं विशिष्ट काव्य-रचना पर रोचकता उत्पन्न हो जाती है।'—यह मत यायावरीय राजशेखर का है।

किञ्च सतृणाभ्यवहारिता सर्वसाधारणी। तथाहि व्युत्पित्सोः कौतुकिनः सर्वस्य सर्वत्र प्रथमं सा। प्रतिभाविवेकविकलता हि न गुणागुणयोर्विभागसूत्रं पातयति। ततो बहु त्यजति बहु च गृह्णाति। विवेकानुसारेण हि बुद्धयो मधु निष्यन्दन्ते। परिणामे तु यथार्थदर्शी स्यात्। विभ्रमभ्रंशश्च निःश्रेयसं सन्निधत्ते।

सतृणाभ्यवहारिता सर्वसाधारण है। ऐसे आलोचक या भावक नये होते हैं और कुतूहलवश सर्वत्र—सभी रचनाओं पर—कुछ कह बैठते हैं। विवेक-रहित प्रतिभा गुणों और दोषों का विभाजन नहीं कर सकती। ऐसे आलोचक रचना में से बहुत कुछ ले लेते हैं और बहुत कुछ छोड़ देते हैं। बुद्धि अपने विवेक के अनुसार ही मधु-संग्रह करती है। परिणाम में वास्तविकता को देखना चाहिए। अविवेक का भ्रंश (नष्ट) होना ही कल्याणकारी होता है।

मत्सरिणस्तु प्रतिभातमपि न प्रतिभातं, परगुणेषु वाचंयमत्वात्। स पुनरमत्सरी ज्ञाता च विरलः। तदुक्तम्—

मत्सरी आलोचक, देखते हुए भी आँखें मूँद लेते हैं; क्योंकि वे दूसरों के गुणों का वर्णन करने में मौन रहना चाहते हैं। मात्सर्य-रहित[1] और गुणज्ञ आलोचक विरले ही होते हैं। जैसा कि प्राचीन सूक्ति में प्रश्नोत्तर रूप से कहा गया है—

कस्त्वं भोः कविरस्मि काप्यभिनवा सूक्तिः सखे पठ्यतां
त्यक्ता काव्यकथैव सम्प्रति मया कस्मादिदं श्रूयताम्।
यः सम्यग्विविनक्ति दोषगुणयोः सारं स्वयं सत्कविः
सोऽस्मिन्भावक एव नास्त्यथ भवेद्दैवान्न निर्मत्सरः॥

प्रश्न—भाई, तुम कौन हो?
उत्तर—मैं कवि हूँ।
प्रश्न—तो मित्र! कोई सूक्ति सुनाओ।
उत्तर—भाई! मैंने तो कविता की बात ही छोड़ दी।
प्रश्न—क्यों?

---

१. हर्षचरित के छठे उल्लास में बाणभट्ट ने भी लिखा है—'चञ्चलता-रहित वानर, मत्सरता-रहित कवि, तस्करता-रहित बनिया और अविनीतता-रहित राजपुत्र दुर्लभ होते हैं'

उत्तर—सुनो, जो सत्कवि कविता के गुण और दोष के तत्त्वों को स्वयं समझ सकता है, वह उसका आलोचक नहीं है। यदि है भी, तो वह मात्सर्य-रहित नहीं है।

तत्त्वाभिनिवेशी तु मध्येसहस्रं यद्येकस्तदुक्तम्—

तत्त्वाभिनिवेशी आलोचक हजारों में एक होता है, जैसा कि कहा गया है—

शब्दानां विविनक्ति गुम्फनविधीनामोदते सूक्तिभिः
सान्द्रं लेढि रसामृतं विचिनुते तात्पर्यमुद्रां च यः।
पुण्यैः सङ्घटते विवेक्तृविरहादन्तर्मुखं ताम्यतां
केषामेव कदाचिदेव सुधियां काव्यश्रमज्ञो जनः॥

सच्चे समालोचक के अभाव से हृदय में अत्यन्त दुःखित होते हुए किसी कवि को बड़े ही पुण्य-प्रभाव से काव्य-रचना के परिश्रम को जाननेवाला विद्वान् आलोचक व्यक्ति प्राप्त होता है, जो शब्दों की रचना-विधि का भली भाँति विवेचन करता है, सूक्तियों—अनोखी सूक्तों से आह्लादित होता है, काव्य के सघन रसामृत का पान करता है और रचना के गूढ तात्पर्य को ढूँढ़ निकालता है।

स्वामी मित्रं च मन्त्री च शिष्यश्चाचार्य एव च।
कवेर्भवति ही चित्रं किं हि तद्यन्न भावकः॥

उस कवि के काव्य पर आश्चर्य है कि जिसके आलोचक उस कवि के स्वामी, मित्र, मन्त्री, शिष्य और गुरु न हों।

काव्येन किं कवेस्तस्य तन्मनोमात्रवृत्तिना।
नीयन्ते भावकैर्यस्य न निबन्धा दिशो दश॥

कवि के हृदय में ही रहनेवाले उस काव्य से क्या लाभ, जिसकी रचनाओं को आलोचक चारों ओर न फैलायें।

सन्ति पुस्तकविन्यस्ताः काव्यबन्धा गृहे गृहे।
द्वित्रास्तु भावकमनःशिलापट्टनिकुट्टिताः॥

पुस्तकों के पत्रों पर लिखे हुए अनेक काव्य-प्रबन्ध तो घर-घर में रखे हुए हैं; लेकिन, आलोचकों की हृदय-शिलाओं पर खुदे हुए काव्य-प्रबन्ध इने-गिने दो-तीन ही हैं।

सत्काव्ये विक्रियाः काश्चिद्भावकस्योल्लसन्ति ताः।
सर्वाभिनयनिर्णीतौ दृष्टा नाट्यसृजा न याः॥

उत्तम काव्य-रचनाओं को पढ़ते हुए आलोचक के हृदय में जो अप्रकट गूढ एवं विचित्र विकार उत्पन्न होते हैं, उन्हें नाट्यशास्त्र के निर्माता ब्रह्मा ने भी नहीं देखा।

वाग्भावको भवेत्कश्चित्कश्चिद्धृदयभावकः।
सात्त्विकैराङ्गिकैः कश्चिदनुभावैश्च भावकः॥

कुछ आलोचक वाणी द्वारा अपने भाव प्रकट करते हैं, कुछ हृदय द्वारा एवं कुछ मानसिक और शारीरिक चेष्टाओं द्वारा उन्हें व्यक्त करते हैं।

गुणादानपरः कश्चिद्दोषादानपरोऽपरः।
गुणदोषाहृतित्यागपरः कश्चन भावकः॥

कुछ आलोचक केवल रचनाओं के गुणों का ग्रहण करते हैं, कुछ उनमें दोषों की छान-बीन करते हैं एवं गुण और दोष—दोनों को छोड़कर रसास्वादन-मात्र करनेवाले आलोचक विरले ही होते हैं।

अभियोगे समानेऽपि विचित्रो यदयं क्रमः।
तेन विद्मः प्रसादोऽत्र नृणां हेतुरमानुषः॥

समालोचक अनेक प्रकार के होते हैं। एक ही काव्य में उनके विविध प्रकार के भावक्रम देखे जाते हैं। कुछ समालोचक केवल दोषों की ओर ही दृष्टिपात करते हैं, तो कुछ गुणों के पक्षपाती होते हैं। किसी समालोचक की रुचि रस की ओर अधिक होती है, तो कुछ अलंकारों पर ही विशेष दृष्टि रखते हैं। इससे यह समझना चाहिए कि मानव-रुचि की भिन्नता ही इसका अलौकिक कारण है।

न निसर्गकविः शास्त्रे न क्षुण्णः कवते च यः।
विडम्बयति सात्मानमाग्रहग्रहिलः किल॥

जो कवि न तो स्वाभाविक काव्य-रचना-शक्ति-सम्पन्न है और न शास्त्राभ्यास द्वारा ही परिपक्वबुद्धि है, वह यदि हठवश कविता करने की चेष्टा करता है, तो सचमुच अपनी विडम्बना ही करता है।

कवित्वं न स्थितं यस्य काव्ये च कृतकौतुकः।
तस्य सिद्धिः सरस्वत्यास्तन्त्रमन्त्रप्रयोगतः॥

जिसमें स्वाभाविक कवित्व-शक्ति न हो और काव्य-रचना में अति कौतूहल हो, उसे सरस्वती-मन्त्र आदि के अनुष्ठान द्वारा सिद्धि प्राप्त करनी चाहिए।

पदान्तरं वेत्ति सुधीः स्ववाक्यपरवाक्ययोः।
तदा स सिद्धो मन्तव्यः कुकविः कविरेव वा॥

जो विवेकी अपने और दूसरे के वाक्यों में पदों के अन्तर को समझता है, वह कवि हो या कुकवि, उसे सिद्ध समझना चाहिए।

कारयित्रीभावयित्र्याविती मे प्रतिभाभिदे[१]।
अथातः कथयिष्यामो व्युत्पत्तिं काव्यमातरम्॥

---

१. प्राचीन आलङ्कारिक विद्वानों ने प्रतिभा के दो भेद माने हैं—सहजा और उत्पाद्या। राजशेखर के दोनों भेदों—आहार्या और औपदेशिकी—का अन्तर्भाव उत्पाद्या में ही हो जाता है।

॥ इति राजशेखरकृतौ काव्यमीमांसायां कविरहस्ये प्रथमेऽधिकरणे चतुर्थोऽध्यायः पदवाक्यविवेकः काव्यविशेषेषु कारयित्री भावयित्री नाम समीक्षा ॥

इस प्रकार, कारयित्री और भावयित्री दोनों प्रकार की प्रतिभाओं का, अर्थात् कवि और सहृदय या आलोचक का भेद बताया गया है। अब अगले अध्याय में काव्यों की जननी व्युत्पत्ति का वर्णन करेंगे।

॥ चतुर्थ अध्याय समाप्त ॥

पञ्चमोऽध्यायः व्युत्पत्तिः काव्यपाकश्च

व्युत्पत्ति और काव्यपाक

इस अध्याय में सर्वप्रथम पूर्वप्रतिज्ञानुसार व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में विवेचन किया जाता है। तदनन्तर कवियों और काव्यपाकों का विवेचन किया जायगा।

'बहुज्ञता व्युत्पत्तिः' इत्याचार्याः। सर्वतोदिका हि कविवाचः। तदुक्तम्—

'व्युत्पत्ति का अर्थ बहुज्ञता है'—ऐसा प्राचीन आचार्यों का मत है। अर्थात्, शास्त्र, लोक-व्यवहार, प्रकृति-परिचय आदि का अधिक-से-अधिक ज्ञान ही व्युत्पत्ति है। कारण यह कि कवि की वाणी चारों ओर प्रवाहित होती है। उसके लिए सब कुछ वर्णनीय है। अतः, उसे विविध ज्ञान की आवश्यकता है। किसी ने कहा भी है कि —

प्रसरति किमपि कथञ्चन नाभ्यस्ते गोचरे वचः कस्य।
इदमेव तत्कवित्वं यद्वाचः सर्वतोदिकाः॥

अनभ्यस्त विषय का वर्णन करने में भी किसी की वाणी किसी प्रकार भी प्रगति नहीं कर सकती। कवित्व वही है कि ज्ञात एवं अज्ञात सभी विषयों में वाणी का निर्बाध-रूप से प्रसार हो।

तात्पर्य यह है कि बहुज्ञता होने पर ही बहुविषय-वर्णन-समर्थता प्राप्त हो सकती है। क्योंकि, काव्य में विविध विषयों का वर्णन करना पड़ता है, जो बहुज्ञता के विना सम्भव नहीं। अतः, अधिक-से-अधिक बहुज्ञता का नाम ही व्युत्पत्ति है।

'उचितानुचितविवेको व्युत्पत्तिः' इति यायावरीयः। 'प्रतिभा-व्युत्पत्त्योः प्रतिभा श्रेयसी' इत्यानन्दः। सा हि कवेरव्युत्पत्तिकृतं दोष-मशेषमाच्छादयति। तदाह—

यायावरीय राजशेखर का मत है कि 'उचित और अनुचित की विवेचना करना ही व्युत्पत्ति है।' आचार्य आनन्दवर्द्धन कहते हैं कि 'प्रतिभा और व्युत्पत्ति—इन दोनों में प्रतिभा उत्तम है।' कारण यह है कि वह प्रतिभा कवि की अव्युत्पत्ति को आच्छादित कर देती है। अर्थात्, कवि प्रखर-प्रतिभा-प्रकर्ष से अपनी अज्ञता को छिपा लेता है, प्रकट नहीं होने देता। जैसा कि कहा है—

अव्युत्पत्तिकृतो दोषः शक्त्या संव्रियते कवेः।
यस्त्वशक्तिकृतस्तस्य झगित्येवावभासते॥

कवि, अपनी शक्ति से अव्युत्पत्तिजन्य अज्ञानता को छिपा सकता है; परन्तु कवि की असमर्थता के कारण होनेवाले दोष नहीं छिपते। उसे भावक (समालोचक) तुरंत समझ लेते हैं।

शक्तिशब्दश्चायमुपचरितः प्रतिभाने वर्त्तते ।

यहाँ शक्ति शब्द का लाक्षणिक अर्थ प्रतिभा है ।

प्रतिभा का उदाहरण—

एतत्किं शिरसि स्थितं मम पितुः खण्डं सुधाजन्मनो
लालाटं किमिदं विलोचनमिदं हस्तेऽस्य किं पन्नगाः ।
इत्थं क्रौञ्चरिपोः क्रमादुपगते दिग्वाससः शूलिनः
प्रश्ने वामकरोपरोधसुभगं देव्याः स्मितं पातु वः ॥

दिगम्बर-रूप से खड़े शिवजी के शरीर को देखते हुए शिशु कार्त्तिकेय ने बाल-स्वभाव-सुलभ जिज्ञासावश माता पार्वती से प्रश्न करना आरम्भ किया—माता, मेरे पिताजी के सिर पर चमकती हुई यह टेढ़ी-सी वस्तु क्या है? पार्वती ने कहा—यह चन्द्रमा का खण्ड—टुकड़ा है । फिर पूछा—यह मस्तक में क्या है? माँ ने कहा—यह विशेष आँख है । कुमार ने फिर पूछा—यह हाथ में क्या है? पार्वती ने कहा—सर्प है । इस प्रकार कुमार के प्रश्नों का क्रम देखते हुए बायें हाथ से मुँह को ढकती हुई पार्वती का स्मितहास आपकी रक्षा करे ।

यहाँ कवि का अपूर्व प्रतिभाप्रकर्ष दर्शनीय है । यहाँ कवि ने वर्णनीय हास्य के अनुगुण रचना करने में असमर्थ होने पर भी प्रतिभा द्वारा उसे छिपा लिया ।

'व्युत्पत्तिः श्रेयसी' इति मङ्गलः । सा हि कवेरशक्तिकृतं दोषमशेषमाच्छादयति । तथाहि—

मंगल नामक आचार्य कहते हैं कि 'प्रतिभा से व्युत्पत्ति उत्कृष्ट है'; क्योंकि व्युत्पत्ति के बल से कवि अपनी असमर्थता के कारण होनेवाले दोषों को छिपा लेता है । जैसा कहा गया है—

कवेः संव्रियतेऽशक्तिर्व्युत्पत्त्या काव्यवर्त्मनि ।
वैदग्धीचिंत्तचित्तानां हेया शब्दार्थगुम्फना ॥

काव्य-रचना में व्युत्पत्ति-बल से कवि की असमर्थता छिप जाती है । श्रोता या आलोचक कवि की अलौकिक कल्पना या भाव की ओर आकृष्ट हो जाते हैं और उस कवि की शब्द एवं अर्थयोजना पर ध्यान नहीं देते ।

व्युत्पत्तिर्यथा—

व्युत्पत्ति का उदाहरण—

कुतः कण्ठे निष्को नहि किमुत तन्वी मणिलता
कृशं लीलापत्रं श्रवसि निहितं कुण्डलमुचि ।

न कौशेयं चित्रं वसनमवदातं तु वसितं
समासन्नीभूते निधुवनविलासे वनितया ॥

रात्रि में पति-संगम का समय समीप आने पर पत्नी ने गले से हँसुली उतारकर पतली मणिमाला धारण कर ली, कानों में लटकते हुए सोने के वड़े-वड़े कुंडल या तरकी को उतारकर पुष्प या पत्तों के कनफूल पहन लिये और वेल-वूटोंवाली रेशमी साड़ी उतारकर स्वच्छ धुली और साधारण धोती पहन ली।[1]

'प्रतिभाव्युत्पत्ती मिथः समवेते श्रेयस्यौ' इति यायावरीयः। न खलु लावण्यलाभादृते रूपसम्पदृते रूपसम्पदो वा लावण्यलब्धिर्महते सौन्दर्याय।

यायावरीय राजशेखर का मत है कि 'प्रतिभा और व्युत्पत्ति—दोनों संयुक्त रूप से काव्य-रचना में उपकारिणी होती हैं। जैसे, लावण्य के विना सुन्दर रूप फीका प्रतीत होता है और रूप-सम्पत्ति के विना लावण्य भी अधिक आकर्षक नहीं होता।[2]

उभययोगो यथा—

व्युत्पत्ति और प्रतिभा दोनों के एक साथ योग का उदाहरण—

जङ्घाकाण्डोरुनालो नखकिरणलसत्केसरालीकरालः
प्रत्यग्रालक्तकाभाप्रसरकिसलयो मञ्जुमञ्जीरभृङ्गः।
भर्तुर्नृत्यानुकारे जयति निजतनुस्वच्छलावण्यवापी-
सम्भूताम्भोजशोभां विदधदभिनयाद्दण्डपादो भवान्याः ॥

शिवजी का तांडव-नृत्य देखकर पार्वती भी उनका अनुकरण करती हुई तांडव-नृत्य करने लगीं, नृत्य के समय ऊपर की ओर उठे हुए पार्वती के दण्डपाद (रक्त-चरण) की

---

१. सम्भोग-शृङ्गार रस-सम्बन्धी इस रचना में यद्यपि वर्णविन्यास शृङ्गार रस के अनुकूल नहीं है; क्योंकि श्रुतिकटु अक्षरों की अधिकता है, तथापि कवि अपने व्युत्पत्ति-बल से सहृदय-हृदयों को आकृष्ट करता है।

२. लावण्य—जैसे मोती के दानों में एक प्रकार की झलक होती है, जिसे लोक-व्यवहार में 'पानी' कहते हैं, उसी प्रकार शरीर में एक प्रकार के पानी की झलक होती है, जिसे लावण्य कहते हैं।

रूप—भूषण या किसी प्रकार की सजावट के विना ही शरीर में जो आकर्षण होता है; उसका नाम रूप है।

सौन्दर्य—शरीर के प्रत्येक अङ्ग का सुगठित होना और सन्धियों का समुचित और समरूप से दीखना, सौन्दर्य कहा जाता है।

ग्रन्थकार का अभिप्राय यह है कि लावण्य के विना सुन्दर रूप नहीं जँचता और रूप-सम्पत्ति के विना केवल लावण्य से भी सौन्दर्य-लाभ नहीं होता। अतः, जैसे सौन्दर्य की पूर्णता के लिए रूप और लावण्य दोनों आवश्यक हैं, उसी प्रकार कवित्व-सौन्दर्य के लिए प्रतिभा और व्युत्पत्ति दोनों ही आवश्यक हैं।

शोभा ऐसी मालूम होती थी, जैसे कि उनके शुभ्र शरीर-रूपी स्वच्छ लावण्यमयी वापी से मानों एक रक्त-कमल निकलकर खिला हो। उनका जङ्घादण्ड कमलनाल के समान प्रतीत होता था, नखों की स्वच्छ सुन्दर किरणें कमल-केसर के समान प्रतीत होती थीं। पैरों में उसी समय की लगी हुई लाल महावर कमल के नवीन किसलयों की शोभा धारण कर रही थी और पैरों में गुनगुनाता हुआ नूपुर मानों भ्रमर का कार्य कर रहा था।

इस उदाहरण में यद्यपि अवाचकत्व और अभवन्मतयोग नामक दोष हो सकते हैं; किन्तु कवि की प्रतिभा और व्युत्पत्ति दोनों का समान रूप से सम्मिश्रण होने के कारण उनकी प्रतीति नहीं होती; प्रत्युत चमत्कार प्रतीत होता है।[1]

प्रतिभाव्युत्पत्तिमांश्च कविः कविरित्युच्यते।

अतः, यह सिद्ध हुआ कि कवि के लिए प्रतिभा और व्युत्पत्ति दोनों की समान रूप से आवश्यकता है। इन दोनों से युक्त कवि ही कवि है।

स च त्रिधा। शास्त्रकविः काव्यकविरुभयकविश्च।

कवि तीन प्रकार के होते हैं—शास्त्रकवि, काव्यकवि और उभयकवि, अर्थात् शास्त्र और काव्य दोनों में प्रवीण कवि।

'तेषामुत्तरोत्तरीयो गरीयान्' इति श्यामदेवः।

श्यामदेव कहते हैं—'इन तीनों में उत्तर-उत्तर कवि श्रेष्ठ है।' अर्थात्, शास्त्र-कवि से काव्यकवि और उससे भी उभयकवि श्रेष्ठ है।

'न' इति यायावरीयः। यथा स्वविषये सर्वो गरीयान्। नहि राजहंसश्चन्द्रिकापानाय प्रभवति, नापि चकोरोऽद्भ्यः क्षीरोद्धरणाय। यच्छास्त्रकविः काव्ये रससम्पदं विच्छिनत्ति। यत्काव्यकविः शास्त्रे तर्क-कर्कशमप्यर्थमुक्तिवैचित्र्येण श्लथयति। उभयकविस्तूभयोरपि वरीयान् यद्युभयत्र परं प्रवीणः स्यात्। तस्मात्तुल्यप्रभावावेव शास्त्रकाव्यकवी।

राजशेखर कहते हैं—'नहीं', अपने-अपने विषय में सभी श्रेष्ठ हैं। राजहंस चन्द्रिका-पान नहीं कर सकता और चकोर नीर-क्षीर-विवेक में असमर्थ है। अर्थात्, अपने-अपने विषय में दोनों ही श्रेष्ठ कलाविद् हैं। इसी प्रकार, शास्त्रकवि शास्त्रीय गम्भीरता के कारण उत्तम रस, ध्वनि आदि के द्वारा काव्य में रस-सम्पत्ति की शोभा बढ़ाता है और काव्यकवि, तर्क-कर्कश शास्त्रीय जटिल विषयों को अपनी सुकुमार कला-

---

१. यह बाणभट्ट के चण्डीशतक का प्रसिद्ध श्लोक काव्यप्रकाश के सप्तम उल्लास में भी उद्धृत किया गया है। इसमें आये हुए 'दण्डपाद' शब्द का अर्थ पारिभाषिक है। नाट्यशास्त्र के चतुर्थ अध्याय (श्लो० १४३) में तथा सङ्गीतरत्नाकर (७-७११) में इसका लक्षण लिखा है कि नूपुरयुक्त एक पाद को हठात् ऊपर की ओर करके शीघ्र हस्तसञ्चालन करना 'दण्डपाद' है। इस उदाहरण में कवि ने नाट्यशास्त्र-सम्बन्धी व्युत्पत्ति (ज्ञान) और वर्णन-प्रकार में प्रतिभा का प्रदर्शन किया है। इसमें रूपक और निदर्शना नामक अलङ्कार हैं।

कृति से सरस एवं सुन्दर बना देता है। उभयकवि दोनों विषयों में सिद्धहस्त होने के कारण वास्तव में दोनों से श्रेष्ठ है। अतः, शास्त्रकवि और काव्यकवि ये ही दोनों परस्पर समान स्थान प्राप्त करते हैं।

उपकार्योपकारकभावं तु मिथः शास्त्रकाव्यकव्योरनुमन्यामहे। यच्छास्त्रसंस्कारः काव्यमनुगृह्णाति शास्त्रैकप्रवणता तु निगृह्णाति। काव्यसंस्कारोऽपि शास्त्रवाक्यपाकमनुरुणद्धि काव्यैकप्रवणता तु विरुणद्धि।

इसे हम मानते हैं कि काव्य और शास्त्र का परस्पर उपकार्य-उपकारक भाव है। अर्थात्, शास्त्र के द्वारा काव्य का उपकार-साधन होता है और काव्य के द्वारा शास्त्र का। कवि यदि शास्त्रों का भी विद्वान् हो, तो उसकी रचना अधिक गम्भीर, सरस और उच्च कोटि की होती है। केवल शास्त्र का विद्वान् कविता का विरोधी है। उसकी कविता अरोचक और नीरस होती है। इसी प्रकार, काव्य का ज्ञान सरलतापूर्वक शास्त्रीय वाक्यों के पोषण करने में सहायक होता है। केवल काव्य-ज्ञान में शास्त्रीय गाम्भीर्य का अभाव रहता है।

कवियों के भेद

तत्र त्रिधा शास्त्रकविः। यः शास्त्रं विधत्ते, यश्च शास्त्रे काव्यं संविधत्ते, योऽपि काव्ये शास्त्रार्थं निधत्ते।

शास्त्रकवि तीन प्रकार के होते हैं— १. शास्त्र का निर्माण करनेवाला, २. शास्त्र में काव्य का निवेश करनेवाला और ३. काव्य में शास्त्रीय अर्थों का निवेश करनेवाला।

काव्यकविः पुनरष्टधा। तद्यथा रचनाकविः, शब्दकविः, अर्थकविः, अलङ्कारकविः, उक्तिकविः, रसकविः, मार्गकविः, शास्त्रार्थकविरिति। तत्र रचनाकविः—

काव्यकवि आठ प्रकार के होते हैं—१. रचनाकवि, २. शब्दकवि, ३. अर्थकवि, ४. अलंकारकवि, ५. उक्तिकवि, ६. रसकवि, ७. मार्गकवि और ८. शास्त्रार्थकवि। इनके उदाहरण क्रमशः नीचे दिये जाते हैं। रचनाकवि के अग्रिम उदाहरण में केवल शब्दों की रचना-छटा सुनने और पढ़ने में सुन्दर प्रतीत होती है, परन्तु अर्थ में कुछ भी गाम्भीर्य नहीं रहता। जैसे—

"लोलल्लाङ्गूलवल्लीवलयितबकुलानोकहस्कन्धगोलै-
र्गोलाङ्गूलैर्नदद्भिः प्रतिरसितजरत्कन्दरामन्दिरेषु।
खण्डेषूद्दण्डपिण्डीतगरतरलकाः प्रापिरे येन वेला-
मालङ्घ्योत्तालतल्लस्फुटितपुटकिनीबन्धवो गन्धवाहाः ॥"

राजा ने समुद्र के वेला-तट को पार कर जिन पर्वतों की तलहटी के ऊँचे उठे हुए पिंडखजूर के वृक्षों की वायु से चंचल एवं विशाल सरोवरों में विकसित होनेवाली कमल-वेल के पुष्पों (कमलों) की सुगन्धि से सुरभित वायु का सेवन किया, उन पर्वतों की गुहाएँ (स्वाभाविक गुफाएँ), चंचल और लटकती हुई लम्बी पूँछों से मौलसिरी की मोटी-मोटी शाखाओं को लपेटकर किलकिलाते हुए लंगूरों के चीत्कार की प्रतिध्वनि से मुखरित हो रही थीं।[1]

त्रिधा च शब्दकविर्नामाख्यातार्थभेदेन । तत्र नामकविः—

शब्दकवि तीन प्रकार के होते हैं। एक तो वे, जो नाम या संज्ञावाचक सुबन्त शब्दों का अधिक प्रयोग करते हैं, नामकवि हैं। दूसरे, आख्यातकवि वे होते हैं, जो तिङन्त शब्दों—क्रियाओं—का प्रयोग अधिक मात्रा में करते हैं और तीसरे नामाख्यात-कवि, जो दोनों का प्रयोग समान रूप से करते हैं।

नामकवि का उदाहरण—

"विद्येव पुंसो महिमेव राज्ञः
प्रज्ञेव वैद्यस्य दयेव साधोः ।
लज्जेव शूरस्य मृजेव यूनो
विभूषणं तस्य नृपस्य सैव ॥"

जैसे, पुरुष के लिए विद्या, राजा के लिए महिमा, वैद्य के लिए प्रज्ञा—भविष्य-दर्शिनी बुद्धि, सज्जन के लिए दया, वीर के लिए लज्जा और युवक के लिए नम्रता, उसी प्रकार उस राजा के लिए वही भूषण है।

इस पद्य में अनेक नामों—सुबन्त शब्दों—का एक ही क्रिया या आख्यात के साथ सम्बन्ध है। इसलिए, ऐसी रचना करनेवाला कवि नामकवि कहा जाता है।

आख्यातकविर्यथा—

आख्यातकवि का उदाहरण—

"उच्चैस्तरां जहसुराजहषुर्जगर्जु-
राजघ्निरे भुजतटीनिकरैः स्फुरद्भिः ।
सन्तुष्टुवुर्मुमुदिरे बहु मेनिरे च
वाचं गुरोरमृतसम्भवलाभगर्भाम् ॥"

समुद्र से अमृत-मन्थन के समय गुरु (बृहस्पति) द्वारा अमृत-लाभ होने की महत्त्वपूर्ण घोषणा सुनकर देवता अट्टहास करते थे, प्रसन्न होते थे, गरजते थे, फड़कती हुई भुजाओं से परस्पर आघात करते थे, स्तुति करते थे और प्रमुदित होते थे।

---

१. भोजराज ने 'सरस्वतीकण्ठाभरण' (२-६९) में इसे पदरचना के उदाहरण में लिखते हुए कहा है कि इस श्लोक में अधिक और अपुष्ट पदों का प्रयोग केवल अनुप्रास और पादपूर्त्ति के लिए किया गया है

यह वर्णन समुद्र-मंथन के प्रसंग का है। इसमें नाम या सुबन्त पद एक-दो हैं, और सभी आख्यात, अर्थात् क्रियापद हैं।

नामाख्यातकविः—

नामाख्यातकवि का उदाहरण—

"हतत्विषोऽन्धाः शिथिलांसबाहवः श्रियो विषादेन विचेतना इव।
न चुक्रुशुर्नो रुरुदुर्न सस्वनुर्न चेलुरासुर्लिखिता इव क्षणम्॥"

कान्तिहीन, अन्धे, थके हुए कन्धों और हाथोंवाले, लक्ष्मी की अप्राप्ति से उत्पन्न शोक के कारण चेतनाशून्य-से वे दैत्य, न चिल्लाते थे, न रोते थे, न किसी प्रकार का शब्द करते थे और न हिलते-डुलते थे। वे क्षण-भर के लिए चित्रित-से हो गये।

यहाँ 'श्रियः' के स्थान पर 'स्त्रियः'[1] पाठ करने पर इसका अर्थ इस प्रकार होगा—

समर में मारे गये दैत्यों की पत्नियाँ पति-मरण के विषाद से कान्तिहीन हो गईं, उनके कन्धे और हाथ शिथिल होकर झूल गये और वे अत्यन्त शोक से चेतना-शून्य हो गईं। अतः, वे न रोती थीं, न चिल्लाती थीं, न किसी प्रकार का शब्द करती थीं, मानों क्षण-भर के लिए चित्रित-सी हो गईं।

अर्थकविः—

अर्थकवि का उदाहरण—

"देवी पुत्रमसूत नृत्यत गणाः किं तिष्ठतेत्युद्भुजे
हर्षाद्भृङ्गिरिटावुदाहृतगिरा चामुण्डयाऽऽलिङ्गिते।
पायाद्वो जितदेवदुन्दुभिघनध्वानप्रवृत्तिस्तयो-
रन्योन्याङ्कनिपातजर्जरजरत्स्थूलास्थिजन्मा रवः॥"

कुमार कार्त्तिकेय के जन्म-महोत्सव पर हर्ष से हाथ उठाये हुए भृंगिरिटि एक ओर से चिल्लाते हुए आ रहे थे और कह रहे थे कि 'हे गणो, क्या बैठे हो? देवी (पार्वती) ने पुत्र-प्रसव किया है, गाओ और नाचो।' इसी प्रकार, दूसरी ओर से चामुंडा आ रही थी। दोनों मिलकर परस्पर आलिंगन करते हुए नृत्य करने लगे। उनके गलों में लटकती हुई पुरानी सूखी हड्डियों की मालाएँ परस्पर की रगड़ से ऐसा भयंकर शब्द करने लगीं कि उसकी ध्वनि से देवताओं की दुन्दुभि-ध्वनि भी दब गई।[2]

यहाँ कवि ने शब्द-रचना भी की है, किन्तु उसकी अपेक्षा अर्थ प्रधानतः चमत्कारकारी है।

---

१. किसी विद्वान् ने 'श्रियः' के स्थान पर 'स्त्रियः' इस पाठ को शुद्ध माना है, अतः उसके अनुसार भी अर्थ दे दिया गया है।

२. यह श्लोक 'सदुक्तिकर्णामृत' में योगेश्वर के नाम से उद्धृत किया गया है और 'सूक्तिमुक्तावली' में त्रिविक्रमभट्ट के नाम से है। भोजराज ने 'सरस्वतीकण्ठाभरण' में इसे वस्तुपरिकर अलंकार के उदाहरण में उद्धृत किया है।

द्विधाऽलङ्कारकविः शब्दार्थभेदेन । तयोः शब्दालङ्कारः—

अलंकारकवि दो प्रकार के होते हैं—एक शब्दालंकारप्रिय, जो अनुप्रास, यमक आदि शब्दालंकारों के द्वारा रचना को विशेष सजाने की चेष्टा करते हैं। दूसरे अर्थालंकार-प्रिय, जो उपमा, रूपक आदि अर्थालंकारों के द्वारा रचना को सजाने में विशेष रुचि रखते हैं।

शब्दालंकारकवि का उदाहरण—

"न प्राप्तं विषम-रणं प्राप्तं पापेन कर्मणा विष-मरणं च ।
न मृतो भागीरथ्यां मृतोऽहमुपगुह्य मन्दभागी रथ्याम् ॥"

खेद है कि मैंने अपने पाप-कर्मों के कारण विषम (भीषण) रण को न प्राप्त किया और विष-मरण प्राप्त किया। मैं मन्दभागी भागीरथी (गंगा) में न मरकर साधारण-सी रथ्या (गली) में दुर्गति के साथ मरा।

यहाँ 'विषम-रण' और 'विष-मरण', 'भागीरथ्याम्' और 'मन्दभागी रथ्याम्' में पादमध्य-यमक नामक शब्दालंकार है।

अर्थाऽलङ्कारः—

अर्थालंकारकवि का उदाहरण—

"भ्रान्तजिह्वापताकस्य फणाच्छत्रस्य वासुकेः ।
दंष्ट्राशलाकादारिद्र्यं कर्त्तुं योग्योऽस्ति मे भुजः ॥"

फहराती हुई जिह्वा-रूपी पताकावाले और फण-रूपी छत्र को धारण करनेवाले सर्पराज वासुकि के दाँत-रूपी शलाकाओं को भंग करने के लिए मेरी एक भुजा ही समर्थ है।

यहाँ 'जिह्वापताका', 'फणच्छत्र', 'दंष्ट्राशलाका' आदि में रूपकालंकार की प्रधानतया प्रतीति होती है।

उक्तिकविः—

उक्तिकवि का उदाहरण—

"उदरमिदमनिन्द्यं मानिनीश्वासलाव्यं
स्तनतटपरिणाहो दोर्लतालेह्यसीमा ।
स्फुरति च वदनेन्दुर्दृक्प्रणालीनिपेय-
स्तदिह सुदृशि कल्याः केलयो यौवनस्य ॥"

यौवन, इस सुनयना रमणी में रमणीय केलियाँ कर रहा है। इसकी सुन्दर पतली कमर मानिनी के श्वासों से भंग होने के योग्य है, स्तनों की तट-विशालता सुन्दर भुजालताओं की सीमा का आलिंगन कर रही है और इसका मुखचन्द्र आँखों की नलिका से पान करने योग्य—आकर्षक हो गया है।

यहाँ यौवनारम्भ का वर्णन करने में कवि ने मानिनी के श्वास से भंग होने योग्य

कटि, स्तनों का दोर्लता के मूल से आलिंगन और मुखचन्द्र का नेत्र-नलिका से पान—इन सुन्दर उक्तियों में विशेषता प्रदर्शित की है।

यथा वा—

दूसरा उदाहरण—

> "प्रतीच्छत्याशोकीं किसलयपरावृत्तिमधरः
> कपोलः पाण्डुत्वादवतरति ताडीपरिणतिम् ।
> परिम्लानप्रायामनुवदति दृष्टिः कमलिनी-
> मितीयं माधुर्यं स्पृशति च तनुत्वं च भजते ॥"

यह भी यौवनारम्भ का वर्णन है। इस रमणी का अधर अशोक के अभिनव अरुण पल्लवों से परावर्त्तन की इच्छा करता है। कपोल, पाण्डुवर्ण होने के कारण ताल-फल की परिपक्व अवस्था की ओर उतर रहे हैं और इसके नेत्र कुछ मुरझाती हुई कमलिनी का अनुकरण कर रहे हैं। इस प्रकार, इस रमणी में माधुर्य और कृशता की वृद्धि हो रही है, अर्थात् अधरों में लालिमा, कपोलों में चिकनेपन के साथ पाण्डुता, आँखों में लज्जा, आकृति में मधुरता और शरीर में कृशता बढ़ रही है।

इस पद्य में भी कवि की अभिनव प्रकार से कही गई उक्तियाँ विलक्षण काव्य-रमणीयता का प्रदर्शन करती हैं।[1]

रसकविः—

रसकवि का उदाहरण—

> "एतां विलोकय तनूदरि ताम्रपर्णी-
> मम्भोनिधौ विवृतशुक्तिपुटोद्धृतानि ।
> यस्याः पयांसि परिणाहिषु हारमूर्त्या
> वामभ्रुवां परिणमन्ति पयोधरेषु ॥"

प्रायः यह लोकवाद प्रसिद्ध है कि दक्षिण देश की प्रसिद्ध ताम्रपर्णी नदी, जिस स्थान पर यह समुद्र से संगम करती है, वहाँ उच्च कोटि के मोती अधिक उत्पन्न होते हैं। कालिदास ने भी इसकी चर्चा की है। यहाँ कवि उसी का वर्णन करता है—

हे कृशोदरि! समुद्र में मिलती हुई इस ताम्रपर्णी नदी को देखो। सीपियों के सम्पुट से निकले हुए जिसके जलकण, सुन्दरियों के विशाल स्तन-तटों पर मोतियों के हार के रूप में शोभित होते हैं।

---

१. इस उक्तिकवि की रचना में 'समाधि' नामक गुण है। महाकवि दण्डी ने काव्यादर्श (१-१००) में इसका लक्षण लिखते हुए कहा है कि 'समाधि नाम का गुण कविता का सर्वस्व है, सभी महाकवि इसका आश्रय लेते हैं।' भोज आदि ने इसका लक्षण लिखा है कि 'अन्य के धर्म का अन्य पर आरोप करना समाधि है।' तदनुसार, इस रचना में लेह्य, निपेय, श्लाघ्य एवं प्रतीच्छति, अवतरति एवं अनुवदति आदि शब्द 'समाधि' गुण के अनुकूल हैं।

यहाँ कवि ने इस वर्णन को सम्भोग-शृंगाररस-पूर्ण बनाने में सफलता प्राप्त की है।

मार्गकविः—

मार्ग (रीति)-कवि का उदाहरण—

"मूलं बालकवीरुधां सुरभयो जातीतरूणां त्वचः
सारश्चन्दनशाखिनां किसलयान्यार्द्राण्यशोकस्य च।
शैरीषी कुसुमोद्गतिः परिणमन्मोचं च सोऽयं गणः
ग्रीष्मेणोष्महरः पुरा किल ददे दग्धाय पञ्चेषवे॥"[१]

पूर्वकाल में जब शिवजी की नेत्र-ज्वाला से कामदेव दग्ध हो गया, तब उसके मित्र ग्रीष्म (ऋतु) ने उसे दाह-शमन करनेवाली ओषधियाँ प्रदान कीं, जिससे उसका ताप शान्त हो सके ; जैसे सुगन्धवाला की जड़, मालती की छाल, चन्दन वृक्षों का सार (जल), अशोक के हरे सरस-पल्लव, शिरीष के पुष्प और पके हुए केले के फल। तात्पर्य यह है कि ये सभी साधन ग्रीष्म-काल में शीतल, अतएव काम के जीवन होते हैं।[१]

यहाँ कवि ने जड़ से फल तक की ओषधियों का वर्णन-क्रम अत्यन्त आकर्षक ढंग और वैदर्भी रीति या मार्ग से किया है।

शास्त्रार्थकविः—

शास्त्रार्थ-कवि का उदाहरण—

"आत्मारामा विहितरतयो निर्विकल्पे समाधौ
ज्ञानोद्रेकाद्विघटिततमोग्रन्थयः सत्त्वनिष्ठाः।
यं वीक्षन्ते कमपि तमसां ज्योतिषां वा परस्ता-
त्तं मोहान्धः कथमयममुं वेत्ति देवं पुराणम्॥"

दुर्योधन द्वारा सन्धिदूत श्रीकृष्ण का अपमान होने पर क्रुद्ध भीमसेन की सहदेव के प्रति उक्ति—

आत्मा में रमण करनेवाले एवं पूर्णज्ञान के उदय से जिनकी ज्ञानमय ग्रन्थियाँ खुल गई हैं, ऐसे सत्त्वमय आत्मज्ञानी पुरुष जिस परम ज्योति का दर्शन निर्विकल्प समाधि द्वारा करते हैं, उस पुराणपुरुष भगवान् (श्रीकृष्ण) को वह दुष्ट मोहान्ध दुर्योधन कैसे पहचान सकता है ?[२]

यहाँ 'आत्माराम', 'तमोग्रन्थि', 'निर्विकल्प समाधि' आदि शब्द योगशास्त्र में प्रसिद्ध हैं। कवि ने योगशास्त्र के अर्थ का रचना में उपयोग किया है।

एषां द्वित्रैर्गुणैः कनीयान्, पञ्चकैर्मध्यमः, सर्वगुणयोगी महाकविः।

---

१. यह 'काव्यमीमांसा' के प्रणेता राजशेखर-प्रणीत 'विद्धशालभञ्जिका' नामक नाटिका (अङ्क ४, श्लोक ५) से उद्धृत है। यह रचना वैदर्भी रीति के अनुसार की गई है। रीति का दूसरा नाम मार्ग है।

२. भट्टनारायण-कृत 'वेणीसंहार' नाटक, अङ्क १, श्लो० २३।

ऊपर कहे हुए इन गुणों में दो-तीन गुणोंवाला कवि कनिष्ठ श्रेणी का कवि कहा जाता है, पाँच गुणोंवाला मध्यम और सभी गुणों से युक्त कवि महाकवि होता है।

दश च कवेरवस्था भवन्ति। तत्र च बुद्धिमदाहार्यबुद्ध्योः सप्त, तिस्रश्च औपदेशिकस्य। तद्यथा काव्यविद्यास्नातको, हृदयकविः, अन्यापदेशी, सेविता, घटमानो, महाकविः, कविराज, आवेशिकः, अविच्छेदी, सङ्क्रामयिता च।

कवि की दस अवस्थाएँ होती हैं। उनमें बुद्धिमान् और आहार्यबुद्धि कवि की सात तथा औपदेशिक कवि की तीन अवस्थाएँ होती हैं। दस अवस्थाओं के नाम इस प्रकार हैं— १. काव्यविद्यास्नातक, २. हृदयकवि, ३. अन्यापदेशी, ४. सेविता, ५. घटमान, ६. महाकवि, ७. कविराज, ८. आवेशिक, ९. अविच्छेदी और १०. संक्रामयिता।

यः कवित्वकामः काव्यविद्योपविद्याग्रहणाय गुरुकुलान्युपास्ते स विद्यास्नातकः।

जो कवित्व-प्राप्ति की इच्छा से काव्य और तदङ्गभूत अलंकार, छन्द, कला आदि विद्याओं के ज्ञान के लिए गुरुकुल में जाता है, वह काव्यविद्यास्नातक है।

यो हृदय एव कवते निह्नुते च स हृदयकविः।

जो मन-ही-मन कविता की रचना करता है और संकोच अथवा दोष के भय से किसी को सुनाता नहीं; मन ही में रखता है, वह हृदयकवि है।

यः स्वमपि काव्यं दोषभयादन्यस्येत्यपदिश्य पठति सोऽन्यापदेशी।

जो अपनी ही रचना को दोष या विपरीत आलोचना के भय से दूसरे की रचना बताकर पढ़ता या सुनाता है, वह अन्यापदेशी कवि है।

यः प्रवृत्तवचनः पौरस्त्यानामन्यतमच्छायामभ्यस्यति स सेविता।

जो कवि कुछ-कुछ रचना करने लगता है और पुरातन कवियों में से किसी एक को अपना आदर्श मानकर उसकी छाया पर काव्य-रचना करता है, वह सेविता है।

योऽनवद्यं कवते न तु प्रबध्नाति स घटमानः।

जो प्रकीर्ण रूप से, अर्थात् भिन्न-भिन्न विषयों पर फुटकर रचना करता है, किसी एक निबन्ध का निर्माण नहीं करता, वह घटमान कवि है।

योऽन्यतरप्रबन्धे प्रवीणः स महाकविः।

जो किसी एक महान् या पूर्ण निबन्ध-काव्य का निर्माण करता है, वह महाकवि कहा जाता है।

यस्तु तत्र तत्र भाषाविशेषे तेषु प्रबन्धेषु तस्मिंस्तस्मिंश्च रसे स्वतन्त्रः स कविराजः। ते यदि जगत्यपि कतिपये।

जो भिन्न-भिन्न भाषाओं में, भिन्न-भिन्न प्रबन्ध-रचनाओं में और भिन्न-भिन्न रसों में स्वतन्त्रतापूर्वक निर्बाध रचना करने में समर्थ है, वह कविराज कहा जाता है। ऐसे कविराज संसार में कुछ इने-गिने ही होते हैं।

यो मन्त्राद्युपदेशवशाल्लब्धसिद्धिरावेशसमकालं कवते स आवेशिकः।

जो मन्त्र आदि के उपदेश और अनुष्ठान से कवित्व-सिद्धि प्राप्त करते हैं, वे आवेशिक कवि कहे जाते हैं।

यो यदैवेच्छति तदैवाविच्छिन्नवचनः सोऽविच्छेदी।

जो, जभी चाहे, तभी धाराप्रवाह से जिस किसी भी विषय पर आशुकविता करता है, वह अविच्छेदी कवि कहलाता है।

यः कन्याकुमारादिषु सिद्धमन्त्रः सरस्वतीं सङ्क्रामयति स सङ्क्रामयिता।

जो अविवाहित कन्याओं या कुमारों पर मन्त्रशक्ति द्वारा सरस्वती का संचार कराकर उनसे काव्य-रचना कराता है, वह संक्रामयिता कहा जाता है।

काव्यपाकः

सततमभ्यासवशतः सुकवेः वाक्यं पाकमायाति। 'कः पुनरयं पाकः?' इत्याचार्याः। 'परिणामः' इति मङ्गलः। 'कः पुनरयं परिणामः?' इत्याचार्याः। 'सुपां तिङां च श्रवः (श्रि ?) या व्युत्पत्तिः' इति मङ्गलः। सौशब्द्यमेतत्। 'पदनिवेशनिष्कम्पता पाकः' इत्याचार्याः। तदाहुः—

निरन्तर अभ्यास से कवि के वाक्यों में परिपक्वता आती है। यह पाक या परिपक्वता क्या है? यह आचार्यों का प्रश्न है। मंगल का मत है कि यह निरन्तर अभ्यास का 'परिणाम' या 'परिपाक' है। पुनः आचार्यों का प्रश्न है कि यह 'परिणाम' क्या है? मंगल का उत्तर है—सुबन्त या तिङन्त शब्दों की श्रोत्रमधुर व्युत्पत्ति ही परिणाम है। अर्थात्, सुन्दर शब्दों का प्रयोग। आचार्यों का मत है कि परिणाम या परिपाक शब्द का अर्थ है—पदों के प्रयोग में निर्भीकता या निःसन्दिग्धता। जैसा कि कहा है—

"आवापोद्धरणे तावद्यावद्दोलायते मनः।
पदानां स्थापिते स्थैर्ये हन्त सिद्धा सरस्वती॥"

कविता में सन्दर्भ के अनुकूल पदों के रखने और हटाने में जबतक चित्त चंचल रहता है, तभी तक कवि की अपरिपक्व अवस्था समझनी चाहिए। जब पद-विन्यास में स्थिरता प्राप्त हो जाय, तब समझना चाहिए कि अब सरस्वती सिद्ध हो गई, अर्थात् सिद्ध-सारस्वत कवि हो गया

'आग्रहपरिग्रहादपि पदस्थैर्यपर्यवसायस्तस्मात्पदानां परिवृत्तिवैमुख्यं पाकः' इति वामनीयाः। तदाहुः—

वामन का मत है कि आग्रह के कारण भी पदों की स्थिरता में सन्देह रहता है। अतः, एक बार लिखे गये पद के पुनः परिवर्त्तन की आवश्यकता न होना ही 'पाक' है। जैसा कि कहा है—

"यत्पदानि त्यजन्त्येव परिवृत्तिसहिष्णुतां।
तं शब्दन्यायनिष्णाताः शब्दपाकं प्रचक्षते॥"

शब्दशास्त्र के मर्मज्ञ विद्वान् शब्दपाक उसे कहते है, जहाँ एक बार प्रयुक्त शब्द पुनः परिवर्त्तन की अपेक्षा न रखे!

'इयमशक्तिर्न पुनः पाकः' इत्यवन्तिसुन्दरी। यदेकस्मिन्वस्तुनि महाकवीनामनेकोऽपि पाठः परिपाकवान्भवति, तस्माद्रसोचितशब्दार्थसूक्तिनिबन्धनः पाकः। यदाह—

अवन्तिसुन्दरी का मत है कि 'यह अशक्ति है, पाक नहीं! महाकवियों के काव्यों में एक के स्थान पर अनेक पाठ मिलते हैं। वे सभी परिपक्व तथा उपयुक्त भी होते हैं। इसलिए, रस के अनुकूल और अनुगुण शब्द, अर्थ एवं सूक्तियों का निबन्धन करना पाक है।' जैसा कि कहा गया है—

"गुणालङ्काररीत्युक्तिशब्दार्थग्रथनक्रमः।
स्वदते सुधियां येन वाक्यपाकः स मां प्रति॥"

तदुक्तम्—"सति वक्तरि सत्यर्थे शब्दे सति रसे सति।
अस्ति तन्न विना येन परिस्रवति वाङ्मधु॥"

गुण, अलंकार, रीति और उक्ति के अनुसार शब्दों और अर्थों का जो गुम्फन-क्रम है, वह सहृदयों, श्रोताओं और भावकों को आकर्षक और स्वादु प्रतीत होता है—यही वाक्यपाक है। इस सम्बन्ध में कहा भी है—

कवि, अर्थ और शब्द इन सभी के रहने पर भी जिसके विना वाङ्मधु का परिस्रवण नहीं होता, वही अनिर्वचनीय वस्तु 'पाक' है। जो सहृदय जनों द्वारा आस्वाद्य और काव्य का प्रधान जीवन है। अर्थात्, सब कुछ होते हुए भी काव्य-रचना में कवि की प्रौढता जीवन डाल देती है। यह प्रौढता ही पाक है।

'कार्यानुमेयतया यत्तच्छब्दनिवेद्यः परं पाकोऽभिधाविषयस्तत्सहृदयप्रसिद्धिसिद्ध एव व्यवहाराङ्गमसौ' इति यायावरीयः।

काव्यपाक के सम्बन्ध में अन्य आचार्यों के मतों का प्रदर्शन कर यायावरीय राजशेखर अपना मत प्रदर्शित करते हैं कि 'जहाँ पदों के परिवर्त्तन की आवश्यकता

नहीं है, वह शब्दपाकवाला काव्य है। जहाँ रस, गुण और अलङ्कारों की सुन्दर रचना है, वह वाक्यपाक है। इसका समुचित निर्णय सहृदय समालोचकों की आलोचना द्वारा ही हो सकता है।'

स च कविग्रामस्य काव्यमभ्यस्यतो नवधा भवति।

काव्य-रचना का अभ्यास करनेवाले कवियों के लिए नौ प्रकार का पाक होता है—

तत्राद्यन्तयोरस्वादु पिचुमन्दपाकम्,

१. आदि और अन्त दोनों में अस्वादु-नीरस पाक का नाम 'पिचुमन्द पाक' है। पिचुमन्द नाम नीम का है, वह सदा तिक्त ही रहता है। ऐसी काव्य-रचना, जो आदि और अन्त दोनों में नीरस हो, वह निम्बपाकवाली कही जाती है।

आदावस्वादु परिणामे मध्यमं बदरपाकम्,

२. आदि में नीरस और अन्त में कुछ सरस रचना 'बदरपाक' कही जाती है। बेर का फल खाने में पहले कुछ फीका और अन्त में कुछ मीठा लगता है।

आदावस्वादु परिणामे स्वादु मृद्वीकापाकम्,

३. आदि में नीरस और अन्त में सरस रचना 'मृद्वीकापाक' कही जाती है। मृद्वीका पहले कुछ कसैली और अन्त में अति मधुर स्वादवाली होती है।

आदौ मध्यममन्ते चास्वादु वार्त्ताकपाकम्,

४. आदि में कुछ मध्यम मधुर और अन्त में सर्वथा नीरस रचना 'वार्त्ताकपाक' है। वार्त्ताक (बैंगन) आदि में कुछ अच्छा और अन्त में फीका लगता है।[1]

आद्यन्तयोर्मध्यमं तिन्तिडीकपाकम्,

५. आदि और अन्त—दोनों में मध्यम स्वादवाली रचना 'तिन्तिडीकपाक' है। तिन्तिडी (इमली) आदि और अन्त में एक-सा स्वाद देती है।

आदौ मध्यममन्ते स्वादु सहकारपाकम्,

६. आदि में कुछ मध्यम और अन्त में स्वादु रचना 'सहकारपाक' है। सहकार (आम) पहले कुछ कसैला और अन्त में अति मधुर होता है।

आदावुत्तममन्ते चास्वादु क्रमुकपाकम्,

७. आदि में स्वादु और अन्त में नीरस रचना 'क्रमुकपाक' है। क्रमुक (सुपारी) पहले मधुर और अन्त में कसैली लगती है।

आदावुत्तममन्ते मध्यमं त्रपुसपाकम्,

---

१. भामह ने इसे वृन्ताकपाक लिखा है। अर्थात्, जिसमें सुबन्त और तिङन्त शब्दों का संस्कार अच्छा हो और अर्थ गुण आदि अत्यन्त क्लिष्ट हों। सहृदय विद्वान् वृन्ताकपाक से घृणा करते हैं। देखिए भामह का काव्यालङ्कार, अ० १, श्लो० १२।

८. आदि में स्वादु और अन्त में मध्यम रचना 'त्रपुसपाक' है। त्रपुस (ककड़ी) आदि में मधुर और अन्त में कुछ फीकी-सी लगती है।

आद्यन्तयोः स्वादु नालिकेरपाकमिति।

९. आदि से अन्त तक मधुर 'नारिकेलपाक' है। नारिकेल (नारियल) आदि से अन्त तक मधुर होता है।

तेषां त्रिष्वपि त्रिकेषु पाकाः प्रथमे त्याज्याः। वरमकविर्न पुनः कुकविः स्यात्। कुकविता हि सोच्छ्वासं मरणम्। मध्यमा संस्कार्याः। संस्कारो हि सर्वस्य गुणमुत्कर्षति। द्वादशवर्णमपि सुवर्णं पावकपाकेन हेमीभवति। शेषा ग्राह्याः।

इनमें पिचुमन्दपाक, वार्त्ताकपाक और क्रमुकपाक सर्वथा त्याज्य हैं। कवि न होना अच्छा है; परन्तु कुकवि न होना चाहिए। क्योंकि, कुकविता करना दुःख के साथ मृत्यु के समान है। मध्यम पाक (बदर, तिन्तिडीक और त्रपुस) वालों की रचनाओं का संस्कार करके उन्हें सरस और मधुर बनाना चाहिए। कारण यह कि संस्कार द्वारा गुणों की वृद्धि की जा सकती है। अनेक प्रकार के धातुओं से मिला हुआ सोना अग्नि-संस्कार से विशुद्ध बन जाता है। शेष तीन पाक (मृद्वीका, सहकार और नारिकेल) ग्राह्य हैं।

स्वभावशुद्धं हि न संस्कारमपेक्षते। न मुक्तामणेः शाणस्तारतायै प्रभवति।

जो प्रकृति या स्वभाव से शुद्ध हैं, उनके लिए संस्कार की अपेक्षा नहीं रहती। मोती का संस्कार करने पर भी वह अधिक सुन्दर या शुद्ध नहीं बनाया जा सकता।

अनवस्थितपाकं पुनः कपित्थपाकमामनन्ति। तत्र पलालधूननेन अन्नकणलाभवत्सुभाषितलाभः।

जिस काव्य-रचना में अव्यवस्थित रूप से परिपाक होता है, अर्थात् कहीं सरस, कहीं नीरस और कहीं मध्यम; उसे कपित्थपाक[1] कहते हैं। जैसे, पलाल (पुआल या पोरा) को धुनने से कहीं दैववश एक-आध अन्न का दाना मिल जाता है, वैसे ही कपित्थपाकवाली रचना में कहीं ढूँढ़ने पर एक-आध सूक्ति भी दिखाई पड़ सकती है।

सम्यगभ्यस्यतः काव्यं नवधा परिपच्यते।
हानोपादानसूत्रेण विभजेत्तद्धि बुद्धिमान्॥

इस प्रकार अभ्यास करनेवाले कवि के काव्य के पाक नौ प्रकार के होते हैं।

---

१. भामह ने कपित्थपाक का लक्षण लिखा है कि जो मनोहर न हो, शीघ्र समझ में न आये और सरस होने पर भी रुचिकर न हो। देखिए भामह, अ० ५, श्लो० ६२।

बुद्धिमान् कवि को चाहिए कि उनमें पहले हेय (त्याज्य) और उपादेय (ग्राह्य) का विभाजन कर ले।

अयमत्रैव शिष्याणां दर्शितस्त्रिविधो विधिः ।
किन्तु विविधमप्येतत्त्रिजगत्यस्य वर्त्तते ॥

इस प्रकार काव्य की शिक्षा ग्रहण करनेवाले शिष्यों के लिए तीन प्रकारों के प्रदर्शन किये गये हैं। यों तो, विशाल संसार में इसके अनेक भेद किये जा सकते हैं।

॥ इति राजशेखरकृतौ काव्यमीमांसायां कविरहस्ये प्रथमेऽधिकरणे
शिष्यविशेषेषु काव्यपाककल्पः पञ्चमोऽध्याय. ॥

पञ्चम अध्याय समाप्त

षष्ठोऽध्यायः पदवाक्यविवेकः

व्याकरणस्मृतिनिर्णीतः शब्दो निरुक्तनिघण्ट्वादिभिर्निर्दिष्टस्तदभिधेयोऽर्थस्तौ पदम् ।

षष्ठ अध्याय : पदवाक्यविवेक

इस अध्याय में पद और वाक्य का विचार किया जायगा।

जो व्याकरण-शास्त्र से प्रकृति-प्रत्यय द्वारा सिद्ध किया जाता है, उसे शब्द कहते हैं और निरुक्त, निघण्टु, कोष, व्यवहार आदि के निर्देश के अनुकूल, शब्द जिस वस्तु का संकेत करता है, वह उसका अभिधेय अर्थ है। शब्द और अर्थ—दोनों मिलकर 'पद' कहे जाते हैं।

तस्य पञ्च वृत्तयः सुब्वृत्तिः, समासवृत्तिः, तद्धितवृत्तिः, कृद्वृत्तिः, तिङ्वृत्तिश्च । गौरश्वः पुरुषो हस्तीति जातिवाचिनः शब्दाः । हरो हरिर्हिरण्यगर्भः काल आकाशं दिगिति द्रव्यवाचिनः । श्वेतः कृष्णो रक्तः पीत इति च गुणवाचिनः । प्रादयश्चादयश्चासत्त्ववचनाः । नगरमुपप्रस्थितः पन्थाः, वृक्षमनुद्योतते विद्युदिति कर्मप्रवचनीयाः ।

उन पदों की पाँच वृत्तियाँ होती हैं[1] - १. सुबन्त, २. समासान्त, ३. तद्धितान्त, ४. कृदन्त और ५. तिङन्त। गौ, अश्व, हाथी, पुरुष—ये शब्द जातिवाचक हैं। अर्थात्, गौ शब्द समूची गो-जाति का वाचक है। उसी प्रकार पुरुष शब्द समस्त पुरुष-जाति का वाचक है। हर, हरि, आकाश, काल आदि शब्द द्रव्यवाचक हैं। श्वेत, पीत, रक्त, कृष्ण आदि शब्द द्रव्य में रहनेवाले इन गुणों को बतलाते हैं, अतः गुणवाचक हैं। प्र, सम्, आदि तथा च, ह, एवं आदि शब्द अद्रव्य या अव्ययवाचक हैं। 'नगर के समीप पथिक गया', 'वृक्ष के पीछे बिजली चमकी'—यहाँ 'समीप' और 'पीछे' दोनों अव्यय कर्म के साथ लगाये गये हैं, इनकी कर्म-प्रवचनीय संज्ञा है।

'सेयं सुब्वृत्तिः पञ्चतय्यपि वाङ्मयस्य माता' इति विद्वांसः । सुब्वृत्तिरेव समासवृत्तिः । व्याससमासावेवानयोर्भेदहेतू । सा च षोढा द्वन्द्वादिभेदेन । तत्र पट्समासीसमाससूक्तम्—

विद्वानों का मत है कि यह पाँचों प्रकार की भी सुब्वृत्ति सारे वाङ्मय की माता है। सुब्वृत्ति ही समासवृत्ति है। इन दोनों का भेद समास और व्यास के ही कारण है।

---

१. कृत्तद्धितसमासैकशेषसनाद्यन्तधातुरूपाः पञ्चवृत्तयः (सिद्धान्तकौमुदी, सर्वसमासशेष), अर्थात् कृत, तद्धित, समास, एकशेष और सन्, क्यप् आदि प्रत्ययों द्वारा बना धातु, ये ही पाँच वृत्तियाँ हैं। यहाँ वैयाकरणों और राजशेखर के मत में भेद पड़ जाता है।

समास छह प्रकार के होते हैं—१. द्वन्द्व, २. द्विगु, ३. अव्ययीभाव, ४. तत्पुरुष, ५. कर्मधारय और ६. बहुव्रीहि। इन छह समासों का संग्रह करके किसी कवि ने श्लिष्ट कविता में अपनी अवस्था का वर्णन किया है—

"द्वन्द्वोऽस्मि द्विगुरस्मि च गृहे च मे सततमव्ययीभावः।
तत्पुरुष कर्मधारय येनाऽहं स्यां बहुव्रीहिः॥"

मैं द्वन्द्व हूँ, अर्थात् स्त्री और पुरुष। द्विगु भी हूँ, अर्थात् दो गौओंवाला भी हूँ। मेरे घर में सदा अव्ययीभाव है, अर्थात् व्यय करने के लिए कुछ भी नहीं है। तत्=इसलिए हे पुरुष! ऐसा कर्म धारय=धारण करो, जिससे मैं बहुत अन्नवाला (बहुव्रीहि) हो सकूँ।

तद्धितवृत्तिः पुनरनन्ता। तद्धि शास्त्रप्रायो वादो यदुत तद्धितमूढाः पाणिनीयाः। माञ्जिष्ठं रौचनिकं सौरं सैन्धवं वैयासीयमिति तद्धितान्ताः। प्रातिपदिकविषया चेयम्। कृद्वृत्तिश्च धातुविषया। कर्त्ता हर्त्ता कुम्भकारो नगरकार इति कृदन्ताः।

तद्धितवृत्ति अनन्त है। अर्थात्, तद्धितान्त प्रत्ययों का अन्त नहीं। इसलिए, शास्त्रों में प्रायः यह कहावत प्रचलित है कि पाणिनि-शास्त्र के अनुयायी तद्धितमूढ होते हैं। मांजिष्ठ, रौचनिक, सौर, सैन्धव, वैयासीय आदि पद तद्धित-प्रत्ययान्त हैं। यह तद्धितवृत्ति प्रातिपदिकों से होती है। सभी तद्धित शब्द प्रातिपदिक होकर सुबन्त बन जाते हैं। कृत् प्रत्यय धातुओं से होते हैं—जैसे, कृ धातु से कर्त्ता, हृ धातु से हर्त्ता, कुम्भ शब्दपूर्वक कृ धातु से कुम्भकार, नगरकार आदि कृदन्त शब्द हैं।

तिङ्वृत्तिर्दशधा दशलकारीभेदेन। द्विधा च सा धातुसुब्धातुविषयत्वेन। अपाक्षीत् पचतिप क्ष्यतीति धातवीयान्याख्यातानि। अपल्लवयत् पल्लवयति पल्लवयिष्यतीति सौब्धातवीयानि।

तिङन्त शब्द दस लकारों के भेद से दस प्रकार के होते हैं। धातु और सुप् धातु इन भेदों से दो प्रकार के तिङन्त शब्द होते हैं। पचति, अपाक्षीत्, पक्ष्यति आदि शब्द धातु से बनते हैं और पल्लवयति, अपल्लवयत् एवं पल्लवयिष्यति ये सुप् धातुओं से बने रूप हैं।

तदिदमित्थङ्कारं पञ्चप्रकारमपि पदजातं मिथः समन्वीयमानमानन्त्याय कल्पते। तज्जन्मा चैष विदुषां वादो यत्किल दिव्यं समासहस्रं बृहस्पतिर्वक्ता शतक्रतुरध्येता तथापि नान्तः शब्दराशेरासीत्।

इस प्रकार, ये पाँच प्रकार के पद परस्पर मिलकर असंख्य रूप धारण करते हैं।

इसी कारण विद्वानों में यह किंवदन्ती प्रचलित है कि बृहस्पति[1] अध्यापक, इन्द्र शिष्य और एक सहस्र दिव्य वर्ष का समय; फिर भी वे शब्द-सागर का पार न पा सके। अर्थात्, गुरु बृहस्पति एक सहस्र दिव्य वर्ष में भी इन्द्र जैसे शिष्य को पूरा व्याकरण न पढ़ा सके।

तत्र दयितसुब्वृत्तयो विदर्भाः। वल्लभसमासवृत्तयो गौडाः। प्रियतद्धिता दाक्षिणात्याः। कृत्प्रयोगरुचय उदीच्याः। अभीष्टतिङ्वृत्तयः सर्वेऽपि सन्तः। तेषां च विशेषलक्षणानुसन्धानेनावर्द्धताख्यातगणः। उक्तञ्च—

इन पाँचों वृत्तियों में विदर्भ देशवासी सुबन्त शब्दों का अधिक प्रयोग करते हैं। गौड देशवासियों को समासान्तपद अधिक प्रिय होते हैं। दक्षिण देशवासी तद्धितप्रिय होते हैं, उत्तर देश के विद्वान् कृदन्त शब्दों को अधिक चाहते हैं और तिङन्त पद सभी सज्जनों को प्रिय होते हैं। विद्वानों के विशेष अनुसन्धानों के कारण तिङन्त पदों की वृद्धि होती गई है। जैसा कि कहा है—

"विशेषलक्षणविदां प्रयोगाः प्रतिभान्ति ये।
आख्यातराशिस्तैरेष प्रत्यहं ह्युपचीयते॥"

विशेष लक्षण जाननेवाले अनुसन्धानकर्त्ताओं के नये-नये प्रयोग देखे जाते हैं। इसी से आख्यात-तिङन्त शब्दों की राशि दिन-दिन बढ़ती ही जाती है।

पदानामभिधित्सितार्थग्रन्थनाकरः सन्दर्भो वाक्यम्। 'तस्य च त्रिधाऽभिधाव्यापारः' इत्यौद्भटाः। वैभक्तः शाक्तः शक्तिविभक्तिमयश्च।

अभिलषित भाव को व्यक्त करनेवाले पदों के समुचित रूप से संग्रथित सन्दर्भ का नाम वाक्य है। आचार्य उद्भट के अनुयायियों का मत है कि वाक्यों के अभिधा-व्यापार तीन प्रकार के हैं—१. वैभक्त, २. शाक्त और ३. शक्ति-विभक्तिमय।

प्रतिपदं श्रूयमाणासूपपदविभक्तिषु कारकविभक्तिषु वा वैभक्तः।

जहाँ वाक्य के अन्तर्गत उपपद-विभक्तियाँ[2] या कारक-विभक्तियाँ प्रत्येक पद में व्यक्त होती हैं, उसे वैभक्त वाक्य कहते हैं।

लुप्तास्वपि विभक्तिषु समाससामर्थ्यात्तदर्थावगतौ शाक्तः। उभयात्मा च शक्तिविभक्तिमयः। तत्र वैभक्तः—

जहाँ विभक्तियाँ समास के कारण लुप्त हों; परन्तु समास की शक्ति से उन

---

१. बृहस्पतिश्च प्रवक्तेन्द्रश्चाध्येता दिव्यं वर्षसहस्रमध्ययनकालो नान्तं जगाम। किं पुनश्चाद्यत्वे यः सर्वथा चिरं जीवति वर्षशतं जीवति (महाभाष्य, पस्पशा०)।

२. उपपद-विभक्ति उन्हें कहते हैं, जो किसी पद के साथ रहने से शब्दों में जुड़ती हैं; जैसे हरये नमः। यहाँ 'नमः' शब्द के कारण 'हरये' में चतुर्थी विभक्ति जुड़ी है। और, कारक-विभक्ति वे हैं, जो कर्त्ता आदि कारकों के अर्थ को व्यक्त करने के लिए शब्दों के साथ जुड़ती हैं। यथा हरिर्गच्छति, रामेण हतः आदि में।

विभक्तियों का अर्थ प्रतीत होता रहे, उसे शाक्तवाक्य कहते हैं और जिस वाक्य में दोनों लक्षण मिलें, उसे उभयात्मक कहते हैं।

वैभक्त का उदाहरण—

"नमस्तस्मै वराहाय लीलयोद्धरते महीम्।
खुरयोर्मध्यगो यस्य मेरुः खणखणायते॥"

लीला से पृथ्वी को उठाये हुए वराह भगवान् के लिए नमस्कार है; जिसके खुरों में फँसा हुआ सुमेरु-पर्वत खनखनाता है।

इस वाक्य के अन्तर्गत प्रत्येक पद किसी-न-किसी उपपद या कारक-विभक्ति के पृथक्-पृथक् रूप में और समासरहित कहा गया है।

शाक्तः—

शक्ति का उदाहरण—

"वित्रस्तशत्रुः स्पृहयालुलोकः
प्रपन्नसामन्त उदग्रसत्त्वः।
अधिष्ठितौदार्यगुणोऽसिमत्र-
जितावनिर्नास्ति नृपस्त्वदन्यः॥"

हे राजन्! शत्रुओं का दर्प-दलन करनेवाला, जनप्रिय, सामन्त राजाओं को शरण देनेवाला, उद्भटपराक्रमशाली, औदार्यपूर्ण और खड्ग के बल से पृथ्वी का विजय करनेवाला तुम्हारे सिवा दूसरा कोई राजा नहीं है।

इस वाक्य में राजा के छह विशेषण समस्त हैं। परन्तु, बहुव्रीहि समास में लुप्त विभक्तियों का लोप होने पर भी उनका अर्थ स्पष्ट रूप से प्रतीत होता है।

यथा वा—

दूसरा उदाहरण—

"कण्ठदोलायितोद्दामनीलेन्दीवरदामकाः।
हरिभीत्याश्रिताशेषकालियाहिकुला इव॥"

कण्ठ में लटकती हुई विकसित नील-कमलों की माला धारण किये हुए उन्हें देखकर ऐसा लगता था कि कृष्ण के भय से कालिय नाग का समस्त परिवार शरण-प्राप्ति के लिए उनके गले में लिपट गया है।

इस वाक्य में केवल चार पद हैं, जिनमें दो तत्पुरुष और दो बहुव्रीहि समास-वाले हैं। परन्तु, उन समस्त पदों के अवान्तर पदों की लुप्त विभक्तियों का अर्थ समास-शक्ति से स्पष्ट प्रतीत हो रहा है।

शक्तिविभक्तिमयः—

शक्ति-विभक्ति उभय का उदाहरण—

"अथागादेकदा स्पष्टचतुराशामुखद्युतिः ।
तं ब्रह्मेव शरत्कालः प्रोत्फुल्लकमलासनः ॥"

श्लेषालङ्कार द्वारा शरद् ऋतु का वर्णन है—चारों दिशाओं के मुख में स्पष्ट-रूप से अपनी ज्योति फैलाता हुआ और खिले हुए कमल तथा असन (कास) के फूलों-वाला शरत्काल ब्रह्मा के समान आया। ब्रह्मा के पक्ष में—जिसकी मुखशोभा चारों दिशाओं में है और खिला हुआ कमल जिसका आसन है।

यहाँ शरद् ऋतु के पक्ष में शाक्त और ब्रह्मा के पक्ष में वैभक्त अभिधा-व्यापार है।

तत्र वाक्यं दशधा। एकाख्यातम्, अनेकाख्यातम्, आवृत्ताख्यातम्, एकाभिधेयाख्यातं, परिणताख्यातम्, अनुवृत्ताख्यातं, समुचिताख्यातम्, अध्याहृताख्यातं, कृदभिहिताख्यातम्, अनपेक्षिताख्यातमिति ॥

वाक्य दस प्रकार के होते हैं। जैसे—१. एकाख्यात, २. अनेकाख्यात, ३. आवृत्ताख्यात, ४. एकाभिधेयाख्यात, ५. परिणताख्यात, ६. अनुवृत्ताख्यात, ७. समुचिताख्यात, ८. अध्याहृताख्यात, ९. कृदभिहिताख्यात और १०. अनपेक्षिताख्यात।

तत्रैकाख्यातम्—

आख्यात का अर्थ क्रियापद है। एक क्रियापदवाले एकाख्यात वाक्य का उदाहरण—

"जयत्येकपदाक्रान्तसमस्तभुवनत्रयः ।
द्वितीयपदविन्यासव्याकुलाभिनयः शिवः ॥"

ताण्डव नृत्य में एक पग से सम्पूर्ण जगत्त्रयी को व्याप्त किये हुए और दूसरे पग को रखने के लिए (स्थानाभाव से) व्याकुलता का अभिनय करनेवाले शिवजी की जय हो।

यहाँ 'जयति' केवल एक ही आख्यात या क्रियापद है।

अनेकाख्यातम्। तच्च द्विधा सान्तरं निरन्तरम्। तयोः प्रथमम्—

अनेक क्रियाओंवाले अनेकाख्यात वाक्य दो प्रकार के होते हैं—१. सान्तर और २. निरन्तर। सान्तर वाक्य वह है, जिसमें आख्यात पदों के बीच-बीच में सुबन्त पद भी हों और निरन्तर वाक्य वह है, जिसमें केवल क्रियापद ही हों, बीच में सुबन्त पद एक भी न रहे।

सान्तर का उदाहरण—

"देवासुरास्तमथ मन्थगिरां विरामे
पद्मासनं जय जयेति बभाषिरे च।

द्राग्भेजिरे च परितो बहु मेनिरे च
स्वाग्रेसरं विदधिरे च ववन्दिरे च ॥"

समुद्र-मन्थन के उपरान्त जब मन्थन का शब्द समाप्त हुआ, तब सुर, असुर सभी 'जय-जय' शब्द से ब्रह्माजी का अभिनन्दन करने लगे, उन्हें चारों ओर से घेरने लगे, उनका आदर करने लगे, अपना नेता बनाने लगे और प्रणाम करने लगे।

इस वाक्य में तिङन्त-आख्यात-पदों के बीच-बीच में अनेक सुबन्त पद भी आ गये हैं। अतः, यह सान्तर रचना है।

द्वितीयम्—

निरन्तर अनेकाख्यात का उदाहरण—

"त्वं पासि हंसि तनुषे मनुषे बिभर्षि
विभ्राजसे सृजसि संहरसे विरौषि।
आस्से निरस्यसि सरस्यसि रासि लासि
सङ्क्रीडसे ब्रुडसि मेधसि मोदसे च ॥"

हे देव! तू रक्षा करता है, नाश करता है, विस्तार करता है, मानता है, पालन करता है, शोभित होता है, सर्जन करता है, संहार करता है, शब्द करता है, मौन रहता है, फेंकता है, सरसाता है, देता है, लेता है, एक साथ खेलता है, डूबता है, उतराता है और प्रसन्न रहता है।

इस वाक्य में सबसे प्रथम 'त्वं' (तू) शब्द और अन्त में च (और) ये सुबन्त शब्द हैं, शेष सभी आख्यात-पद, अर्थात क्रियापद हैं। अतः, यह निरन्तर रचना है।

'आख्यातपरतन्त्रा वाक्यवृत्तिरतो यावदाख्यातमिह वाक्यानि' इत्याचार्याः। 'एकाकारतया कारकग्रामस्यैकार्थतया च वचोवृत्तेरेकमेवेदं वाक्यम्' इति यायावरीयः।

प्राचीन आचार्यों का मत है कि 'वाक्य की समाप्ति एक आख्यात पद से ही हो जाती है, अतः उक्त उदाहरण में जितने क्रियापद हैं, उतने ही वाक्य हैं। यह एक वाक्य नहीं कहा जा सकता।' परन्तु, यायावरीय राजशेखर कहते हैं कि 'यह एक ही वाक्य है।' कारण यह कि कारक पद, अर्थात् कर्त्ता के एक होने से और वक्ता के वचन का अभिप्राय भी एक ही अर्थ में होने से यह एक ही वाक्य है, अनेक नहीं।

आवृत्ताख्यातम्—

"जयत्यमलकौस्तुभस्तबकितांशपीठो हरि-
र्जयन्ति च मृगेक्षणाश्चलदपाङ्गदृष्टिक्रमाः।

ततो जयति मल्लिका तदनु सर्वसंवेदना-
विनाशकरणक्षमो जयति पञ्चमस्य ध्वनिः ॥"

आवृत्ताख्यात का अर्थ है कि एक ही क्रिया की, भिन्न-भिन्न कर्त्ता-कारकों के साथ बार-बार आवृत्ति की जाय। जैसे—

विमल कौस्तुभ-मणि से शोभित वक्षस्थलवाले हरि की जय हो और चंचल कटाक्ष-पात करनेवाली रमणियों की जय हो, तदनन्तर मल्लिका-कुसुम की जय हो और उसके अनन्तर सब प्रकार की चेतना को नष्ट करनेवाली कोकिल की पंचम ध्वनि की जय हो।

यहाँ एक आख्यात 'जयति' की अनेक कर्त्ता-कारकों के साथ आवृत्ति हुई है।

एकाभिधेयाख्यातम्—

"हृष्यति चूतेषु चिरं तुष्यति वकुलेषु मोदते मरुति ।
इह हि मधौ कलकूजिषु पिकेषु च प्रीयते रागी ॥"

एकाभिधेयाख्यात का तात्पर्य यह है कि एक ही कर्त्ता-कारक का अनेक आख्यातों के साथ सम्बन्ध हो। जैसे—

वसन्त ऋतु में पथिक आमों पर हर्षित होता है, बकुल पर सन्तुष्ट होता है, मलय-वायु पर मुदित होता है और सुन्दर बोलती हुई कोकिलों पर प्रसन्न होता है।

परिणताख्यातम्—

"सोऽस्मिन्जयति जीवातुः पञ्चेषोः पञ्चमध्वनिः ।
ते च चैत्रे विचित्रैलाककोलीकेलयोऽनिलाः ॥"

परिणामाख्यात का तात्पर्य यह है कि एक ही क्रिया एक कर्त्ता के साथ सम्बद्ध होकर दूसरे कर्त्ता के लिए भी क्रिया रूप में परिणत हो जाय। जैसे—

इस चैत्रमास में कामदेव की जीवनभूत कोकिल की पंचम ध्वनि सर्वोत्कृष्ट है और इलायची तथा कंकोल वृक्षों के साथ क्रीडा करनेवाली मलय-वायु भी सर्वोत्कृष्ट है।

यहाँ कोकिल की पंचम ध्वनि के लिए आया हुआ 'जयति'—यह आख्यात वायु के लिए भी क्रिया-रूप में परिणत हो गया।

अनुवृत्ताख्यातम्—

"चरन्ति चतुरम्भोधिवेलोद्यानेषु दन्तिनः ।
चक्रवालाद्रिकुञ्जेषु कुन्दभासो गुणाश्च ते ॥"

अनुवृत्ताख्यात वह है, जो एक वाक्य को पूरा करके दूसरे वाक्य का भी अनुवर्त्तन करे। जैसे—

हे राजन्! तुम्हारे हाथी चारों समुद्रों के तटवर्त्ती वनों में विहार करते हैं और कुन्द-कुसुम के समान उज्ज्वल तुम्हारे गुण, लोकालोक पर्वत के लता-कुंजों में विहरण करते हैं।

यहाँ हाथियों के लिए प्रयुक्त 'चरन्ति' इस क्रिया (आख्यात) का गुणों के साथ भी अनुवर्त्तन किया गया है।

समुचिताख्यातम्—

"परिग्रहभराक्रान्तं दौर्गत्यगतिचोदितं।
मनो गन्त्रीव कुपथे चीत्करोति च याति च ॥"

समुचिताख्यात का उदाहरण—

स्त्री, कुटुम्ब आदि के भार से दबा हुआ और दुर्भाग्य से प्रेरित मन गाड़ी के समान कुपथ पर जाता भी है और चिल्लाता भी है। गाड़ी भी अधिक भार से आक्रान्त होकर और दुष्टगति की प्रेरणा से प्रेरित होकर कुमार्ग पर जाती है और 'चीं-चीं' शब्द करती है।

यहाँ मन का गाड़ी के समान कुपथ में जाना और चिल्लाना उचित ही है।

यथा च—

"स देवः सा दंष्ट्रा कृतकिटिविलासस्मितसिता
द्वयं दिश्यात्तुभ्यं मुदमिदमुदारं जयति च।
उदञ्चद्भिर्भूयस्तरलितनिवेशा वसुमती
यदग्रे यच्छ्वासैर्गिरिगुडकलीलामुदवहत् ॥"

वराह भगवान् और लीलास्मित से स्वच्छ उनकी दंष्ट्रा (दाढ़) की जय हो और वे दोनों तुम्हारे लिए उदार आनन्द प्रदान करें, जिनके दीर्घ उच्छ्वासों से हिलती हुई और दाढ़पर रखी हुई पृथ्वी पर्वताकार कन्दुक (गेंद) के समान शोभा को धारण करती है।

इस उदाहरण में 'पृथ्वी गेंद की लीला को धारण करती है', इस अर्थ में 'उदवहत्' क्रिया सर्वथा समुचित प्रतीत होती है। कारण पृथ्वी गेंद नहीं है, किन्तु उसकी शोभा को धारण करती है और दंष्ट्रा पृथ्वी को।

अध्याहृताख्यातम्—

"दोर्दण्डताण्डवभ्रष्टमुडुखण्डं बिभर्त्ति यः।
व्यस्तपुष्पाञ्जलिपदे चन्द्रचूडः श्रिये स वः ॥"

अध्याहृताख्यात उसे कहते हैं, जहाँ वाक्य में आख्यात पद का प्रयोग शब्दतः न किया गया हो और वाक्य-पूर्त्ति के लिए उसे ऊपर से लाना पड़े। जैसे—

भुजाओं के ताण्डव से टूटकर गिरे हुए नक्षत्रों के टुकड़ों को जो विकीर्ण पुष्पाञ्जलि के स्थान पर धारण करता है, वह चन्द्रचूड शिव आपकी सम्पत्ति या शोभा के लिए हो।

इस वाक्य में 'अस्तु' या 'भवतु' क्रिया का उल्लेख नहीं है, उसका अध्याहार करने से ही वाक्य पूर्ण होता है।

कृदभिहिताख्यातम्—

"अभिमुखे मयि संहृतमीक्षितं
हसितमन्यनिमित्तकथोदयं ।
विनयबाधितवृत्तिरतस्तया
न विवृतो मदनो न च संवृतः ॥"

कृदभिहिताख्यात का अर्थ है कि तिङन्त क्रियापदों के स्थान पर कृदन्त शब्दों से आख्यात का कार्य लिया जाय। जैसे—

मेरे सामने आने पर उस नायिका (शकुन्तला) ने आँखें नीची कर लीं और किसी अन्य बात का प्रसंग चलाकर हँस दिया। इस प्रकार, उसने विनय से अवरुद्ध व्यवहारवाले अपने काम (अभिलाषा) को न प्रकट ही किया और न छिपाया ही।[1]

यहाँ 'संहृतम्' 'ईक्षितं', 'हसितं', 'विवृतं', 'संवृतं'—आदि कृत्प्रत्ययान्त शब्दों से आख्यात-क्रिया का कार्य लिया गया है।

अनपेक्षिताख्यातम्—

"कियन्मात्रं जलं विप्र जानुदघ्नं नराधिप ।
तथापीयमवस्था ते न सर्वत्र भवादृशाः ॥"

अनपेक्षिताख्यात का स्पष्ट अर्थ है कि विना आख्यात के वाक्य-रचना हो जाय। जैसे—(प्रश्नोत्तर)

राजा—ब्राह्मण ! कितना पानी (है) ?
ब्राह्मण—राजन् ! घुटने-भर !
राजा—तुम्हारी ऐसी हालत क्यों (है) ?
ब्राह्मण—सभी आप-जैसे नहीं (हैं)।

यहाँ क्रियापद का सर्वथा अभाव है। किन्तु उसके विना भी अर्थबोध होता है।

गुणवदलङ्कृतञ्च वाक्यमेव काव्यम्। 'असत्यार्थाभिधायित्वान्नोपदेष्टव्यं काव्यम्' इत्येके। यथा—

गुणों और अलंकारों से युक्त वाक्य का नाम काव्य है।[2] कुछ लोगों का मत है कि 'काव्यों में असत्य-आलंकारिक बातों का उल्लेख रहता है। अतः, यह उपदेश करने योग्य नहीं है।' जैसे—

---

१. देखिए कालिदास-कृत अभिज्ञानशाकुन्तल, अं० २, श्लो० ४५।

२. काव्य के अनेक लक्षण किये गये हैं, इसपर विद्वानों के खण्डनमण्डनात्मक शास्त्रार्थ भी हैं। काव्य-मीमांसाकार राजशेखर को वामन के मतानुसार काव्य का लक्षण अभिमत है। वामन, रुद्रट आदि विद्वानों ने गुण और अलङ्कारयुक्त वाक्य को ही काव्य का स्वरूप माना है। वास्तविक लक्षण भी यही है।

"स्तेमः स्तोकोऽपि नाङ्गे श्वसितमविकलं चक्षुषां सैव वृत्तिः
मध्येक्षीराब्धि मग्नाः स्फुटमथ च वयं कोऽयमीदृक्प्रकारः।
इत्थं दिग्भित्तिरोधःक्षतविसरतया मांसलैस्त्वद्यशोभिः
स्तोकावस्थानदुस्थैस्त्रिजगति धवले विस्मयन्ते मृगाक्ष्यः॥"

कवि, राजा के यश का वर्णन करते हुए कहता है कि 'राजन्! तुम्हारा यश पहले पृथ्वी पर चारों दिशाओं में फैला; परन्तु दिशाओं की दीवारों से टकराकर जब अधिक मात्रा में एकत्र हुआ, तब क्षीर-समुद्र के मध्य में प्रविष्ट हुआ, समुद्र में प्रवेश करने पर भी न तो उसका शरीर गीला हुआ, न श्वास की रुकावट हुई और न आँखें ही बन्द हुईं। इस प्रकार समुद्र को श्वेत बनाकर भी जब उसके लिए स्थानाभाव से रहना असम्भव हो गया, तब वह (यश) आकाश को भी धवल करने लगा। इस प्रकार, तुम्हारे यश से तीनों लोकों के धवल हो जाने पर मृगनयनियों को आश्चर्य होता है।[1]

इन श्लोकों में वर्णित यश का इस प्रकार दिग्भित्तियों से टकराना, समुद्र में गोता लगाना, आकाश को धवल करना और इससे मृगनयनियों का आश्चर्य करना सब असंगत और असत्य है।

यथा च—

"भ्रश्यद्भूभुग्नभोगीश्वरफणपवनाध्मातपातालतालुः
त्रुट्यन्नानागिरीन्द्रावलिशिखरखरास्फाललोलाम्बुराशिः।
उद्यन्नीरन्ध्रधूलीविधुरसुरवधूमुच्यमानोपशल्यः
कल्योद्योगस्य यस्य त्रिभुवनदमनः सैन्यसम्मर्द आसीत्॥"

इसी प्रकार दूसरा उदाहरण है—

राजा की सेना के सम्मर्द से तीनों लोकों में उथल-पुथल मच गई। विशाल सैन्यभार से पृथ्वी दबने लगी और उसके दबाव से शेषनाग की भौंहें फटने लगीं, इस कारण शेषनाग ने दुःख से जो विषमय और उष्ण फुंकार किया उससे पाताल का तालु गरम हो उठा। इधर पृथ्वी के ऊपर सेना के संघर्ष से बड़े-बड़े पर्वतों के शिखर टूट-टूटकर समुद्र में गिरने लगे और जलराशि उद्वेलित हो उठी। जब सेना की घनी धूल उड़कर स्वर्ग तक पहुँची, तब उससे घबराकर देवांगनाएँ स्वर्ग की सीमा छोड़कर भवनों के भीतर जा घुसीं। इस प्रकार राजा के सैन्य-सम्मर्द से तीनों लोकों का दमन होने लगा।[2]

इस श्लोक में वर्णित चाटुकारों की ये बातें सर्वथा असत्य और आलंकारिक हैं।

आहुश्च—

"दृष्टं किञ्चिददृष्टमन्यदपरं वाचालवार्त्तार्पितं
भूयस्तुण्डपुराणतः परिणतं किञ्चिच्च शास्त्रश्रुतम्।

१-२. इन दोनों रचनाओं में अतिशयोक्ति अलङ्कार है।

सूक्त्या वस्तु यदत्र चित्ररचनं तत्काव्यमव्याहतं
रत्नस्येव न तस्य जन्म जलधेर्नो रोहणाद्वा गिरेः ॥"

कहा है—काव्यों में कुछ बातें प्रत्यक्ष होती हैं, कुछ अप्रत्यक्ष। कुछ बातें वाचाल कवियों की कल्पना से प्रसूत होती हैं, कुछ बुढ़िया-पुराण की-सी गप्पें होती हैं। कुछ शास्त्रीय होती हैं और कुछ कवियों के काव्य-कौशल की होती हैं। अतः, यह काव्य निरर्गल है। अन्य रत्नों के समान इस काव्य-रत्न का जन्म न तो समुद्र से है और न रोहण-पर्वत से।

'न' इति यायावरीयः—

"नासत्यं नाम किञ्चन काव्ये यस्तु स्तुत्येष्वर्थवादः।
स न परं कविकर्मणि श्रुतौ च शास्त्रे च लोके च ॥"

राजशेखर का कथन है कि 'काव्य अतिशयोक्ति-पूर्ण होने तथा असत्य वर्णनामय होने से त्याज्य है, यह बात नहीं।' काव्यों में वर्णनीय व्यक्ति या विषय के प्रति जो अर्थवाद या अतिशयोक्ति की जाती है, वह असंगत या असत्य नहीं है। इस प्रकार के अर्थवाद-पूर्ण वर्णन तो वेदों में, शास्त्रों में और लोक में भी पाये जाते हैं। देखिए, ऐतरेय ब्राह्मण का एक उदाहरण—

तत्र श्रौतः—

"पुष्पिण्यौ चरतो जङ्घे भूष्णुरात्मा फलेग्रहिः।
शेरेऽस्य सर्वे पाप्मानः श्रमेण प्रपथे हताः ॥"

हे तपस्विन्, चलनेवाले व्यक्ति की जाँघें पुष्पवती-सुदृढ होती हैं, उसमें आत्मा की वृद्धि होती है और उसे आरोग्य-रूप फल मिलता है; चलनेवाले पुरुष के सभी पाप नष्ट होकर सो जाते हैं, अर्थात् चलनेवाले को मार्ग में अनेक तीर्थों, देवताओं और महात्माओं के अनायास दर्शन होते हैं, जिससे उसके पाप नष्ट हो जाते हैं।

(उक्त श्लोक की संगति इस प्रकार है कि एक बार वरुण देवता के शाप से राजा हरिश्चन्द्र को जलोदर रोग हो गया। राजकुमार रोहित तपस्या करता हुआ वनों में घूमता था, किन्तु पिता की अस्वस्थता का समाचार सुन वह घर को आ रहा था। इन्द्र नहीं चाहता था कि वह राजा से मिल सके, अतः उसने ब्राह्मण का छद्मवेष बनाकर जंगल में ही रोहित को समझाया कि घर न जाओ, भ्रमण करो, तीर्थाटन करो। एक वर्ष बाद पुनः रोहित घर की ओर आ रहा था, लेकिन फिर इन्द्र ने उसे टालने के लिए उक्त प्रकार से भ्रमण करने के सम्बन्ध में कहा कि भ्रमण करना श्रेष्ठ है, अतः घर न जाओ, घूमो-फिरो।[१])

यहाँ भ्रमण की इतनी प्रशंसा या अर्थवाद असत्य है, परन्तु स्वार्थ-साधन के लिए वेद ने भी उसे अपनाया।

१. ऐतरेय ब्राह्मण (हरिश्चन्द्रोपाख्यान), ७-१५-२ और शतपथब्राह्मण, १५-१६।

शास्त्रीय:—

"आपः पवित्रं प्रथमं पृथिव्या-
मपां पवित्रं परमं च मन्त्राः।
तेषां च सामर्ग्यजुषां पवित्रं
महर्षयो व्याकरणं निराहुः॥"

शास्त्रों में अर्थवाद का उदाहरण—

पृथ्वी पर सबसे अधिक पवित्र वस्तु जल है, जल से अधिक पवित्र मन्त्र हैं, उन मन्त्रों में भी ऋक्, यजुष् और साम के मन्त्र पवित्रतम हैं; किन्तु महर्षिगण व्याकरण-शास्त्र को इन वेदत्रयी के मन्त्रों से भी अधिक पवित्र मानते हैं।

यहाँ व्याकरण-शास्त्र को वेदों से भी अधिक मानने का कारण उसकी आवश्यकता प्रदर्शन-मात्र है। वास्तव में, वह वेदों से पवित्र नहीं है। इस प्रकार वर्णनीय विषय के प्रति अतिशयोक्ति का आश्रय काव्य के समान शास्त्रों ने भी लिया है।

किञ्च—

"यस्तु प्रयुङ्क्ते कुशलो विशेषे शब्दान्यथावद्व्यवहारकाले।
सोऽनन्तमाप्नोति जयं परत्र वाग्योगविद् दुष्यति चापशब्दैः॥"

इसी प्रकार दूसरा उदाहरण भगवान् पतञ्जलि का देखिए—

"व्याकरण-शास्त्र को जाननेवाला जो विद्वान् उचित समय पर शब्दों का यथार्थ रूप में प्रयोग करता है, वह वाणी के वास्तविक प्रयोग को जाननेवाला विद्वान्, परलोक में अत्यन्त उत्कर्ष को प्राप्त करता है और जो वाणी के समुचित प्रयोग को जाननेवाला अपशब्द-अशुद्ध शब्द का प्रयोग करता है, वह दूषित होकर नरक में जाता है।

आगे भाष्यकार उसी को स्पष्ट करते हैं

"कः ? वाग्योगविदेव। कुत एतत् ? यो हि शब्दाञ्जानात्यपशब्दानप्यसौ जानाति। यथैव हि शब्दज्ञाने धर्मः, एवमपशब्दज्ञानेऽप्यधर्मः। अथवा भूयानधर्मः प्राप्नोति। भूयांसो ह्यपशब्दा अल्पीयांसः शब्दाः। एकैकस्य हि शब्दस्य बहवोऽपभ्रंशाः। तद्यथा। गौरित्यस्य शब्दस्य गावी गोणी गोता गोपोतलिकेत्येवमादयोऽपभ्रंशाः। अथ योऽवाग्योगवित् अज्ञानं तस्य शरणम्। नात्यन्तायाज्ञानं शरणं भवितुमर्हति। यो ह्यजानन्वै ब्राह्मणं हन्यात्सुरां वा पिबेत्सोऽपि मन्ये पतितः स्यात्। एवं तर्हि सोऽनन्तमाप्नोति जयं परत्र वाग्योगविद्दुष्यति चापशब्दैः कः ? अवाग्योगविदेव। अथ यो वाग्योगवित् विज्ञानं तस्य शरणम्। क्व पुनरिदं पठितम् ? भ्राजा नाम श्लोकाः।

यहाँ प्रश्न होता है कि कौन दूषित होता है—वाणी के प्रयोग को जाननेवाला या मूर्ख ? उत्तर—मूर्ख नहीं ; वाणी के प्रयोग को जाननेवाला ही दूषित होता है। पुनः प्रश्न—ऐसा क्यों ? वाणी के प्रयोग को जाननेवाला ही क्यों दूषित होता है ? उत्तर—इसलिए कि जो शुद्ध शब्दों को जानता है, वह अशुद्ध शब्दों को भी जानता है। जैसे शुद्ध शब्द के ज्ञान से धर्म होता है, उसी प्रकार अपशब्द के प्रयोग से अधर्म भी प्राप्त होगा, अथवा अधर्म अधिक मात्रा में प्राप्त होगा। क्योंकि, अपशब्द अधिक हैं और शुद्ध शब्द कम। जैसे—गौ, यह शुद्ध शब्द है और इसके अनेक अपभ्रंश हैं—गावी, गोणी, गोता, गोपोतलिका आदि। इसलिए, अपशब्दों की अधिकता के कारण अधर्म अधिक प्राप्त होगा।

अथवा जो-जो वाग्योगविद् हैं, उन्हें ही अधर्म होता है और जो व्याकरणशास्त्र को नहीं जानता, वह तो अज्ञान के कारण अपशब्दों का प्रयोग करेगा ही। अतः (अज्ञान के कारण), उसे अधर्म नहीं कहा जा सकता। केवल अज्ञान को लेकर पीछा नहीं छुड़ाया जा सकता। क्योंकि, अज्ञानवश ब्रह्महत्या, गोहत्या, मद्यपान आदि करनेवाला मनुष्य भी पतित ही समझा जायगा, उसके पाप से वह छूट नहीं सकता। अच्छा, जाने दो। इसका यह अर्थ करो कि जो वाग्योग को जानता है, अर्थात् शुद्ध शब्दों का प्रयोग करता है, वह परलोक में विजय प्राप्त करता है और जो नहीं जानता, वह नरक में जाता है। अतः, व्याकरणाध्ययन के द्वारा शुद्ध शब्दों को जानना चाहिए।

प्रश्न होता है कि यह श्लोक कहाँ लिखा गया है। जिसपर इतना विचार किया गया। उत्तर—यह भ्राज नामक श्लोक कात्यायन मुनि का है।

किञ्च भोः श्लोका अपि प्रमाणम् ? किञ्चातः ? यदि प्रमाणमयमपि श्लोकः प्रमाणं भवितुमर्हति।

प्रश्न—क्यों भाई, धर्म और अधर्म के निर्णय में श्लोक भी प्रमाण हो सकते हैं ? यदि हाँ, तो इस श्लोक को भी प्रमाण मानो। जैसे—

"यद्युदुम्बरवर्णानां घटीनां मण्डलं महत्।
पीतं न गमयेत्स्वर्गं किं तत्क्रतुगतं नयेत् ॥" इति

यदि पके हुए गूलर के समान लाल रंगवाली सुरा से भरी हुई ये बोतलें स्वर्ग में पहुँचाने में असमर्थ हैं, तो क्या सौत्रामणि-यज्ञ में एक पात्र-प्रमाण पिया हुआ स्वल्पतम मद्य स्वर्ग में पहुँचा सकेगा ? अर्थात्, यदि सौत्रामणि यज्ञ में एक प्याला मद्य पीने से ही स्वर्ग मिल जाता है, तो क्यों न मद्यशाला में जाकर भरपेट मद्यपान कर लें।

'प्रमत्तगीत एष तत्रभवतो यस्त्वप्रमत्तगीतस्तत्प्रमाणमेव' इति गोनर्दीयः।

इसपर आचार्य गोनर्दीय-पतंजलि उत्तर देते हैं कि यह श्लोक किसी पागल का प्रलाप है। यदि किसी प्रामाणिक व्यक्ति का बनाया हुआ श्लोक हो, तो उसे धर्मविषय में प्रमाण माना जा सकता है।[1]

१. दे० पातञ्जल-महाभाष्य, पस्पशाह्निक।

ऊपर कहे गये भगवान् पतंजलि के लम्बे वक्तव्य का तात्पर्य लोकरुचि को व्याकरण-शास्त्र की ओर प्रवृत्त करना है। इसलिए, उन्होंने उसके विषय में इतने अर्थवाद या अतिशयोक्ति का आश्रय लिया है।

लौकिकः—

"गुणानुरागमिश्रेण यशसा तव सर्पता।
दिग्वधूनां मुखे जातमकस्मादर्द्धकुङ्कमम् ॥"

लौकिक अर्थवाद का उदाहरण—

हे राजन्! तुम्हारे गुण और अनुराग से मिले हुए यश ने चारों ओर फैलते हुए दिशारूपी वधुओं के ललाटों पर आधा कुंकुम-तिलक लगा दिया। गुणों का रंग श्वेत है और अनुराग का लाल, इसलिए आधा तिलक हुआ।

इस उदाहरण में राजा का शौर्य प्रसिद्ध करने के लिए यह अर्थवाद किया गया है।

'असदुपदेशकत्वात्तर्हि नोपदेष्टव्यं काव्यम्' इत्यपरे। यथा एवम्—

कुछ लोगों का मत है कि काव्य असत्-मार्ग का उपदेश करते हैं। लोक में सन्मार्ग का उपदेश उचित है। अतः, काव्य अग्राह्य या त्याज्य हैं। उनका उपदेश न करना चाहिए। उदाहरण जैसे—

"वयं बाल्ये डिम्भांस्तरुणिमनि यूनः परिणता-
वपीच्छामो वृद्धान्परिणयविधेस्तु स्थितिरियं।
त्वयारब्धं जन्म क्षपयितुममार्गेण किमिदं
न नो गोत्रे पुत्रि क्वचिदपि सतीलाञ्छनमभूत् ॥"

पातिव्रत्य से जीवन-निर्वाह करने की प्रतिज्ञा करनेवाली पुत्री के प्रति वेश्या-माता उपदेश करती है—'पुत्रि, हम वेश्याओं की विवाह-विधि यह है कि लड़कपन में लड़कों को, यौवनावस्था में युवकों को और इस वृद्धावस्था में भी वृद्धों को चाहती हैं—यह वेश्या-धर्म है। तुमने यह क्या अमार्ग से जीवन व्यतीत करने की सोच ली? हमारे कुल में पातिव्रत्य का कलंक कभी नहीं लगा, जिसे आज तुम लगाने जा रही हो।'

यहाँ पवित्र परिणय-विधि या पातिव्रत्य की जो दुर्दशा की गई है, वह संस्कृति-विरुद्ध होने के कारण त्याज्य है। काव्य ऐसी ही अमर्यादित शिक्षाएँ देता है। अतः, सर्वथा हेय है।

'अस्त्ययमुपदेशः किन्तु निषेध्यत्वेन न विधेयत्वेन' इति यायावरीयः। या एवंविधा विधयः परस्त्रीषु पुंसां सम्भवन्ति तानवबुध्येतेति कवीनां भावः। किञ्च कविवचनायत्ता लोकयात्रा। 'सा च निःश्रेयस-मूलम्' इति महर्षयः। यदाहुः—

यायावरीय राजशेखर कहते हैं—'यह उपदेश है ; किन्तु निषेध रूप से, विधि रूप से नहीं। वेश्यागामियों को वेश्याओं के ऐसे कुत्सित चरित्र का ज्ञान हो, वे उन्हें पतिव्रता समझने की भूल न करें। दूसरे, ऐसे चरित्रों से स्त्रियों की रक्षा की जाय—यह कवि का भाव है। इसी प्रकार सांसारिक व्यवहार कवियों के वचनों पर आधृत हैं। कवियों के आदेशानुसार किये गये लोक-व्यवहार मानव के लिए कल्याणकारी होते हैं। जैसा कि कहा गया है—

"काव्यमय्यो गिरो यावच्चरन्ति विशदा भुवि।
तावत्सारस्वतं स्थानं कविरासाद्य मोदते॥"

जबतक पृथ्वी पर विशुद्ध काव्यमयी वाणी का प्रचार रहता है, तबतक कवि सारस्वत लोक (सरस्वती के लोक) में स्थान पाता और आनन्द प्राप्त करता है।

किञ्च—

"श्रीमन्ति राज्ञां चरितानि यानि
प्रभुत्वलीलाश्च सुधाशिनां याः।
ये च प्रभावास्तपसामृषीणां
ताः सत्कविभ्यः श्रुतयः प्रसूताः॥"

प्राचीन राजाओं के प्रभावशाली चरित्र, देवताओं की प्रभुत्व-लीला और ऋषियों एवं तपस्वियों के अलौकिक प्रभाव—ये सभी कुछ कवियों की वेद-वाणी से प्रसूत और प्रसिद्ध हुए हैं।

उक्तश्च—

"ख्याता नराधिपतयः कविसंश्रयेण
राजाश्रयेण च गताः कवयः प्रसिद्धिं।
राज्ञा समोऽस्ति न कवेः परमोपकारी
राज्ञो न चास्ति कविना सदृशः सहायः॥

कहा है—

कवियों के कारण ही राजाओं की प्रसिद्धि हुई और राजाओं का आश्रय मिलने के कारण कवि प्रसिद्ध हुए। अतः, राजाओं के सिवा कवियों का उपकार करनेवाला दूसरा नहीं और कवियों के सिवा राजा का भी दूसरा सहायक नहीं।

वल्मीकजन्मा स कविः पुराणः
कवीश्वरः सत्यवतीसुतश्च।
यस्य प्रणेता तदिहानवद्यं
सारस्वतं वर्त्म न कस्य वन्द्यम्॥"

जिस सारस्वत मार्ग (काव्य-रचना-प्रणाली) के प्रथम प्रवर्त्तक प्राचीन मुनि

वाल्मीकि और कवीश्वर महर्षि व्यास हैं, वह अनिन्दनीय सारस्वत मार्ग किसके लिए वन्दनीय नहीं है ? अर्थात्, सभी के लिए आदरणीय है।

'असभ्यार्थाभिधायित्वान्नोपदेष्टव्यं काव्यम्' इति च केचित्।

कुछ लोगों का कथन है कि काव्य में अश्लील अर्थ रहता है, वह असभ्य बातों को बतलाता है। अतः, उसका ग्रहण न करना चाहिए। जैसे,

यथा—

"प्रसर्पन्प्रग्रीवैर्भृतभुवनकुक्षिर्झणझणा-
करालः प्रागल्भ्यं वदति तरुणीनां प्रणयिषु।
विलासव्यत्यासाज्जघनफलकास्फालनघन-
स्फुटच्छेदोत्सिक्तः कलकनककाञ्चीकलकलः॥"

अश्लीलता का उदाहरण—

यह विपरीत-सुरत वर्णन है। विपरीत रति-क्रिया के कारण होनेवाला कनक-कांची का कमनीय कलकल शब्द, पतियों पर तरुण रमणियों की प्रगल्भता—धृष्टता—का परिचय देता है। अर्थात्, रति-समय में कामावेश से उन्मत्त होकर प्रमदाएँ पतियों के ऊपर आ गई हैं, अतः उनके कटि-संचालन से कमर में बँधी हुई सोने की करधनियों के घुंघरू बजने लगे, जंघाओं के संचालन से होनेवाली कांची की यह घनी झनझनाहट शयनागार की खिड़कियों से बाहर निकलकर शून्य और नीरव आकाश में चारों ओर सुन पड़ती थी।

अपि च—

"नित्यं त्वयि प्रचुरचित्रकपत्रभङ्गी-
ताडङ्कताडनविपाण्डुरगण्डलेखाः।
स्निह्यन्तु रत्नरशनारणनाभिराम-
कामार्त्तिनर्त्तितनितम्बतटास्तरुण्यः॥"

दूसरा उदाहरण—

हे मित्र ! वे युवतियाँ तुमसे सदा प्रेम रखें, जिनके कपोलस्थल अनेक प्रकार के चित्रों की पत्रभंगी (रचना-विशेष) से अलंकृत हैं, तथा कर्णफूलों के निरन्तर हिलने से लाल हो रहे हैं और जो नितम्ब-भाग पर पड़ी हुई रत्न-मंडित सुन्दर कांचियों को कामावेश में आकर निरन्तर नचाया करती हैं। अर्थात्, विपरीत रति में स्त्रियों के ऊपर होकर शरीर-संचालन करने के कारण कानों के झुमके कोमल कपोलों से रगड़ खाकर उन्हें लाल कर देते हैं और नितम्ब में पड़ी हुई रत्नकांची नृत्य करती हुई मधुर शब्द करती है।

उक्त दोनों उदाहरणों में विपरीत रति का वर्णन अत्यन्त अश्लील होने के कारण असभ्य अर्थ का प्रदर्शक है। अतः, ऐसे असभ्य वर्णनों के कारण काव्य हेय है।

'प्रक्रमापन्नो निबन्धनीय एवायमर्थः' इति यायावरीयः। तदिदं श्रुतौ शास्त्रे चोपलभ्यते। तत्र याजुषः—

यायावरीय राजशेखर का मत है कि प्रसंग आने पर ऐसे वर्णन करने पड़ते हैं और यह उचित भी है। ऐसे अश्लील अर्थों का उल्लेख वेदों और शास्त्रों में भी पाया जाता है। इसका उदाहरण यजुर्वेद में देखिए—

"योनिरुदूलूखलं शिश्नं मुशलं मिथुनेमे तत् प्रजननं क्रियते ॥"

योनि रूपी ऊखल और शिश्न-रूपी मूसल—इन्हीं दोनों का नाम मिथुन है, इस मिथुन से प्रजनन (सन्तानोत्पत्ति) होता है।

आर्चः—

"उपोप मे परामृश मां मे दभ्राणि मन्यथाः।
सर्वाऽहमस्मि रोमशा गान्धारीणामिवाविका ॥"

ऋग्वेद में भी ऐसा उदाहरण देखिए—

बृहस्पति की पुत्री रोमशा ने अपने पति का जब मैथुन के लिए आह्वान किया, तब उसके छोटे और रोम-रहित अंगों को देखकर उसके पति ने हँस दिया, इसपर वह कहती है—'हे स्वामिन्! मेरे पास आकर मेरा आलिङ्गन करो, अर्थात् मुझे भोग के योग्य समझो। मेरे शरीर के रोमों को छोटा न समझो, मैं सम्पूर्ण शरीर से रोमवाली हूँ, या रोमवाली मैं पूर्णांगी हूँ। मैं उसी प्रकार रोमशा हूँ, जिस प्रकार गान्धार देश की भेड़ें होती हैं। यहाँ भावार्थ यह है कि 'अजातलोमा स्त्री से सम्पर्क न करें'—इस शास्त्रीय आज्ञा से भय न करो, मैं सर्वांग से रोमवाली हूँ, अतएव भोग-योग्य हूँ।[1]

शास्त्रीयः—

"यस्याः प्रसन्नधवलं चक्षुः पर्यन्तपक्ष्मलं।
नवनीतोपमं तस्या भवति स्मरमन्दिरम् ॥"

शास्त्र में अश्लील अर्थ के वर्णन का उदाहरण—

जिस स्त्री के नेत्र प्रसन्न (स्वच्छ), धवल (श्वेत) और लम्बी पलकोंवाले होते हैं, उसका स्मरमन्दिर (प्रजननेन्द्रिय) तुरन्त बिलोये गये मक्खन के समान कोमल होता है।[2]

तात्पर्य यह है कि प्रसंगवश (आवश्यकता आ जाने पर) ऐसे अश्लील अर्थों का वर्णन काव्यों में ही नहीं, वेदों और शास्त्रों में भी किया गया है। अतः, इस कारण ये हेय नहीं हो सकते।

---

१. दे० ऋग्वेद, २-१-११-७, और निरुक्त ३-४-३।
२. भोजराजकृत शृङ्गारप्रकाश में 'प्रसन्नधवल' के स्थान पर 'प्रकामधवल' पाठ है, अर्थात् अत्यन्त श्वेत।

पदवाक्यविवेकोऽयमिति किञ्चित्प्रपञ्चितः ।
अथ वाक्यप्रकारांश्च कांश्चिदन्यान्निबोधत ॥

इस प्रकार, इस अध्याय में पद और वाक्य का कुछ विवेचन किया गया है। अब अगले अध्याय में वाक्य के अन्यान्य भेदों का ज्ञान करना चाहिए।

॥ इति राजशेखरकृतौ काव्यमीमांसायां कविरहस्ये प्रथमेऽधिकरणे षष्ठोऽध्यायः पदवाक्यविवेकः ॥

सप्तमोऽध्यायः वाक्यभेदाः

वाक्यं वचनमिति व्यवहरन्ति । तच्च त्रिधा प्रणेतृभेदेन ब्राह्मं, शैवं, वैष्णवमिति । तदिदं वायुप्रोक्तपुराणादिभ्य उपलब्धं यदुत ब्राह्मं वचः पञ्चधा स्वायम्भुवमैश्वरमार्षमार्षीकमार्षिपुत्रकं च ।

वाक्यभेद[1]

वाक्य का दूसरा नाम वचन है। प्रणेता के भेद से वचन तीन प्रकार के होते हैं—१. ब्राह्म, २. शैव और ३. वैष्णव। वायु आदि पुराणों से ज्ञात होता है कि ब्राह्म वचन पाँच प्रकार के होते हैं—१. स्वायम्भुव, २. ऐश्वर, ३. आर्ष, ४. आर्षीक और ५. आर्षिपुत्रक।[2]

स्वयम्भूर्ब्रह्मा तस्य स्वायम्भुवम्। तन्मनोजन्मानो भृगुप्रभृतयः पुत्रास्ते ईश्वरास्तेषामैश्वरम्। ईश्वराणां सुता ऋषयस्तेषामार्षम्। ऋषीणामपत्यानि ऋषीकास्तेषामार्षीकम्। ऋषीकाणां सूनव ऋषिपुत्रकास्तेषामार्षिपुत्रकम्।

स्वयम्भू ब्रह्मा हैं, उनका वचन स्वायम्भुव है। ब्रह्मा के मानस पुत्र भृगु आदि ईश्वर हैं, उनका वचन ऐश्वर है। ईश्वरों के पुत्र ऋषि हैं, उनका वचन आर्ष है। ऋषियों की सन्तान ऋषीक हैं, उनके वचन आर्षीक कहे जाते हैं और ऋषीकों के पुत्र ऋषिपुत्रक हैं, उनके वचन आर्षिपुत्रक हैं।

स्वयम्भुवः प्रथमं वचः श्रुतिः, श्रुतेरन्यच्च स्वायम्भुवम्। तदाहुः—

स्वयम्भू, अर्थात् ब्रह्मा के आदिवचन वेद हैं। वेदों के अतिरिक्त भी स्वायम्भुव वचन हैं। जैसा कि कहा गया है—

"सर्वभूतात्मकं भूतं परिवादं च यद्भवेत्।
क्वचिन्निरुक्तमोक्षार्थं वाक्यं स्वायम्भुवं हि तत्॥"

समस्त प्राणिमात्र के लिए कल्याणकारी सत्य और कहीं-कहीं मुक्तिमार्ग का निर्देश करनेवाला वचन स्वायम्भुव है।

तदेव स्तोकरूपान्तरपरिणतमैश्वरं वचः। उक्तञ्च—

उसी का कुछ स्वल्प रूपान्तर ऐश्वर वचन है। जैसा कि कहा है—

---

१. इस अध्याय में क्रमशः तीन प्रकरण हैं—१. वाक्य-विधि, २. काकु-प्रकार और पाठ-प्रतिष्ठा।

२. इन पाँच प्रकार के वाक्यों तथा स्वयम्भू, ईश्वर, ऋषि, ऋषीक और ऋषिपुत्रक का लक्षण, नाम आदि का विस्तृत विवरण वायुपुराण में आया है। द्र० वायुपुराण, अ० ५९, श्लो० ८१–९१। ब्रह्माण्डपुराण में भी इसकी चर्चा है।

"व्यक्तक्रममसंक्षिप्तं दीप्तगम्भीरमर्थवत् ।
प्रत्यक्षं च परोक्षं च लक्ष्यतामैश्वरं वचः ॥"

क्रमबद्ध, विस्तारयुक्त, स्पष्ट, गम्भीर, अर्थयुक्त, प्रत्यक्ष और परोक्ष अर्थ का निर्देश करनेवाला वचन ऐश्वर है।

आर्षम्—

"यत्किञ्चिन्मन्त्रसंयुक्तं युक्तं नामविभक्तिभिः ।
प्रत्यक्षाभिहितार्थं च तदृषीणां वचः स्मृतम् ॥"

कुछ मन्त्रों के सहित, नाम (संज्ञा) और विभक्तियों से युक्त एवं प्रत्यक्ष अर्थ का निर्देशक आर्ष वचन है।

आर्षीकम्—

"नैगमैर्विविधैः शब्दैर्निपातबहुलं च यत् ।
न चापि सुमहद्वाक्यमृषीकाणां वचस्तु तत् ॥"

अधिक रूप में वैदिक शब्द-युक्त, निपात-प्रचुर और स्वल्प-वाक्य-युक्त ऋषीकों के वचन हैं।

आर्षिपुत्रकम्—

"अविस्पष्टपदप्रायं यच्च स्याद्बहुसंशयम् ।
ऋषिपुत्रवचस्तत्स्यात्ससर्वपरिदेवनम् ॥"

तदुदाहरणानि पुराणेभ्य उपलभेत ।

अस्पष्ट पदों से युक्त, सन्देहपूर्ण और सभी को रुलानेवाले ऋषि-पुत्रकों के वचन होते हैं। इनके उदाहरण पुराण-ग्रन्थों में मिलते हैं।[1]

सारस्वताः कवयो नः पूर्वे इत्थङ्कारं कथयन्ति । ब्रह्मविष्णुरुद्रगुह-बृहस्पतिभार्गवादिशिष्येषु चतुःषष्टावुपदिष्टं वचः पारमेश्वरम् । क्रमेण च सञ्चरद्देवैर्देवयोनिभिश्च यथामत्युपजीव्यमानं दिव्यमिति व्यपदिश्यते ।

देवयोनयस्तु—

सरस्वती के पुत्र हमारे पूर्वज कवियों का कथन है कि ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, कार्त्तिकेय, बृहस्पति, भार्गव आदि चौंसठ शिष्यों को उपदेश रूप से कहे हुए वचन पारमेश्वर हैं। वे ही वाक्य क्रमशः देवताओं तथा अन्य देवजातियों में प्रचारित होते हुए और अपनी-अपनी बुद्धि के अनुसार प्रयोग किये जाते हुए दिव्य वाक्य कहे जाते हैं। देव-जाति के नाम ये हैं—

---

१. इन वाक्यों के इसी प्रकार के लक्षण विष्णुधर्मोत्तरपुराण में आये हैं, जिन्हें राजशेखर ने यहाँ परिष्कृत रूप में संगृहीत किया है।

"विद्याधराप्सरोयक्षरक्षोगन्धर्वकिन्नराः
सिद्धगुह्यकभूताश्च पिशाचा देवयोनयः ॥"

विद्याधर, अप्सरस, यक्ष, राक्षस, गन्धर्व, किन्नर, सिद्ध, गुह्यक, भूत और पिशाच—ये देवयोनियाँ हैं।

तत्र पिशाचादयः शिवानुचराः स्वभूमौ संस्कृतवादिनः, मर्त्ये तु भूतभाषया व्यवहरन्तो निबन्धनीयाः। अप्सरसस्तु प्राकृतभाषया। तद्दिव्यं वचश्चतुर्धा। वैबुधं वैद्याधरं गान्धर्वं योगिनीगतं च। शेषाणामेतेष्वेवोपलक्षणं प्रकृतिसादृश्येन। तत्र वैबुधम्—

इनमें पिशाच आदि शिव के अनुयायी अपनी भूमि—शिवलोक—में संस्कृत-भाषा का व्यवहार करते हैं। यदि इन्हें मर्त्यलोक में बोलना हो, तो भूत-भाषा का प्रयोग कवि को कराना चाहिए और अप्सराओं से प्राकृत-भाषा का। दिव्य वचन चार प्रकार के होते हैं—१. वैबुध, २. वैद्याधर, ३. गान्धर्व और ४ योगिनीगत। शेष देवजातियों को प्रकृति की समानता देखकर इनमें ही अन्तर्भूत कर लेना चाहिए।

वैबुध, अर्थात् देवताओं के वचन का स्वरूप—

"समासव्याससंदृब्धं शृङ्गाराद्भुतसम्भृतं।
सानुप्रासमुदारं च वचः स्यादमृताशिनाम्॥"

कहीं विस्तृत, कहीं संक्षिप्त, शृंगार और अद्भुत रसयुक्त, अनुप्रास-सहित और उदात्त वचन देवताओं के होते हैं।

यथा—

"यच्चन्द्रकोटिकरकोरकभारभाजि
बभ्राम बभ्रुणि जटाकुहरे हरस्य।
तद्वः पुनातु हिमशैलशिलानिकुञ्ज-
झात्कारडम्बरविरावि सुरापगाम्भः॥"

जैसे—

जो चन्द्रकला की किरण-कालिकाओं के भार से गुँथे हुए शिव के पिंगलवर्ण जटा-कुहर में चक्कर लगाता है, वह हिमालय-पर्वत के शिला-कुंजों में झांकार-ध्वनि करता हुआ देव-सरित् गंगा का जल आपको पवित्र करे।[1]

---

१. इस उदाहरण में 'चन्द्रकोटि', 'हिमशैल' आदि समासयुक्त लम्बे पद हैं, 'बभ्राम, बभ्रुणि, हरस्य' आदि व्यस्त पद भी हैं, रकार, ककार शकार, हकार आदि अक्षरों का मधुर अनुप्रास भी है तथा गङ्गा का शिव की जटा में स्वच्छन्द भ्रमण और हिमालय के कुञ्जों में औद्धत्य—यह उदारता है। इसी प्रकार अन्य वचनों में लक्षण-सङ्गति कर लेनी चाहिए।

वैद्याधरम्—

"स्तोकानुप्राससच्छायं चतुरोक्तिप्रसादि च ।
द्राघीयसा समासेन विद्धि वैद्याधरं वचः ॥"

विद्याधरों का वचन कुछ अनुप्रास की छटा लिये सुन्दर उक्तियों एवं प्रसाद गुण-युक्त लम्बे समासोंवाला होता है ।

यथा—

"प्रणतसुरकिरीटप्रांशुरत्नांशुवंश-
च्छुरितनखशिखाग्रोद्भासमानारुणाङ्घ्रे ।
उदिततरणिवृन्दोद्दामधामोर्ध्वनेत्र-
ज्वलननिकरदग्धानङ्गमूर्त्ते नमस्ते ॥"

जैसे—

प्रणाम करते हुए देवताओं के मुकुट में जड़े हुए उत्कृष्ट रत्नों की विचित्र ज्योति से चित्रित नखों की किरणमाला से चमकते चरणोंवाले और उदीयमान सूर्य-मण्डल के प्रचण्ड तेज के समान प्रखर तृतीय नेत्र से निकलती हुई अग्नि-ज्वाला से कामदेव के शरीर को भस्म करनेवाले हे शिव ! तुम्हें प्रणाम है ।

इस पद्य में कुछ अनुप्रास है और प्रसाद गुणवाले लम्बे समस्त पद भी हैं । उक्तियाँ भी मनोहर हैं ।

यथा वा—

"भ्रमति भ्रमरकरम्बितनन्दनवनचम्पकस्तवकगौरः ।
वात्याहत इव वियति स्फुटलक्ष्मा रोहिणीरमणः ॥"

दूसरा उदाहरण—

भ्रमरों से घिरे हुए नन्दन-वन के चम्पक-गुच्छ के समान स्वच्छ और स्पष्ट कलंक-युक्त रोहिणी-रमण चन्द्रमा आकाश में वात्याचक्र से उड़ाया हुआ-सा घूम रहा है ।

गान्धर्वम्—

"ह्रस्वैः समासैर्भूयोभिर्विभूषितपदोच्चया ।
तत्त्वार्थग्रथनग्राह्या गन्धर्वाणां सरस्वती ॥"

गन्धर्वों के वाक्य, छोटे-छोटे समासवाले, अनेक पदों से सुसज्जित और मुख्य अर्थ को गुंफित करने के कारण आकर्षक होते हैं ।

यथा—

"नमः शिवाय सोमाय सगणाय ससूनवे ।
सवृषव्यालशूलाय सकपालाय सेन्दवे ॥"

जैसे—

उमा-सहित, गणों के सहित, पुत्र के सहित, नन्दी, सर्प और त्रिशूल के सहित एवं कपाल के सहित शंकर को प्रणाम है ।

योगिनीगतम्—

"समासरूपकप्रायं गम्भीरार्थपदक्रमम् ।
सिद्धान्तसमयस्थायि योगिनीनामिदं वचः ॥"

योगिनियों के वचन, समास और रूपक से युक्त, गम्भीर अर्थवाले पदों से गुंफित तथा कवि-समय के सिद्धान्त का अनुसरण करनेवाले होते हैं।

यथा—

"दुःखेन्धनैकदहनामृतवर्षमेघ
संसारकूपपतनैककरावलम्ब ।
योगीन्द्रदर्पण जगद्गतकृत्स्नतेजः
प्रत्यक्षचौरवर वीरपते नमस्ते ॥"

जैसे—

हे दुःखरूप ईन्धन को भस्म करने में अग्निरूप ! अमृत-वर्षा करनेवाले मेघ ! संसार-कूप में गिरते हुए के लिए एकमात्र करावलम्बन ! योगीन्द्रों के दर्पण ! समूचे जगत् को तेज से व्याप्त करनेवाले ! प्रत्यक्ष चोर ! और हे वीरों के स्वामी ! तुम्हें प्रणाम है।

इस उदाहरण में प्रायः सभी पद समास-युक्त हैं। दुःख में ईन्धन का आरोप, राजा में उसके नाशक अग्नि का आरोप, संसार में कूप का आरोप आदि रूपकालंकार भी हैं। इस प्रकार का रूपक कवि-सम्प्रदाय के सिद्धान्तानुरूप होता है।

महाप्रभावत्वाद्भौजङ्गममपि दिव्यमित्युपचर्यते ।

अतिशय प्रभावशाली होने के कारण भौजङ्गम, अर्थात् सर्प-सम्बन्धी वचन भी लक्षणया दिव्य वचनों में ही समझे जाते हैं।

"प्रसन्नमधुरोदात्तसमासव्यासभागवत् ।
अनोजस्विपदप्रायं वचो भवति भोगिनाम् ॥"

सर्पों के वाक्य, प्रसाद और माधुर्यगुणवाले, उदात्त, समास एवं व्यास के विभाग से युक्त तथा प्रायः मृदुल पदोंवाले होते हैं।

यथा—

"सुसर्जितां श्रोत्रसुखां सुरूपा-
मनेकरत्नोज्ज्वलचित्रिताङ्गीम् ।
विद्याधरेन्द्रः प्रतिगृह्य वीणां
पिनाकिने गायति मङ्गलानि ॥"

जैसे—

विद्याधरों का राजा, सुन्दर बनी हुई, कर्ण-मधुर, दर्शनीय और अनेक रंग-विरंगे रत्नों से जड़ी हुई वीणा को गोद में रखकर शिवजी का मंगल-गान कर रहा है।

'किमर्थं पुनरनुपदेश्ययोर्ब्राह्मपारमेश्वरयोर्वाक्यमार्गयोरुपन्यासः?' इत्याचार्याः। 'सोऽपि कवीनामुपदेशपरः' इति यायावरीयः। यतो नाटकादावीश्वरादीनां देवानां च प्रवेशे तच्छायावन्ति वाक्यानि विधेयानीति दिव्यम्।

आचार्यों का प्रश्न है कि ब्राह्म और पारमेश्वर वचनों का उपदेश और प्रयोग तो किया ही नहीं जाता। इसलिए, यहाँ उसकी चर्चा क्यों की गई? यायावरीय राजशेखर का उत्तर है कि ब्राह्म और पारमेश्वर वचन भी कवियों के लिए उपदेश करते हैं; क्योंकि नाट्य-रचना में ईश्वरों या देवताओं का प्रवेश होने पर उनकी प्रकृति के अनुरूप वाक्यों का प्रयोग करना कवि के लिए आवश्यक होता है। अतः, दिव्य वचन का विवेचन किया गया है।

इह हि प्रायो वादो यदुत मर्त्यावतारव्यवहाररुचेर्भगवतो वासुदेवस्य वचो वैष्णवं तन्मानुषमिति व्यपदिशन्ति। तच्च त्रिधा रीतित्रयभेदेन। तदाहुः—

प्रायः ऐसी किंवदन्ती है कि मर्त्यलोक में मनुष्य-रूप से अवतीर्ण भगवान् वासुदेव का वचन वैष्णव कहा जाता है। उसे मानुष वचन भी कहते हैं। यह मानुष वाक्य तीन रीतियों के[1] कारण तीन प्रकार का है। जैसा कि कहा गया है—

"वैदर्भी गौडीया पाञ्चाली चेति रीतयस्तिस्रः।
आसु च साक्षान्निवसति सरस्वती तेन लक्ष्यन्ते॥"
रीतिरूपं वाक्यत्रितयं काकुः पुनरनेकयति॥

वैदर्भी, गौडीया और पाञ्चाली—ये तीन रीतियाँ हैं। इन रीतियों में सरस्वती साक्षात् निवास करती हुई-सी प्रतीत होती है। इन तीनों रीतियोंवाले वाक्यों को काकु अनेक प्रकार का बना देती है।

काकु-निरूपण

'काकु' यह संस्कृत का स्त्रीलिंग शब्द है। यह हर्ष, शोक, भय, आश्चर्य, क्रोध, द्वेष आदि मानसिक भावों के अनुकूल उच्चारण या बोलने की ध्वनिविशेष है। जिसके लिए अँगरेजी का 'टोन' शब्द प्रचलित है। एक ही वाक्य विविध भावों के कारण विभिन्न ध्वनियों में बोला जाता है। इसे ही 'काकु' कहते हैं।

---

१. रीतियों की विस्तृत मीमांसा के लिए राजशेखर ने पृथक् अधिकरण-रचना की है। वामन के मतानुसार तीन रीतियाँ हैं। रुद्रट आदि आलङ्कारिकों ने 'लाटी' नामक चौथी रीति भी मानी है। राजशेखर ने वामन के मत का अनुसरण किया है। रीति रचना-शैली (Style) का नाम है। इसका विशेष विवरण देखिए—वामन : काव्यालङ्कार, १-२-१७।

'काकुर्वक्रोक्तिर्नाम शब्दाऽलङ्कारोयम्' इति रुद्रटः। 'अभिप्रायवान्पाठधर्मः काकुः, स कथमलङ्कारी स्यात्' इति यायावरीयः।

आचार्य रुद्रट का मत है कि काकु, यह वक्रोक्ति नाम का एक अलङ्कार है।[1] राजशेखर कहते हैं कि काकु नामक एक साभिप्राय पठन-धर्म, अर्थात् पढ़ने का या बोलने का प्रकार है।[2] वह अलङ्कार कैसे हो सकता है?

सा च द्विधा साकाङ्क्षा निराकाङ्क्षा च। वाक्यान्तराकाङ्क्षिणी साकाङ्क्षा, वाक्योत्तरभाविनी निराकाङ्क्षा। तदेव वाक्यं काकुविशेषेण साकाङ्क्षम्। तदेव काक्वन्तरेण निराकाङ्क्षम्। आक्षेपगर्भा, प्रश्नगर्भा, वितर्कगर्भा चेति साकाङ्क्षा। विधिरूपा, उत्तररूपा, निर्णयरूपेति निराकाङ्क्षा।

काकु दो प्रकार की है—साकांक्षा और निराकांक्षा।[3] दूसरे वाक्य की आकांक्षा करनेवाली काकु साकांक्षा है और वाक्य का उत्तर हो जाने पर वह निराकांक्षा हो जाती है। अर्थात्, एक ही वाक्य काकु-ध्वनि-विशेष से साकांक्ष और निराकांक्ष भी हो जाता है। साकांक्षा काकु तीन प्रकार की है—आक्षेपगर्भा, प्रश्नगर्भा और वितर्कगर्भा। निराकांक्षा काकु भी तीन प्रकार की है—विधिरूपा, उत्तररूपा और निर्णयरूपा।

तत्राक्षेपगर्भा—

"यदि मे वल्लभा दूती तदाऽहमपि वल्लभा।
यदि तस्याः प्रिया वाचः तन्ममाऽपि प्रियप्रियाः॥"

आक्षेपगर्भा काकु का उदाहरण—

नायिका की सखियों के प्रति उक्ति—यदि उसे (नायक को) मेरी भेजी हुई दूती प्यारी है, तो मैं भी उसे प्यारी हूँ, और यदि उसे मेरी दूती के वचन प्यारे लगते हैं, तो मेरे वचन भी प्यारे लगते होंगे।

यहाँ काकु से यह ध्वनि निकलती है कि जिसे मेरी दूती प्यारी है, उसे मैं कैसे प्रिय हो सकती हूँ?

एवमेव निर्देष्टुर्विधिरूपा।

यदि इसी वाक्य को सरल निर्देश रूप से कहा जाय, तो यह विधान किया जाता है कि उसे मेरी दूती और मेरे वचन दोनों प्रिय हैं।

प्रश्नगर्भा—

"गतः स कालो यत्रासीन्मुक्तानां जन्म वल्लिषु।
वर्त्तन्ते साम्प्रतं तासां हेतवः शुक्तिसम्पुटाः॥"

---

१. दे० रुद्रट : काव्यालङ्कार, २-१६।

२. काकुः स्त्रियां विकारो यः शोकभीत्यादिभिर्ध्वनेः।—(अमर : शब्दादिवर्ग)।

३. नाट्यशास्त्र में दो प्रकार की काकु का वर्णन है। दे० भरत : नाट्यशास्त्र, अ० १७।

प्रश्नगर्भा काकु का उदाहरण—

वह समय चला गया, जब लताओं में मोती लगते थे। अब तो उनका (मोतियों का) जन्म सीपियों के सम्पुट में होता है।

इयमेवोपदेष्टुरुत्तररूपा।

यहाँ 'क्या वह समय चला गया?' यह प्रश्नगर्भा साकांक्षा काकु है। यदि इसे उपदेश-वाक्य माना जाय कि 'चला ही गया', तो उत्तररूपा निराकांक्षा काकु की प्रतीति होगी।

वितर्कगर्भा—

"नवजलधरः सन्नद्धोऽयं न दृप्तनिशाचरः
सुरधनुरिदं दूराकृष्टं न नाम शरासनम्।
अयमपि पटुर्धारासारो न वाणपरम्परा
कनकनिकषस्निग्धा विद्युत्प्रिया न ममोर्वशी॥"[1]

वितर्कगर्भा साकांक्षा काकु का उदाहरण—

विक्रमोर्वशीय नाटक में विरही पुरूरवाकी उक्ति—"क्या यह कृष्णवर्ण नवीन मेघ उमड़ रहा है? यह राक्षस नहीं है? क्या यह दूर तक खिंचा हुआ इन्द्रधनुष है? यह बाण मारनेवाला कामधनुष नहीं? क्या यह प्रबल जलधारा बरस रही है? यह बाणों की वर्षा नहीं है? क्या यह कसौटी पर खिंची हुई सुवर्ण-रेखा के समान स्निग्धा विद्युत् है? मेरी प्यारी उर्वशी नहीं?"[2]

इयमेवोपदेष्टुर्निर्णयरूपा। ता इमास्तिस्रोऽपि नियतनिबन्धाः। तद्विपरीताः पुनरनन्ताः।

यहाँ 'यह नव जलधर है या राक्षस'? इत्यादि वितर्कों से यह वाक्य वितर्क-गर्भा साकांक्षा काकु का उदाहरण है। परन्तु, ध्वनि का परिवर्त्तन करने से यह निर्णयरूपा निराकांक्षा काकु हो जाती है कि यह जलधर है, राक्षस नहीं; इन्द्रधनुष है, कामधनुष नहीं; जलवृष्टि है, बाणवर्षा नहीं और यह बिजली है, उर्वशी नहीं।

ये तीनों काकु नियम-नियंत्रित हैं। अनियंत्रित काकु असंख्य होती है।

तत्राभ्युपगमानुनयकाकू—

"युष्मच्छासनलङ्घनाम्भसि मया मग्नेन नाम स्थितं
प्राप्ता नाम विगर्हणा स्थितिमतां मध्येऽनुजानामपि।
क्रोधोल्लासितशोणितारुणगदस्योच्छिन्दतः कौरवा-
नद्यैकं दिवसं ममाऽसि न गुरुर्नाऽहं विधेयस्तव॥"

---

१. दे० राजशेखर : बालरामायण, ३-२।

२. दे० कालिदास : विक्रमोर्वशीय।

उनमें अभ्युपगमानुनय काकु का उदाहरण—

क्रोध से अधीर भीमसेन की युधिष्ठिर के प्रति उक्ति—"हे युधिष्ठिर ! आजतक सचमुच मैं तुम्हारे आज्ञोल्लंघन-रूपी जल में डूबा हुआ निष्क्रिय था और समर्थ, किन्तु छोटे भाइयों के बीच भी तिरस्कार-सहन करता रहा ; लेकिन क्रोध से उठी हुई शत्रुओं के रक्त से रंजित इस गदा को लेकर कौरवों का नाश करता हुआ मैं आज एक दिन के लिए न तो तुम्हारा आज्ञापालक छोटा भाई हूँ और न तुम मेरे शासक बड़े भाई हो।"[१]

यहाँपर 'मैं दबा हुआ बैठा था', 'भाइयों के बीच तिरस्कार प्राप्त करता रहा'—यह अभ्युपगम काकु है। और 'केवल आज ही के लिए तुम मेरे बड़े भाई नहीं हो' तथा 'मैं तुम्हारा आज्ञाकारी छोटा भाई नहीं हूँ'—यह अनुनय काकु है। अर्थात्, आज के बाद कल से तुम फिर मेरे स्वामी और मैं तुम्हारा दास हूँ—यह ध्वनि निकलती है।

अभ्यनुज्ञोपहासकाकू—

"मथ्नामि कौरवशतं समरे न कोपाद्
दुःशासनस्य रुधिरं न पिबाम्युरस्तः।
सञ्चूर्णयामि गदया न सुयोधनोरू
सन्धिं करोतु भवतां नृपतिः पणेन ॥"

अभ्यनुज्ञोपहास काकु का उदाहरण—

युधिष्ठिर को दुर्योधन के साथ सन्धि-प्रस्ताव करते हुए सुनकर छोटे भाइयों के प्रति भीमसेन की उक्ति—"मैं युद्धभूमि में सौ कौरवों को न मारूँ, दुःशासन की छाती से रक्त निकालकर न पीऊँ, गदा से दुर्योधन की जाँघ को चूर्ण न करूँ और तुम्हारा राजा युधिष्ठिर पण (शर्त) के साथ कौरवों से सन्धि करे।"[२]

यहाँ 'प्रतिज्ञा करके भी मैं कुरुकुल का क्षय न करूँ' इत्यादि वाक्यों से अभ्यनुज्ञा-काकु की प्रतीति होती है और 'तुम्हारा राजा' इसमें उपहास-काकु है।

एवं त्रिचतुरकाकुयोगोऽपि।

इसी प्रकार एक ही वाक्य में तीन-चार काकुओं का भी योग होता है।

तत्र त्रियोगः—

"सेयं पश्यति नो कुरङ्गकवधूस्त्वैवमुद्वीक्षते
तस्याः पाणिरयं न मारुतवलत्पत्राङ्गुलिः पल्लवः।
तारं रोदिति सैव नैष मरुता वेणुः समापूर्यते
सेयं मामभिभाषते प्रियतमा नो कोकिलः कूजति ॥"

---

१. दे० भट्टनारायण : वेणीसंहार, १-१२।
२. दे० वही, १-१५।

तीनों के योग का उदाहरण—

विरही पुरूरवा की उक्ति—"यह तो वही मेरी प्रियतमा कातर दृष्टि से देख रही है, हरिणी नहीं! यह उसी का हाथ है, पवन से हिलाया हुआ नवपल्लव नहीं! यह वही ऊँचे स्वर से रो रही है, वायु से बजते हुए बाँसों की ध्वनि नहीं! और, यह वही प्रियतमा मुझसे बातें कर रही है, कोयल की कूक नहीं!"

यहाँ पहले प्रश्नरूप वितर्कगर्भा काकु है। उपदेश (निश्चय) रूप में यही निर्णयगर्भा हो जाती है।

चतुर्योगः—

"उच्यतां स वचनीयमशेषं
नेश्वरे परुषता सखि साध्वी।
आनयैनमनुनीय कथं वा
विप्रियाणि जनयन्ननुनेयः॥"

चार काकु के योग का उदाहरण—

नायिका की सखि के प्रति उक्ति—"हे सखि! उसे जो भी कुछ भला-बुरा कहना है, कह देना; किन्तु सखि, स्वामी के प्रति कठोरता उचित नहीं; उसे किसी प्रकार मनाकर लाओ; परन्तु मेरे विपरीत कार्य करनेवाले को कैसे मनाया जा सकता है।"[1]

यहाँ 'कहना चाहिए या नहीं', 'विपरीत कार्य करनेवाले को कैसे मनाया जाय', ऐसा निर्देश-रूप में दो और उपदेश-रूप में दो—इस प्रकार चार काकु हैं। ऊपर के उदाहरण में सखी के वाक्य में और नायिका के वाक्य में काकु है। अनन्तर सखी और नायिका के वाक्य में अथवा अनेक सखियों के वाक्यों में काकु है।

"सख्या वा नायिकाया वा सखीनायिकयोरथ।
सखीनां भूयसीनां वा वाक्ये काकुरिह स्थिता॥"

काकु का प्रयोग प्रायः सखी के, नायिका के, सखी और नायिका के या बहुत-सी नायिकाओं के अथवा सखियों के वाक्यों में होता है।

पदवाक्यविदां मार्गो योऽन्यथैव व्यवस्थितः।
स त्वङ्गाभिनयो द्योत्या (नयद्योत्यः?) तं काकुः कुरुतेऽन्यथा॥

पद और वाक्य (व्याकरण और मीमांसा) के वेत्ताओं का दूसरा ही मार्ग है। वे अंगों के अभिनय से काकु का कार्य करते हैं; किन्तु काकु उसे अन्यथा कर देती है।

अयं काकुकृतो लोके व्यवहारो न केवलम्।
शास्त्रेष्वप्यस्य साम्राज्यं काव्यस्याप्येष जीवितम्॥

---

१. दे० भारवि: किरातार्जुनीय, ९-३९। इस श्लोक में रोदन, प्रतिबोधन, औत्सुक्य और निर्वेद ये चार प्रकार की काकु हैं।

यह काकु का प्रयोग केवल लोक में ही नहीं होता। शास्त्रों में भी इसका साम्राज्य है[1] और काव्य का तो यह जीवन (चमत्कारकारी होने के कारण) ही है।

कामं विवृणुते काकुरर्थान्तरमतन्द्रिता।
स्फुटीकरोति तु सतां भावाभिनयचातुरीम् ॥

उचित रूप से प्रयुक्त काकु द्वारा सन्देह और विलम्ब के विना दूसरे अर्थ की प्रतीति होती है। काकु, चतुर व्यक्तियों की भावना को व्यक्त या स्पष्ट करता है।

इत्थं कविर्निबध्नीयादित्थं च मतिमान्पठेत्।
यथा निबन्धनिगदश्छायां काञ्चिन्निषिञ्चति ॥

काव्य-रचना में कवि को काकुवाले वाक्यों का ऐसा प्रयोग करना चाहिए और बुद्धिमान् को उसे ऐसे स्वर से पढ़ना चाहिए कि निबन्ध का भाव स्पष्ट रूप से चमत्कारी प्रतीत हो।

पाठ-प्रतिष्ठा

करोति काव्यं प्रायेण संस्कृतात्मा यथा तथा।
पठितुं वेत्ति स परं यस्य सिद्धा सरस्वती ॥

काव्य-रचना करने में निपुण कवि जैसे-तैसे काव्य-रचना तो कर लेता है; लेकिन कविता पाठ करना उसे ही आता है, जिसे सरस्वती सिद्ध हो। अर्थात्, उसका (काव्य का) पढ़ना सभी नहीं जानते। इस विषय में संगृहीत श्लोक उद्धृत किये जाते हैं।

यथा जन्मान्तराभ्यासात्कण्ठे कस्यापि रक्तता।
तथैव पाठसौन्दर्यं नैकजन्मविनिर्मितम् ॥

जैसे पूर्वजन्म के संस्कार से किसी का गला सुरीला होता है, उसी प्रकार काव्य-पाठ का सौन्दर्य भी अनेक जन्म के अभ्यास से प्राप्त होता है।

ससंस्कृतमपभ्रंशं लालित्यालिङ्गितं पठेत्।
प्राकृतं भूतभाषां च सौष्ठवोत्तरमुद्गिरेत् ॥

संस्कृत और अपभ्रंश-भाषा की कविता को लालित्य के साथ पढ़ना चाहिए और प्राकृत तथा भूत-भाषा को उत्तरोत्तर सौन्दर्यवृद्धि के साथ पढ़ना चाहिए।

प्रसन्ने मन्द्रयेद्वाचं तारयेत्तद्विरोधिनि।
मन्द्रतारौ च रचयेन्निर्वाहिणि यथोत्तरम् ॥

---

१. वेदमन्त्रों में भी ऐसे उदाहरण मिलते हैं, जहाँ स्वर-विशेष के स्वल्प परिवर्त्तन से दूसरे अर्थ की प्रतीति होती है।

प्रसाद गुणवाली कविता को गम्भीरता से, ओजोमयी कविता को उच्च स्वर से एवं उभय गुणवाली रचना को आवश्यकतानुसार गम्भीर और उच्च स्वर से पढ़ना चाहिए।

ललितं काकुसमन्वितमुज्ज्वलमर्थवशकृतपरिच्छेदम्।
श्रुतिसुखविविक्तवर्णं कवयः पाठं प्रशंसन्ति॥

ललित स्वर से, काकु से युक्त, सुस्पष्ट, अर्थ के अनुसार विराम करते हुए, कर्ण-मधुर ध्वनि से और एक-एक अक्षर को स्पष्ट रूप से पढ़ना प्रशंसनीय कहा गया है।

अतितूर्णमतिविलम्बितमुल्बणनादं च नादहीनं च।
अपदच्छिन्नमनावृतमतिमृदुपरुषं च निन्दति॥

अतिशीघ्र या अतिविलंब से, बहुत जोर से या चिल्लाकर अथवा अतिमन्द स्वर से, विना पदच्छेद किये हुए एवं अतिमृदुता या अतिकठोरता से पढ़ना निन्दनीय कहा जाता है।

गम्भीरत्वमनैश्वर्यं निर्व्यूढिस्तारमन्द्रयोः।
संयुक्तवर्णलावण्यमिति पाठगुणाः स्मृताः॥

गम्भीरता, सस्वरता, ऊँचे-नींचे स्वर का भली भाँति निर्वाह और संयुक्ताक्षरों के पढ़ने में लावण्य—ये पाठक के गुण हैं।

यथा व्याघ्री हरेत्पुत्रान्दंष्ट्राभिश्च न पीडयेत्।
भीता पतनभेदाभ्यां तद्वद्वर्णान्प्रयोजयेत्॥

अक्षरों का उच्चारण ऐसे ढंग से करना चाहिए, जैसे व्याघ्री कोमल बच्चों को दाँतों से पकड़ते हुए भी उन्हें गिरने और कटने से बचाती है।

विभक्तयः स्फुटा यत्र समासश्चाकदर्थितः।
अम्लानः पदसन्धिश्च तत्र पाठः प्रतिष्ठितः॥

जिस पाठ में विभक्तियाँ स्पष्ट रूप से प्रतीत हों, समास भी स्पष्ट प्रतीत हों और पदों की सन्धियाँ भी अस्पष्ट न हों, वह पाठ उत्तम कहा जाता है।

न व्यस्तपदयोरैक्यं न भिदां तु समस्तयोः।
न चाख्यातपदम्लानिं विदधीत सुधीः पठन्॥

विद्वान् को चाहिए कि पृथक् पदों को एक साथ मिलाकर न पढ़े, समासवाले पदों को पृथक्-पृथक् न पढ़े और क्रियापदों का स्पष्ट रूप से उच्चारण करे।

आगोपालकमायोषिदास्तामेतस्य लेह्यता।
इत्थं कविः पठन्काव्यं वाग्देव्या अतिवल्लभः॥

जो ग्वाले से लेकर स्त्रियों तक को आकर्षक या रुचिकर हो, ऐसा काव्यपाठ करनेवाला कवि सरस्वती का परमप्रिय होता है।

येऽपि शब्दविदो नैव नैव चार्थविचक्षणाः ।
तेषामपि सतां पाठः सुष्ठु कर्णरसायनम् ॥

विद्वानों का पाठ, जिन्हें न तो शब्दज्ञान है और न अर्थज्ञान, उनके लिए भी कर्णमधुर होता है।

भिन्न-भिन्न देशों की पाठ-प्रणाली

पठन्ति संस्कृतं सुष्ठु कुण्ठाः प्राकृतवाचि ते ।
वाराणसीतः पूर्वेण ये केचिन्मगधादयः ॥

वाराणसी से पूर्व मगध आदि देशों के कवि, संस्कृत-काव्यों को तो सुन्दर ढंग से पढ़ते हैं; परन्तु प्राकृत-कविता-पाठ में वे कुंठित ही रहते हैं।

आह स्म—

ब्रह्मन्विज्ञापयामि त्वां स्वाधिकारजिहासया ।
गौडस्त्यजतु वा गाथामन्या वाऽस्तु सरस्वती ॥

कहा जाता है—

सरस्वती ने अपने अधिकार को छोड़ने के लिए ब्रह्मा से निवेदन किया कि महाराज! या तो गौड-देशवासी प्राकृत-भाषा का पढ़ना छोड़ दें, या मेरे स्थान पर दूसरी सरस्वती को नियुक्त किया जाय। तात्पर्य यह है कि गौड-देशवासी प्राकृत-भाषा की कविता को पढ़ना नहीं जानते या उनका पाठ विस्वर और कर्णकटु होता है।

नातिस्पष्टो न चाश्लिष्टो न रूक्षो नातिकोमलः ।
न मन्द्रो नातितारश्च पाठी गौडेषु वाडवः ॥

गौड-देशवासी विद्वानों का पाठक्रम सभी प्रकार मध्यम होता है। वे न अति स्पष्ट और न अति अस्पष्ट, न रूक्ष और न अतिकोमल एवं न अति ऊँचे स्वर से और न गम्भीर स्वर से पढ़ते हैं।

रसः कोऽप्यस्तु काप्यस्तु रीतिः कोऽप्यस्तु वा गुणः ।
सगर्वं सर्वकर्णाटाष्टङ्कारोत्तरपाठिनः ॥

कर्णाट-देश के कवियों का पाठक्रम, अत्यन्त स्पष्ट, अर्थात् टनटनाहट के साथ होता है। कोई भी रीति हो, कोई भी रस हो या कोई भी गुण हो, वे सर्वत्र बड़ी कड़कड़ाहट के साथ गर्वान्वित होकर काव्य-पाठ करते हैं।

गद्ये पद्येऽथवा मिश्रे काव्ये काव्यमना अपि ।
गेयगर्भे स्थितः पाठे सर्वोऽपि द्रविडः कविः ॥

द्रविड-देश के कवि काव्यमर्मज्ञ होते हुए भी गद्य, पद्य या मिश्रभाषा—सभी को गाकर पढ़ते हैं।

पठन्ति लटभं लाटाः प्राकृतं संस्कृतद्विषः ।
जिह्वया ललितोल्लापलब्धसौन्दर्यमुद्रया ॥

लाटदेश के कवि संस्कृत के शत्रु होते हैं; परन्तु प्राकृत-भाषा के काव्यों को सुन्दरता के साथ पढ़ते हैं। पढ़ने के समय उनका जिह्वा-संचालन, ललित उच्चारण के कारण बहुत सुन्दर प्रतीत होता है। अर्थात्, वे संस्कृत पढ़ने में दक्ष नहीं होते, प्राकृत में उनका उच्चारण मधुर होता है।

सुराष्ट्रत्रवणाद्या ये पठन्त्यर्पितसौष्ठवम् ।
अपभ्रंशावदंशानि ते संस्कृतवचांस्यपि ॥

सौराष्ट्र, गुर्जर, त्रवण आदि देशों के कवि, अपभ्रंश तथा संस्कृत दोनों भाषाओं की कविताओं को सुन्दर और स्पष्ट रूप से पढ़ते हैं।

शारदायाः प्रसादेन काश्मीरः सुकविर्जनः ।
कर्णे गुडूचीगण्डूषस्तेषां पाठक्रमः किमु ॥

शारदा की कृपा से कश्मीर के कवि अच्छे तो होते हैं; किन्तु उनका काव्य-पाठ ऐसा प्रतीत होता है, जैसे कानों में गुरुच के रस का कुल्ला किया जा रहा हो। अर्थात्, उनका कविता-पाठ अतिशय कर्णकटु होता है।

ततः पुरस्तात्कवयो ये भवन्त्युत्तरापथे ।
ते महत्यपि संस्कारे सानुनासिकपाठिनः ॥

इसके आगे उत्तरापथ के कवि व्याकरण-शास्त्र के कितने ही विद्वान् और सुसंस्कृत क्यों न हों; लेकिन वे सानुनासिक पाठ ही करते हैं।

मार्गानुगेन निनदेन निधिर्गुणानां
सम्पूर्णवर्णरचनो यतिभिर्विभक्तः ।
पाञ्चालमण्डलभुवां सुभगः कवीनां
श्रोत्रे मधु क्षरति किञ्चन काव्यपाठः ॥

पांचाल देश के कवियों का पाठ अत्यन्त मधुर होता है। वे नियमानुसार समुचित ध्वनि से सम्पूर्ण वर्णों का स्पष्ट उच्चारण करते हैं और उचित स्थानों पर विश्राम करते हैं। उनका पाठ कानों में मधु बरसाता है।

ललल्लकारया जिह्वं जर्जरस्फाररेफया ।
गिरा भुजङ्गाः पूज्यन्ते काव्यभव्यधियो न तु ॥

लकार को जोर के साथ और पूरे रकार को अर्ध रेफ के समान पढ़नेवाले सर्पों के समान कठोर नैयायिक और वैयाकरण समाज में भले ही आदरणीय माने जाते हों; किन्तु काव्यकोमल बुद्धिवाले कवियों का आदर कोमल, मधुर और सुन्दर उच्चारण के कारण ही होता है।

पञ्चस्थानसमुद्भववर्णेषु यथास्वरूपनिष्पत्तिः ।
अर्थवशेन च विरतिः सर्वस्वमिदं हि पाठस्य ॥

वर्णों के पाँच स्थान[1] हैं—स्वर, काल, स्थान, प्रयत्न और अनुप्रदान। इन पाँचों से उत्पन्न वर्णों का समुचित रूप से उच्चारण होना और अर्थ के अनुरोध से विराम (यति) होना, यही पाठ का रहस्य है।

सकाकुकलना पाठप्रतिष्ठेयं प्रतिष्ठिता ।
अर्थानुशासनस्याथ प्रकारः परिकीर्त्यते ॥

॥ इति राजशेखरकृतौ काव्यमीमांसायां कविरहस्ये प्रथमेऽधिकरणे सप्तमोऽध्यायः समाप्तः ॥

इस प्रकार इस अध्याय में काकु-विवेचन के साथ पठन-प्रकारों का समीक्षण किया गया है। अब अगले अध्याय में अर्थ-सम्बन्धी विवेचन किया जायगा।

सप्तम अध्याय समाप्त

---

१. वर्णोत्पत्ति के पाँच स्थानों का विवरण प्राचीन ग्रन्थों में इस प्रकार किया गया है—'स्वरतः कालतः स्थानात् प्रयत्नानुप्रदानतः। इति वर्णविदः प्राहुः।'

अष्टमोऽध्यायः काव्यार्थयोनयः

अष्टम अध्याय : काव्यार्थ के स्रोत

विगत सात अध्यायों में काव्यपुरुष की विवेचना की गई है। अब यहाँ से काव्य में वर्णनीय अर्थ या विषय कैसे होते हैं और वे कहाँ से प्राप्त होते हैं इत्यादि विषयों का विवेचन किया जायगा। इस अध्याय में काव्य की योनियाँ, अर्थात् काव्य के स्रोत बताये जायेंगे।

'श्रुतिः, स्मृतिः, इतिहासः, पुराणं, प्रमाणविद्या, समयविद्या, राजसिद्धान्तत्रयी, लोको, विरचना, प्रकीर्णकं च काव्यार्थानां द्वादश योनयः' इति आचार्याः। 'उचितसंयोगेन, योक्तृसंयोगेन, उत्पाद्य-संयोगेन, संयोगविकारेण च सह षोडश' इति यायावरीयः।

काव्य-रचना के लिए विषय या अर्थप्राप्ति के प्रधानतः बारह स्रोत बताये गये हैं। वे ये हैं—१. वेद, २. स्मृति (मनु आदि धर्मशास्त्र), ३. इतिहास, ४. पुराण, ५. प्रमाण-विद्या (मीमांसा और छह प्रकार के तर्कशास्त्र), ६. राजसिद्धान्तत्रयी, अर्थात् अर्थशास्त्र, नाट्यशास्त्र और कामशास्त्र, ७. लोक (सांसारिक या व्यावहारिक वृत्त), ८. विरचना (अन्यान्य कवियों की रचनाएँ काव्य, नाटक, महाकाव्य आदि) और ९. प्रकीर्णक, (चौंसठ कलाएँ, आवश्यक आयुर्वेद, ज्यौतिष, वृक्षशास्त्र, अश्व-गज-लक्षण आदि)। यह प्राचीन आचार्यों का मत है। यायावरीय राजशेखर का मत है कि इनमें चार और मिलाकर सोलह काव्यार्थ-स्रोत हैं।[1] वे चार हैं—१. उचित-संयोग, २. योक्तृ-संयोग, ३. उत्पाद्य-संयोग और ४. संयोग-विकार। इनका स्पष्टीकरण यथावसर आगे किया जायगा।

तत्र श्रौतः।

इन सोलह काव्यार्थ-स्रोतों में प्रथम श्रुति या वेद है। उसका उदाहरण—

'उर्वशीहाप्सराः पुरूरवसमैडं चकमे।' अत्रार्थे—

वेद (ऐतरेय[2] ब्राह्मण) में कहा गया है कि 'उर्वशी—अप्सरा ने इडा या इला के पुत्र पुरूरवा नामक राजा की कामना की', अर्थात् उसके प्रणय की इच्छा की—इस आधार पर की गई काव्यरचना—

---

१. भरत, भामह, वामन, रुद्रट आदि प्राचीन आलङ्कारिक विद्वानों ने तथा क्षेमेन्द्र, हेमचन्द्र, वाग्भट आदि राजशेखर से अर्वाचीन विद्वानों ने इस सम्बन्ध में विस्तृत विवेचन किया है। भामह ने तो लिखा है—'न स शब्दः, न तद् वाच्यं, न स न्यायः, न सा कला, जायते यन्न काव्याङ्गम्।' —काव्यालङ्कार, ५-४

२. द्रे० शतपथब्राह्मण, ५-१-२।

"चन्द्राद् बुधः समभवद्भगवान्नरेन्द्र-
माद्यं पुरूरवसमैडमसावसूत ।
तं चाप्सराः स्मरवती चकमे किमन्य-
दत्रोर्वशी स्मितवशीकृतशक्रचेताः ॥"

"चन्द्रमा से बुध नामक पुत्र उत्पन्न हुआ, बुध ने इला नाम की पत्नी से पुरूरवा को उत्पन्न किया, जो चन्द्रवंश का प्रथम प्रवर्त्तक राजा था। उसके सौन्दर्य के सम्बन्ध में इतना ही कहना पर्याप्त है कि अपने मधुर स्मित से इन्द्र का चित्त चुरानेवाली अप्सरा (स्वर्ग की वेश्या) उर्वशी भी कामातुर होकर उसपर आसक्त हो गई।"

यथा वा—

"यदेतन्मण्डलं तपति तन्महदुक्थं ता ऋचः स ऋचां लोकोऽथ यदेतदर्चिर्दीप्यते तन्महाव्रतं तानि सामानि स साम्नां लोकोऽथ य एष तस्मिन्मण्डले पुरुषः सोऽग्निस्तानि यजूंषि स यजुषां लोकः सैषा त्रय्येव विद्या तपति।"

इसी प्रकार तैत्तिरेय आरण्यक के चौदहवें अनुवाक[1] में सूर्य-मण्डल में परब्रह्मोपासना का वर्णन है—

"यह जो आकाश में दीखता हुआ सूर्य-मण्डल तप रहा है, वह उक्थ नामक महान् साम है। उस मण्डल में ऋचाएँ हैं। वह मण्डल ऋचाओं के अभिमानी देवताओं का लोक (निवासस्थान) है। उस मण्डल में जो किरणें देदीप्यमान हो रही हैं, वे साम हैं, वे महाव्रत हैं, वे अर्चिस्वरूप हैं, वह सामवेद के अभिमानी देवताओं का निवास है और इस मण्डल में जो पुरुष है, वह अग्नि है। वे यजुष हैं। उनमें यजुषों के अभिमानी देवताओं का निवास है। इस प्रकार मण्डल, किरण और पुरुष—ये तीनों ही त्रयी विद्या के रूप में तपते हैं। अर्थात्, इन्हीं का नाम त्रयी विद्या है।"

अत्रार्थे—

"एतद्यन्मण्डलं खे तपति दिनकृतस्ता ऋचोऽर्चींषि यानि
द्योतन्ते तानि सामान्ययमपि पुरुषो मण्डलेऽणुर्यजूंषि ।
एवं यं वेद वेदत्रितयमयमयं वेदवेदीसमग्रो
वर्गः स्वर्गापवर्गप्रकृतिरविकृतिः सोऽस्तु सूर्यः श्रिये वः ॥"

इसी वेदार्थ को महाकवि मयूर सूर्यशतक में काव्य-रचना की शैली से वर्णन करते हैं—

आकाश में जो यह सूर्य-मण्डल तप रहा है, वह ऋचाएँ है, उसकी किरणें साम हैं और मण्डल में अणुरूप से बैठा हुआ पुरुष यजुर्वेद है। इस प्रकार, यह सूर्य तीनों

1. दे० तैत्तिरीय ब्राह्मण, अनुवाक, १४ महानारायणोपनिषद्, १२-२।

वेदों का स्वरूप है। यह सूर्य, वेदों में कहे गये सम्पूर्ण धर्म, अर्थ और काम का समूह है। स्वर्ग तथा मोक्ष का मुख्य कारण है। ऐसा यह अविकृत, अर्थात् स्वयम्भू सूर्य आपकी श्री को बढ़ाये।[1]

तच्चेदं वेदहरणं यदित्थं कथयन्ति—

इस प्रकार प्राचीन आचार्य वेदार्थ-हरण के सम्बन्ध में कहते हैं—

"नमोऽस्तु तस्यै श्रुतये यां दुहन्ति पदे पदे।
ऋषयः शास्त्रकाराश्च कवयश्च यथामति॥"

उस श्रुति को प्रणाम है, जिस श्रुतिरूपी गौ (वाणी) को मन्त्रद्रष्टा ऋषि, शास्त्रकार और कविजन पद-पद पर दुहते रहते हैं।

स्मार्त्तः—

"बह्वर्थेष्वभियुक्तेन सर्वत्र व्यपलापिना।
विभावितैकदेशेन देयं यदभियुज्यते॥"

स्मार्त्त अर्थ का उदाहरण—

अनेक वस्तुओं की चोरी का अभियुक्त पुरुष, यदि सभी वस्तुओं की चोरी को स्वीकार न करता हो और चुराई हुई वस्तुओं का कुछ भी अंश उसके पास मिल जाय या अंशमात्र की चोरी को स्वीकार कर ले, तो वह समूची चोरी की वस्तुओं को देने का दायी होगा।[2]

अत्रार्थे—

"हंस प्रयच्छ मे कान्तां गतिस्तस्यास्त्वया हृता।
सम्भावितैकदेशेन देयं यदभियुज्यते॥"

इस धर्मशास्त्रीय अर्थ के आधार पर रचना-कुशल कवि कालिदास कहते हैं कि—"हे हंस! मेरी प्रियतमा पत्नी को दो, तुमने उसकी गति का हरण किया है। अतः, तुम्हीं उसके लिए दायी हो; क्योंकि धर्मशास्त्र का यह नियम है कि चोरी के माल का एक अंश भी यदि किसी के पास मिल जाय, तो वह समूची चोरी का दायी होता है। अर्थात्, तुम्हारे पास उसकी गति मिल रही है, अतः उसे चुराने का सम्पूर्ण दायित्व तुम पर है।"[3]

ऐतिहासिकः—

"न स सङ्कुचितः पन्थाः येन वाली हतो गतः।
समये तिष्ठ सुग्रीव मा वालिपथमन्वगाः॥"

१. दे० मयूरकवि : सूर्यशतक, ३९।

२. दे० जीमूतवाहन : व्यवहारमातृका, पृ० ३११ में नारदवचन; याज्ञवल्क्य : व्यवहारकाण्ड और गौतमस्मृति।

३. दे० कालिदास : विक्रमोर्वशीय, ४-१७।

ऐतिहासिक अर्थहरण—

वाल्मीकीय रामायण के किष्किन्धाकाण्ड में विलास-वासना-लिप्त सुग्रीव ने जब राम के साथ की गई अपनी प्रतिज्ञा विस्मृत कर दी और रामचन्द्र प्रतीक्षा करते-करते श्रान्त हो गये, तब उन्होंने लक्ष्मण द्वारा संदेश भेजा—

"हे सुग्रीव ! तुम्हारा भाई वाली, जिस मार्गपर चलकर मारा गया है, वह मार्ग अभी बन्द नहीं हुआ है। अपनी प्रतिज्ञा पर अटल रहो, वाली के पथ का अनुसरण न करो। तात्पर्य यह है कि प्रतिज्ञा-भंग करने पर तुम्हें भी वाली के समान मृत्यु का आलिंगन करना पड़ेगा।"[1]

अत्र—

"मदं नवैश्वर्यलवेन लम्भितं
विसृज्य पूर्वः समयो विमृश्यताम्।
जगज्जिघत्सातुरकण्ठपद्धति-
र्न वालिनैवाहततृप्तिरन्तकः॥"

इस ऐतिहासिक अर्थ को कवि काव्य की भाषा में कहता है—

"हे सुग्रीव ! नवीन ऐश्वर्य की प्राप्ति के मद को छोड़कर अपनी पूर्व-प्रतिज्ञा का स्मरण करो। संसार का भक्षण करने के लिए लालायित कण्ठवाली मृत्यु केवल वाली का भक्षण करके ही तृप्त नहीं हुई है। तात्पर्य यह कि तुम्हारा भी भक्षण कर सकती है।"[2]

पौराणिकः—

"हिरण्यकशिपुर्दैत्यो यां यां स्मित्वाऽप्युदैक्षत।
भयभ्रान्तैः सुरैश्चक्रे तस्यै तस्यै दिशे नमः॥"

पौराणिक अर्थहरण—

दैत्यराज हिरण्यकशिपु मुस्कराकर जिस-जिस दिशा की ओर देखता था; भय से व्याकुल देवता उस-उस दिशा को प्रणाम करते थे।[3]

अत्र—

"स सञ्चरिष्णुर्भुवनत्रयेऽपि यां
यदृच्छयाशिश्रियदाश्रयः श्रियः।
अकारि तस्य मुकुटोपलस्खलत्-
करैस्त्रिसन्ध्यं त्रिदशैर्दिशे नमः॥"

---

१. दे० वाल्मीकिरामायण, किष्किन्धाकाण्ड, अ० ३४, श्लो० १८।
२. दे० कुमारदास : जानकीहरण, १२-२६।
३. यह अग्निपुराण और वायुपुराण में भी है।—दे० वायुपुराण, अ० ६७।

भागवत के इसी भाव का महाकवि माघ शिशुपालवध में वर्णन करते हैं—

"वह त्रैलोक्य की राजलक्ष्मी का एकमात्र स्वामी, हिरण्यकशिपु भुवनों की यात्रा के लिए जिस दिशा की ओर जाता था, उस दिशा को देवता अपने हाथों से मुकुटों को झुकाकर तीनों काल नमस्कार करते थे।"[१]

अत्राहुः—

"श्रुतीनां साङ्गशाखानामितिहासपुराणयोः।
अर्थग्रन्थः कथाभ्यासः कवित्वस्यैकमौषधम्॥

प्राचीन विद्वानों ने कहा है—

"वेदों, उनके अंगों और शाखाओं, इतिहास और पुराण के अर्थों का गुम्फन करना और उनमें वर्णित कथाओं का अनुशीलन या अभ्यास करना कवित्व की एकमात्र महौषधि है।

इतिहासपुराणाभ्यां चक्षुर्भ्यामिव सत्कविः।
विवेकाञ्जनशुद्धाभ्यां सूक्ष्ममप्यर्थमीक्षते॥

"सत्कवि, विवेक-रूपी अंजन से विशुद्ध इतिहास-पुराण-रूपी आँखों से सूक्ष्म तत्त्वों का अवलोकन करते हैं।

वेदार्थस्य निबन्धेन श्लाघ्यन्ते कवयो यथा।
स्मृतीनामितिहासस्य पुराणस्य तथा तथा॥"

"वैदिक अर्थों का अनुसरण करके रचना करनेवाले कवि जैसे प्रशंसनीय होते हैं, उसी प्रकार धर्मशास्त्र, इतिहास और पुराण में वर्णित विषयों पर रचना करनेवाले कवि भी श्लाघनीय समझे जाते हैं।"

द्विविधः प्रामाणिको मैमांसिकस्तार्किकश्च। तत्र प्रथमः। शब्दस्य सामान्यमभिधेयं विशेषश्चार्थः। अत्र—

प्रामाणिक अर्थ दो प्रकार के होते हैं—मीमांसक और तार्किक। मीमांसा-शास्त्र का सिद्धान्त है कि शब्द तो अपने सामान्य अर्थ को ही व्यक्त करता है; परन्तु भिन्न-भिन्न स्थान पर उसका विशेष अर्थ हो जाता है। इस सिद्धान्त के अनुसार किसी कवि की रचना है कि—

"सामान्यवाचि पदमप्यभिधीयमानं
मां प्राप्य जातमभिधेयविशेषनिष्ठम्।
स्त्री काचिदित्यभिहिते सततं मनो मे
तामेव वामनयनां विषयीकरोति॥"

---

१. दे० माघ : शिशुपालवध, २-४६।

"सामान्य रूप से कहा गया स्त्री शब्द, मेरे प्रति विशेष अर्थ की प्रतीति करता है। 'कोई स्त्री' ऐसा कहने पर मेरा मन अपनी उसी सुलोचना प्रियतमा की ओर चला जाता है।"[१]

तर्केषु साङ्ख्यीयः—

"नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः ।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदृष्टिभिः ॥"

तार्किक अर्थ दो प्रकार के हैं—सांख्यशास्त्रीय और न्याय-वैशेषिकशास्त्रीय। उनमें सांख्यशास्त्रीय अर्थ गीता में कहा गया है कि—

"असत् पदार्थ का अस्तित्व नहीं है और सत् पदार्थ का अभाव नहीं है। तत्त्वदर्शी, अर्थात् ब्रह्मवेत्ता विद्वानों ने सत् और असत् दोनों की मर्यादा को समझा है। अर्थात्, सत सत् ही है और असत् असत् ही।"[२]

अत्र—

"य एते यज्वानः प्रथितमहसो येऽप्यवनिपा
मृगाक्ष्यो याश्चैताः कृतमपरसंसारकथया ।
अमी ये दृश्यन्ते फलकुसुमनम्राश्च तरवो
जगत्येवंरूपा विलसति मृदेषा भगवती ॥"

इस अर्थ के आधार पर काव्य-रचना का उदाहरण—

"जंगम जगत् की बात जाने दीजिए, ये प्रसिद्ध यज्ञकर्त्ता, प्रसिद्ध प्रतापी राजा, ये सुन्दर मृगलोचनियाँ तथा स्थावर जगत् में जो ये फल-फूलों के भार से लदे हुए वृक्ष दीख रहे हैं, इन सभी में प्रत्यक्ष रूप से मृत्तिका का ही विलास दीखता है। अर्थात्, यह समस्त स्थावर-जंगमात्मक जगत् मृत्तिकामय है, मिट्टी है।"

अर्थात्, मृत्तिका के ये सारे विकार असत् हैं, मृत्तिका ही सत् है। उसका अभाव नहीं है।

न्यायवैशेषिकीयः—स किंसामग्रीक ईश्वरः कर्त्ता ? इति पूर्वपक्षः निरतिशयैश्वर्यस्य तस्य कर्त्तृत्वमिति सिद्धान्तः।

---

१. मीमांसकों के मत में किसी भी पद या शब्द का अर्थ जातिवाचक होता है। जैसे—गौ या मनुष्य कहने से संसार के सभी गौ और मनुष्य उसका अर्थ है, एक व्यक्ति नहीं। अर्थात्, सभी शब्द जातिवाचक होते हैं। किन्तु, इस पद्य में सामान्य स्त्री-जातिवाचक शब्द मेरे लिए अपनी विशिष्ट प्रियतमा का सूचक हो गया। इस प्रकार, कवि ने मीमांसा-दर्शन के सिद्धान्त की इस बात को काव्य में शृंगार-रस के अनुकूल बनाकर कवि-कौशल का परिचय दिया है। इसी प्रकार अन्य दर्शनों के उदाहरण में भी समझना चाहिए।

२, दे० भगवद्गीता, अ० २, श्लो० १६।

न्यायशास्त्र में 'ईश्वर किन-किन सामग्रियों से संसारी रचना करता है'—इस प्रश्न के उत्तर में यह सिद्धान्त किया गया है कि ईश्वर अकल्पनीय शक्ति से संपन्न है, उसे सामग्री या सहायता की आवश्यकता नहीं होती, वह स्वयं कर्त्ता है।

अत्र—

"किमीहः किंकायः स खलु किमुपायस्त्रिभुवनं
किमाधारो धाता सृजति किमुपादान इति च।
अतर्क्यैश्वर्ये त्वय्यनवसरदुःस्थो हतधियः
कुतर्कोऽयं कांश्चिन्मुखरयति मोहाय जगतः॥"

इस प्रश्न और उत्तर का वर्णन 'शिवमहिम्नःस्तोत्र' के प्रणेता शास्त्रकवि पुष्पदन्ताचार्य करते हैं—"हे भगवन्! अचिन्तनीय ऐश्वर्य-सम्पन्न तुम्हारे सम्बन्ध में असमय में दुरवस्था में पड़े हुए कुछ मूर्ख, संसार को भ्रम में डालने के लिए यह कुतर्क किया करते हैं कि वह सृष्टि का निर्माता किस इच्छा से, किस शरीर से, किस उपाय से, किस आधार से और किस कारण-कलाप से सृष्टि की रचना करता है?"[1]

बौद्धीयः—

विवक्षापूर्वा हि शब्दास्तामेव विवक्षां सूचयेयुः।

बौद्धों के सिद्धान्त में शब्द, वक्ता की इच्छा के सूचक हैं, अर्थात् वक्ता, जिस इच्छा से शब्द का प्रयोग करता है, वही शब्द का मुख्य अर्थ होता है।

इसी भाव को कवि रचना द्वारा स्पष्ट करता है—

अत्र—

"भवतु विदितं शब्दा वक्तुर्विवक्षितसूचकाः
स्मरवति यतः कान्ते कान्तां बलात्परिचुम्बति।
न न न म म मा मा मां स्प्राक्षीर्निषेधपरं वचो
भवति शिथिले मानग्रन्थौ तदेव विधायकम्॥"

यह तो विदित ही है कि शब्द वक्ता की इच्छा के सूचक होते हैं; क्योंकि प्रणय-कलह के शान्त होने पर कामातुर नायक ने जब बलपूर्वक नायिका का चुम्बन किया, तब 'नहीं-नहीं, मत मत, मुझे न छुओ, न छेड़ो,' इत्यादि नायिका के निषेध करनेवाले शब्द, अभिमान की गाँठ के शिथिल होने पर, वस्तुतः विधायक हो जाते हैं। तात्पर्य यह है कि इन निषेधात्मक शब्दों द्वारा नायिका अपनी आन्तरिक विधिरूप इच्छा को प्रकट करती है।

यहाँ नायिका ने विधिरूप से ही निषेध-वचनों का प्रयोग किया है। अतः, ये वचन वस्तुतः विधायक हैं।

---

१. दे० पुष्पदन्ताचार्य : शिवमहिम्नःस्तोत्र, श्लो० ५।

लौकायतिकः—

भूतेभ्यश्चैतन्यं मदशक्तिवत्। अत्र—

"बहुविधमिह साद्धिचिन्तकाः
प्रवदन्त्यन्यमितः कलेवरात्।
अपि च सुदति ते सचिन्तकाः
प्रलयं यान्ति सहैव चिन्तया॥"

चार्वाक-मत में चैतन्य, शरीर से पृथक् वस्तु नहीं है।[1] उसके सिद्धान्त में पाँच महाभूतों के संयोग से चैतन्य स्वयं उत्पन्न होता है। जैसे—सुरा-बीजों के साथ कुछ वस्तुओं का संयोग होने से मादकता स्वतः उत्पन्न हो जाती है। इस सिद्धान्त को कवि-रचना में कहा गया है कि—'हे सुन्दर दाँतोंवाली, बड़े-बड़े दार्शनिक चैतन्य आत्मा को इस शरीर से भिन्न या पृथक् कहते हैं; किन्तु वे तेरी चिन्ता करनेवाले तो चिन्ता के साथ ही नष्ट हो जाते हैं।'

आर्हतः—

शरीरपरिमाण आत्मा, अन्यथा शरीराफल्यमात्माफल्यं वा।

जैन दर्शनकारों का मत है कि प्रत्येक आत्मा का परिमाण उसके शरीर के समान है। अर्थात्, जितना बड़ा शरीर है, उतनी ही लम्बी उसकी आत्मा भी होती है। चींटी की आत्मा चींटी के ही परिमाण की है और हाथी की आत्मा हाथी के परिमाण की।

अत्र—

"शरीरमात्रमात्मानं ये वदन्ति जयन्ति ते।
तच्चुम्बनेऽपि यज्जातः सर्वाङ्गपुलकोऽस्य मे॥"

इसी सिद्धान्त के अनुसार कवि कहता है—

जो दर्शनकार आत्मा को शरीर के समान परिमाणवाला कहते हैं, वे सबसे उत्कृष्ट हैं; क्योंकि उसका चुम्बन करने से मेरे समूचे शरीर में रोमांच हो आया। इससे शरीरमात्र आत्ममय प्रतीत होता है।

सर्वपार्षदत्वात्काव्यविद्यायाः तानिमानन्यांश्चार्थान्व्युत्पत्तये प्रत्यवेक्षेत।

आहुश्च—

काव्य-विद्या सभी शास्त्रों से अनुगृहीत है या काव्य-विद्या के उपासक सभी संप्रदायवाले हो सकते हैं। अतः, व्युत्पत्ति के निमित्त इन उक्त दार्शनिक सिद्धान्तों के

---

१. चार्वाक-मत का सिद्धान्त है कि देह से अतिरिक्त चैतन्य नवीन वस्तु नहीं है। जैसे—महुआ, गुड़ और जल—इनमें पृथक् मद (नशा) नहीं है; किन्तु इन्हें मिला देने से मादकता उत्पन्न होती है, उसी प्रकार शरीर में पृथ्वी आदि भूतों के संपर्क से एक शक्ति उत्पन्न होती है, जिसे चैतन्य कहते हैं।

अतिरिक्त कवि को अन्य शास्त्रीय सिद्धान्तों का प्रत्यवेक्षण भी करना चाहिए। कहा भी है—

"यांस्तर्ककर्कशानर्थान्सूक्तिष्वाद्रियते कविः।
सूर्यांशव इवेन्दौ ते काश्चिदर्चन्ति कान्तताम् ॥"

"कवि, जिन तर्क-कर्कश अर्थों का वर्णन अपनी सूक्तियों द्वारा करता है, वे कठोर अर्थ भी इस प्रकार कोमल और रमणीय हो जाते हैं, जिस प्रकार सूर्य की सन्तापदायिनी किरणें चन्द्रमा के रूप में परिणत होकर शीतल, कोमल और सन्तापहारिणी हो जाती हैं।"

ज्योतिर्विज्ञान द्वारा यह सिद्ध है कि चन्द्रमा, जलमय और प्रकाशहीन है, अतः शीतल है। उसमें सूर्य की किरणें प्रकाश उत्पन्न करती हैं।

समयविद्यासु शैवसिद्धान्तीयः—

साम्प्रदायिक विद्याओं के विषयों का कवि-रचना में समावेश करने के कुछ उदाहरण प्रस्तुत किये गये हैं, जिनमें सर्वप्रथम शैव सिद्धान्त का उदाहरण—

"घोरघोरतरातीतब्रह्मविद्याकलातिगः।
परापरपदव्यापी पायाद्वः परमेश्वरः ॥"

"घोर और घोरतर से भी अतीत जो ब्रह्मविद्या, उसकी कला से भी पर, तथा पर एवं अपर (बड़े-छोटे) सभी स्थानों में व्याप्त परमेश्वर (शिव) आपकी रक्षा करें।"[1]

पाञ्चरात्रः—

"नाद्यन्तवन्तः कवयः पुराणाः सूक्ष्मा बृहन्तोऽप्यनुशासितारः।
सर्वज्वरान् घ्नन्तु ममानिरुद्धप्रद्युम्नसङ्कर्षणवासुदेवाः ॥"

पाञ्चरात्र (वैष्णव) सिद्धान्त का उदाहरण—

"आदि-अन्त से रहित, कवि, प्राचीन, महान् होते हुए भी सूक्ष्म और समस्त जगत् का शासन करनेवाले अनिरुद्ध, प्रद्युम्न, संकर्षण और वासुदेव हमारे सभी प्रकार के ज्वरों (संताप) को दूर करें।"[2]

बौद्धसिद्धान्तीयः—

"कलिकलुषकृतानि यानि लोके मयि निपतन्तु विमुच्यतां स लोकः।
मम हि सुचरितेन सर्वसत्त्वाः परमसुखेन सुखावनीं प्रयान्तु ॥"

---

१. शैवसिद्धान्त में क्रमशः ये छह स्तर माने गये हैं—घोर, घोरतर, ब्रह्म, विद्या, कला और परापर। समय नाम धार्मिक सिद्धान्त का है।

२. पञ्चरात्र-सिद्धान्त वैष्णव-सम्प्रदाय का है। ब्रह्मपुराण में लिखा है कि रात्र शब्द का अर्थ ज्ञान है। वह पाँच प्रकार का है, इसलिए इसका नाम पंचरात्र-सिद्धान्त है। इसके मुख्य आचार्य नारद मुनि माने जाते हैं। कहा जाता है कि इसका उपदेश सात ऋषियों ने किया है अतः यह सात प्रकार का है। इसमें चार व्यूह हैं—अनिरुद्ध, प्रद्युम्न, सङ्कर्षण और वासुदेव। ज्वर शब्द का तात्पर्य मानसिक और शारीरिक सन्ताप से है।

करुणाप्रधान बौद्ध सिद्धान्त का उदाहरण—

संसार में प्राणियों के पापों से उत्पन्न जितने भी दुःख या कष्ट हैं, वे सब मुझे प्राप्त हों। प्राणिमात्र उन सब कष्टों से मुक्त हों। मेरे जो भी पुण्यकर्म हैं, उनसे प्राणियों को सुख प्राप्त हो और वे परम सुख से सुखधाम में निवास करें।

एवं सिद्धान्तान्तरेष्वपि।

इसी प्रकार अन्यान्य सिद्धान्तों का अर्थाहरण भी करना चाहिए।

राजसिद्धान्तत्रय्यामर्थशास्त्रीयः—

"शमव्यायामाभ्यां प्रतिविहिततन्त्रस्य नृपतेः
परं प्रत्यावापः फलति कृतसेकस्तरुरिव।
बहुव्याजं राज्यं न सुकरमराजप्रणिधिभि-
र्दुराराधा लक्ष्मीरनवहितचित्तं छलयति॥"

तीन प्रकार के राजसिद्धान्तों में अर्थशास्त्रीय विषय का कवित्व में वर्णन—

"जिस प्रकार पहले जल-सिंचन द्वारा पालित वृक्ष कुछ समय के पश्चात् फल उत्पन्न करता या प्रदान करता है, उसी प्रकार शान्ति और श्रम द्वारा व्यवस्थापित राज्य, राजा को फल-शक्ति प्रदान करता है। राज्य अनेक प्रकार के छलों से पूर्ण होते हैं। बिना गुप्तचरों के उनका सुसंचालन नहीं हो सकता। क्योंकि, लक्ष्मी को वश में करना कठिन कार्य है। वह असावधान और अव्यवस्थितचित्त व्यक्ति को धोखा देती है। इस प्रकार स्वराष्ट्र-चिन्ता से निश्चिन्त होकर परराष्ट्र-चिन्ता करनी चाहिए।"[1]

नाट्यशास्त्रीयः—

"एवं धारय देवि बाहुलतिकामेवं कुरुष्वाङ्गकं
मात्युच्चैर्नम कुञ्चयाग्रचरणं मां पश्य तावत्स्थितं।
देवीं नर्त्तयतः स्ववक्त्रमुरजेनाम्भोधरध्वानिना
शम्भोर्वः परिपान्तु लम्बितलयच्छेदाहतास्तालिकाः॥"

नाट्यशास्त्रीय विषय का कवित्व में वर्णन—

"देवी, हाथों को ऐसे रखो, कोमल अंग को इस प्रकार करो, बहुत अधिक मत झुको, पैर की अँगुलियों को समेट लो, मुझे देखो - इस प्रकार मेघ के समान अपने मुख-रूपी मृदंग-ध्वनि से पार्वती को नृत्य की शिक्षा देते हुए शिवजी की लंबित लयों के विच्छेद पर दिये गये ताल आपकी रक्षा करें।

---

१. उक्त श्लोक कौटिल्रीय अर्थशास्त्र के निम्नलिखित सूत्रों के आधार पर है—'शमव्यायामौ योगक्षेमयोर्योनिः', 'कर्मारम्भणां योगाराधनो व्यायामः', 'कर्मफलोपभोगानां क्षेमाराधनः शमः', 'शमव्यायामयोर्योनिः षाड्गुण्यम्'।

कामसूत्रीयः—

"नाश्चर्यं त्वयि यल्लक्ष्मीः क्षिप्त्वाधोक्षजमागता।
असौ मन्दरतस्त्वं तु प्राप्तः समरतस्तया॥"

कामशास्त्रीय विषय का कवित्व में वर्णन—

(१) "हे राजन्! लक्ष्मी विष्णु को छोड़कर तुम्हारे साथ आ गई, यह आश्चर्य की बात नहीं है; क्योंकि विष्णु ने मन्दराचल द्वारा उसे प्राप्त किया था और तुमने उसे समर (युद्ध) के द्वारा पाया है।"

(२) यहाँ विष्णु के लिए 'मन्दरत' और राजा के लिए 'समरत' शब्द श्लेष से कहे गये हैं। एक ओर पंचमी विभक्ति से 'तसिल्' प्रत्यय करने से 'मन्दर से, और 'समर से' यह अर्थ होता है दूसरी ओर 'मन्द-रतः' और 'सम-रतः' बहुव्रीहि समास करने पर प्रथमा विभक्ति का अर्थ होता है—मन्द-शिथिल रति करनेवाला और सम, अर्थात् समान रति करनेवाला। भावार्थ यह हुआ कि हे राजन्! विष्णु पुराण-पुरुष होने कारण मन्द-रत, अर्थात् रतिक्रिया में शिथिल थे और तुम युवा और बली होने के कारण सम-रत, अर्थात् समान रति करनेवाले थे। अतः लक्ष्मी विष्णु को छोड़कर तुमारे पास आ गई, यह आश्चर्य की बात नहीं है। स्त्रियों का स्वभाव ऐसा ही है।

(३) इस रचना में 'स्त्री मन्द रतिवाले वृद्ध पुरुष को छोड़ देती है और समान रतिवाले युवा पुरुष को चाहती है'—इस कामशास्त्रीय रहस्य का श्लेषपूर्ण और आकर्षक कवित्व में वर्णन किया गया है।[1] रहस्यवस्तु को श्लेष के द्वारा सूचित करना कविधर्म है।

लौकिकस्तु द्विधा प्राकृतो व्युत्पन्नश्च। तयोः प्रथमः—

लौकिक अर्थ दो प्रकार के होते हैं—प्राकृत और व्युत्पन्न। प्राकृत, अर्थात् स्वाभाविक अर्थ का उदाहरण—

"स्फुटितपिठरीबन्धश्लाघ्यो विपक्षगृहेष्यभूत्
प्रियतम ययोः स्नेहग्रन्थिस्तथा प्रथमं स नौ।
जनवदधुना सन्नन्यावां वसाव इहैव तौ
धिगपरिचितं प्रेम स्त्रीणां चिराय च जीवितम्॥"

नायिका, विवाह के पूर्व समय के प्रणय का स्मरण करती हुई स्वामी से कहती है कि प्रियतम, पहले (विवाह के पूर्व) भिन्न-भिन्न घरों में रहते हुए भी हम दोनों की प्रणय-ग्रन्थि, फूटे हुए घड़े के दो कपालों (हिस्सों) के समान जुड़ी हुई कैसी सुन्दर लगती थी; परन्तु अब वे ही हम दोनों एक घर में रहते हुए भी साधारण मनुष्यों का-सा जीवन व्यतीत कर रहे हैं। स्त्रियों के अपरिचित प्रेम और चिरकालीन जीवन को धिक्कार है।

---

१. दे० वात्स्यायन: कामसूत्र, २-१-३-६-१३।

यहाँ गृहस्थ-जीवन की प्राकृतिक स्थिति का वर्णन है। इसी प्रकार सामयिक स्थिति का उदाहरण—

यथा वा—

"इक्षुदण्डस्य मण्डस्य दध्नः पिष्टकृतस्य च।
वाराहस्य च मांसस्य सेप गच्छति फाल्गुनः ॥"

"ईख, मण्ड (भात का माँड़), दही, उरद की पीठी के सामान, (बड़ी, बड़ा, कचौड़ी आदि) और जंगली सूअर का मांस—इन वस्तुओं के सेवन करने के योग्य यह फागुन का महीना बीता जा रहा है।"

यहाँ वसन्त में अयोग्य, केवल हेमन्त और शिशिर में सेवन-योग्य प्राकृतिक भोज्य पदार्थों का वर्णन किया गया है।

द्वितीयो द्विधा समस्तजनजन्यः कतिपयजनजन्यश्च। तयोः प्रथमोऽनेकधा देशानां बहुत्वात्।

व्युत्पन्न शब्द का अर्थ है—व्युत्पत्ति, अर्थात् प्रतिभा से उत्पन्न अर्थ। वह दो प्रकार का होता है। एक तो समस्त-जन-जन्य, अर्थात् किसी देशनिवासी समस्त पुरुषों का साधारण व्यवहार और दूसरा कुछ पुरुषों की प्रतिभा से निष्पन्न तात्कालिक व्यवहार। समस्त-जन-जन्य अर्थ देशों की अनेकता से अनेक प्रकार का होता है। अर्थात्, भिन्न-भिन्न देशों के लौकिक साधारण व्यवहार भिन्न-भिन्न होते हैं। उनमें दक्षिण देश का उदाहरण—

तत्र दाक्षिणात्यः—

"पिबन्त्यास्वाद्य मरिचं ताम्बूलविशदैर्मुखैः।
प्रियाधरावदंशानि मधूनि द्रमिलाङ्गनाः ॥"

'द्रविड देश की महिलाएँ, अधिक पान चबाने से विरस मुखों द्वारा काली मिर्च के दाने चबाकर प्रियजनों के अधरों से उच्छिष्ट मद्य का पान करती हैं।'

अधिक पान खाने से मुख का स्वाद विरस हो जाने के कारण मद्य का स्वाद ठीक-ठीक नहीं प्रतीत होगा। इसलिए द्रविड़ देश की स्त्रियाँ मद्यपान के पूर्व काली मिर्चों को चबाकर मुख का स्वाद चरपरा कर लेती हैं। यह द्रविड-देश-जन्य लौकिक अर्थ है।

यथा वा—

"विरम मदन कस्त्वं चैत्र का शक्तिरिन्दो-
रिह हि कुसुमबाणाः कुण्ठिताग्राः स्खलन्ति।
हृदयभुव इमास्ताः कुन्तलप्रेयसीनां
प्रहतिकिणकठोरग्रन्थयो वज्रसाराः ॥"

दूसरा उदाहरण—

"कुन्तल देश की इन रमणियों के हृदयों में काम-बाणों के निरन्तर आघात सहने के कारण गाठें पड़ गई हैं और ये वज्र के समान कठोर हो गई हैं; अतः हे कामदेव, तुम बस करो, अर्थात् इनपर बाण मारने का निष्फल प्रयास न करो। हे चैत्र मास, तुम कौन-सी वस्तु हो? अर्थात्, तुम्हारा कुछ भी प्रभाव नहीं है और चन्द्रमा की किरणों की तो शक्ति ही क्या है, जो इनको विचलित कर सकें। इनपर फेंके गये नुकीले पुष्पबाण कुण्ठित हो जाते हैं और वे लक्ष्यच्युत हो गिर जाते हैं।"

यहाँ कुन्तल-देश की रमणियों पर काम, वसन्त, चन्द्रिका आदि उद्दीपन विभावों का कुछ भी प्रभाव न होने का वर्णन किया गया है। यह भी दक्षिणदेश-जन-जन्य साधारण लौकिक अर्थ है।

उदीच्यः—

"नेपाल्यो वल्लभैः सार्द्धमार्द्रैणमदमण्डनाः।
ग्रन्थिपर्णकपालीषु नयन्ति ग्रीष्मयामिनीः॥"

उत्तरदेशीय नेपाल की स्त्रियों का ग्रीष्मकालीन लोकव्यवहार—

"नेपाल देश की ललनाएँ, कस्तूरी का आर्द्र (ताजा) लेप करके ग्रन्थिपर्ण (कुकरौंधा) पौधों की झाड़ियों में प्रियतमों के साथ ग्रीष्मकालीन रातें व्यतीत करती हैं।

इसी प्रकार विभिन्न देशों के जन-साधारण का व्यवहार जानना और वर्णन करना चाहिए।

द्वितीयः—

"मिथ्यामीलदरालपक्ष्मणि वलत्यन्तः कुरङ्गीदृशो
दीर्घापाङ्गसरित्तरङ्गतरले तल्पोन्मुखं चक्षुषि।
पत्युः केलिमतः कथां विरमयन्नन्योन्यकण्डूयनात्
कोऽयं व्याहरतीत्युदीर्य निरगात्सव्याजमालीजनः॥"

कतिपयजन-जन्य अर्थ का उदाहरण—

"किसी रमणी के शयनागार में रात के समय सखियाँ बातें कर रही थीं, जब उन्होंने देखा कि मृगनयनी गृहस्वामिनी की लम्बी कोरोंवाली और नदी की तरंग के समान चंचल आँखें घनी पलकों के झूठे निमीलन द्वारा निद्रा का बहाना करके बार-बार पलंग की ओर जा रही हैं, तब सखियों ने अपने पतियों की केलिक्रीडा-वार्त्ता को समाप्त कर परस्पर एक-दूसरे को चिकोटी काटकर इंगित करते हुए 'देखो, कोई बुला रहा है'—ऐसा कहकर ब्याज से अपने घर का रास्ता लिया।"

यहाँ कतिपय व्यक्तियों द्वारा सामयिक लौकिक अर्थ का उद्भावन किया गया है।

कविमनीषानिर्मितं कथातन्त्रमर्थमात्रं वा विरचना। तत्राद्या—

कवि के अपने इच्छानुसार निर्मित कथा अथवा स्वतन्त्र वर्णन का नाम विरचना है। कथा-विरचना का उदाहरण—

"अस्ति चित्रशिखो नामखङ्गविद्याधराधिपः।
दक्षिणे मलयोत्सङ्गे रत्नवत्याः पुरः पतिः॥
तस्य रत्नाकरसुता श्रियो देव्याः सहोदरी।
स्वयंवरविधावासीत्कलत्रं चित्रसुन्दरी॥"

"दक्षिण दिशा के मलय-पर्वत की उपत्यका में बसी हुई रत्नवती नगरी का स्वामी चित्रशिख प्रसिद्ध खङ्ग-विद्याधरों का राजा था। उसकी चित्रसुन्दरी नाम की पत्नी थी, जो लक्ष्मी की सहोदरा तथा रत्नाकर समुद्र की कन्या थी। उसका परिणय चित्रशिख ने स्वयंवर में किया था।"

यह रचना कथा के रूप में कवि की स्वतन्त्र एवं निजी उपज है।

द्वितीया—

"ज्योत्स्नां लिम्पति चन्दनेन स पुमान्सिञ्चत्यसौ मालती-
मालां गन्धजलैर्मधूनि कुरुते स्वादून्यसौ फाणितैः।
यस्तस्य प्रथितान्गुणान्प्रथयति श्रीवीरचूडामणेः
तारत्वं स च शाणया मृगयते मुक्ताफलानामपि॥"

दूसरा उदाहरण—

"जो व्यक्ति उस वीरचूडामणि नामक राजा के प्रसिद्ध गुणों को भी प्रसिद्ध करने का यत्न करता है, वह पुरुष मानों चाँदनी पर चन्दन का लेप चढ़ाता है, मालती की माला को सुगन्धित जल से सींचता है; महुए के मधुर पुष्पों को गुड़ की भावना देकर मीठा करता है और मोतियों को शान पर चढ़ाकर चमकीला या शुद्ध (छटायुक्त) करने की चेष्टा करता है।"

अत्राहुः—

"नीचैर्नार्थकथासर्गे यस्य न प्रतिभाक्षयः।
स कविग्रामणीरत्र शेषास्तस्य कुटुम्बिनः॥"

प्राचीन विद्वानों ने कहा है कि नवीन अर्थवाली कथा रचना करने में जिस कवि की प्रतिभा कुण्ठित नहीं होती, वह कवियों का मुखिया है और शेष सभी कवि उसके कुटुम्बी हैं।

अभिहितेभ्यो यदन्यत्तत्प्रकीर्णकम्। तत्र हस्तिशिक्षीयः—

उक्त अर्थस्रोतों के अतिरिक्त कवियों के लिए अन्यान्य अर्थस्रोत भी हैं, जो प्रकीर्णक (फुटकर) कहे जाते हैं। उनमें हस्तिशिक्षा-सम्बन्धी अर्थ-रचना का उदाहरण—

"मेघानां क्षणहासतामुपगतो हारैः प्रकीर्णो दिशा-
माकाशोल्लसितामितामरवधूपीनस्तनास्फालकः।
क्षुण्णश्चन्द्र इवोल्वणो मदवशादैरावणप्रेरितः
पायाद्वः परिपाकपाण्डुलवलीश्रीतस्करः शीकरः ॥"

"मेघों के लिए क्षण-भर हास का कारण बने हुए, दिशाओं के बिखरे हुए मुक्ता-हारों के समान, आकाश में विचरण करती हुई देवाङ्गनाओं के उभरे हुए पीन स्तन-मण्डलों पर टकराते हुए चन्द्रमा के पिसे हुए कणों के समान चमकते हुए और पककर सफेद हुई लवली की शोभा को चुरानेवाले मदोन्मत्त ऐरावत हाथी की सूँड़ द्वारा बिखेरे गये जलकण, आपलोगों के लिए आनन्ददायक हों।"

रत्नपरीक्षीयः—

"द्वौ वज्रवर्णौ जगतीपतीनां
सद्भिः प्रदिष्टौ न तु सार्वजन्यौ।
यः स्याज्जपाविद्रुमभङ्गशोणो
यो वा हरिद्रारससंनिकाशः ॥"

रत्नपरीक्षा-सम्बन्धी उदाहरण—

"रत्न-परीक्षकों ने राजा के लिए हीरे के दो रंग उपयुक्त बताये हैं, जो सार्वजनिक नहीं हैं। एक तो सद्यः खिले हुए जपाकुसुम के कुड्मल के समान रक्त-वर्ण का और दूसरा हल्दी के रस के समान पीत-वर्ण का।"

राजाओं के लिए लाल और पीले दो ही रंग के हीरे उपयुक्त होते हैं—यह रत्न-परीक्षकों का मत है।

धनुर्वेदीयः—

"स दक्षिणापाङ्गनिविष्टमुष्टिं
नतांसमाकुञ्चितसव्यपादं।
ददर्श चक्रीकृतचारुचापं
प्रहर्त्तुमभ्युद्यतमात्मयोनिम् ॥

धनुर्वेद सम्बन्धी उदाहरण—

"इन्द्र ने दाहिने नेत्र-प्रान्त के समीप मुट्ठी बाँधे हुए, कन्धों को झुकाये हुए, दाहिने पैर को समेटकर सुन्दर धनुष को ताने हुए और शिवजी पर प्रहार करने के लिए उद्यत कामदेव को देखा।"[1]

---

१. दे० कालिदास : कुमारसम्भव, सर्ग ३, श्लोक ६९।

कुमारसंभव के तृतीय सर्ग में महाकवि कालिदास ने धनुर्वेद के अनुसार आलीढ नामक प्रकार (पैंतरे) का स्वरूप-वर्णन किया है।

योगशास्त्रीयः—

"यः सर्वेषां हृदयकमले प्राणिनामेकहंस-
स्त्वं जागर्षि स्वपिषि च मुहुर्बुध्यसे नापि बुद्धः।
तं त्वाराध्य प्रविततधियो बन्धभेदं विधाय
ध्वस्तातङ्का विमलमहसस्ते भवन्तो भवन्ति॥"

योगशास्त्रीय उदाहरण—

"भगवन्! तुम समस्त जीवों के हृदय-कमल में निवास करनेवाले एक हंस हो। तुम सदा जागते हो, सोते हो और उस हृदय में तुम्हारी बार-बार प्रतीति होती रहती है; फिर भी तुम जाने नहीं जाते। विशाल बुद्धिवाले दूरदर्शी विद्वान् इस तरह से तुम्हारी आराधना करके और अज्ञान-जनित बन्धन को तोड़कर निर्भय चित्त से निर्मल ज्ञान की प्राप्ति करते हैं।"

यहाँ योगशास्त्र की दृष्टि से आत्मा का स्वरूप-वर्णन और निर्मल ज्ञान-प्राप्ति का साधन बताया गया है।

एवं प्रकीर्णकान्तरमपि।

इसी प्रकार अन्यान्य अनेक प्रकीर्ण (फुटकर) विषयों का ज्ञानपूर्वक काव्य-रचना में उपयोग किया जा सकता है।

अबतक काव्यार्थ के द्वादश उत्पत्तिस्थान (स्रोत) बताये गये हैं। अब यायावरीय के मतानुसार अन्य चार स्रोत और कहे जाते हैं। इनमें प्रथम उचित संयोग है। उचित-संयोग का अर्थ है—जिसमें काव्य के वर्णनीय पदार्थों का उपमान, उपमेयभाव आदि संयोग या संबंध समुचित प्रतीत हो। जैसे—

उचितसंयोगः—

"पाण्ड्योऽयमंसार्पितलम्बहारः
क्लृप्ताङ्गरागो हरिचन्दनेन।
आभाति बालातपरक्तसानुः
सनिर्झरोद्गार इवाद्रिराजः॥"

इन्दुमती-स्वयंवर के प्रसंग में दक्षिण दिशा के पाण्ड्य राजा का वर्णन—

"हे इन्दुमती, दोनों कन्धों से छाती की ओर लटकते हुए शुभ्र मोतियों के लम्बे हार को धारण करनेवाला और कुंकुम-राग-मिश्रित चन्दन को शरीर में लपेटे हुए यह पाण्ड्य देश का राजा, प्रातःकालीन सूर्य की किरणों से रञ्जित शिखरवाले और बहते हुए शुभ्र झरनों से शोभित हिमालय की भाँति शोभायमान हो रहा है।"[१]

१ दे० कालिदास : रघुवंश, सर्ग ६।

यहाँ पाण्ड्य-नरेश का हिमालय के साथ उचित विशेषणों के कारण सादृश्य समुचित जंचता है।

योक्तृसंयोगः—

"कुर्वद्भिः सुरदन्तिनो मधुलिहामस्वादु दानोदकं
तन्वानैर्नमुचिद्रुहो भगवतश्चक्षुः सहस्रव्यथां।
मज्जन्स्वर्गतरङ्गिणीजलभरे पङ्कीकृते पांसुभि-
र्यद्यात्राव्यसनं निनिन्द विमनाः स्वर्लोकनारीजनः॥"

दूसरे योक्तृ-संयोग का अर्थ है जहाँ उत्तरोत्तर सम्बन्धकारी संयोग प्रतीत हो। जैसे—

"स्वर्ग की देव-ललनाएँ दुःखित हृदय से जिस राजा के विजय-यात्रा-व्यसन की निन्दा करती हैं; क्योंकि उस राजा की विजय-यात्रा में असंख्य सैनिकों, रथों, हाथियों, घोड़ों आदि द्वारा उड़ाई गई धूलि, स्वर्ग में पहुँचकर दिग्गजों की कनपट्टियों पर जाकर जम जाती हैं, जिससे उनकी कनपट्टियों से बहता हुआ मदजल स्वर्गीय भ्रमरों के लिए कड़वा हो जाता है। दूसरे, वह धूलि देवराज इन्द्र की हजार आँखों में पड़कर उन्हें व्याकुल कर देती है और अन्त में वह एकत्र धूलि, स्वर्ग-गंगा के जल में गिरकर उसे भी पंकिल कर देती है।"

यहाँ राजा की विजय-यात्रा से धूलि का उड़ना, उससे सुर-सरिता के जल का पंकिल होना, उससे स्नानार्थिनी सुरांगनाओं की विमनस्कता और उससे विजय-यात्रा की निन्दा —इस प्रकार उत्तरोत्तर सम्बन्धकारी संयोग है।

उत्पाद्यसंयोगः—

"उभौ यदि व्योम्नि पृथक्प्रवाहा-
वाकाशगङ्गापयसः पतेताम्।
तेनोपमीयेत तमालनील-
मामुक्तमुक्तालतमस्य वक्षः॥"

तीसरे, उत्पाद्य-संयोग का अर्थ यह है कि जहाँ उपमानोपमेय-भाव आदि सम्बन्ध संभाव्य हों। जैसे—

"यदि आकाश से स्वर्ग-गंगा की दो धाराएँ पृथक्-पृथक् रूप से नीचे की ओर गिरें, तो श्रीकृष्ण के नील वक्षःस्थल पर दोनों ओर लटकती हुई मुक्ताहार की लड़ियों की उपमा दी जा सकती है।"[1]

यहाँ आकाश और वक्षःस्थल का तथा मुक्तालता और गंगा-प्रवाह का उपमानोपमेय-भाव-सम्बन्ध सम्भावित है, अतः संयोग उत्पाद्य है।

---

१. दे० माघ: शिशुपालवध, सर्ग ३, श्लोक ८।

चौथे, संयोग-विकार का अर्थ है—संयोग से या सम्बन्ध से विकार उत्पन्न होना।

उदाहरण –

संयोगविकारः—

"गुणानुरागमिश्रेण यशसा तव सर्पता।
दिग्वधूनां मुखे जातमकस्मादर्द्धकुङ्कुमम्॥"

"गुणों के अनुराग से मिश्रित एवं चारों ओर फैलते हुए तुम्हारे यश से दिशा-रूपी वधुओं के भाल पर अकस्मात् आधा कुंकुम का टीका लग गया।"

अर्थात्, गुण लाल थे और यश श्वेत था; अतः दोनों के मिश्रण से गुणवाला आधा लाल अंश तो मस्तक पर चमकता है और यशवाला आधा श्वेत भाग मस्तक की श्वेतता में मिलकर नहीं चमक रहा है। यहाँ गुण और यश दोनों के संयोग से अर्ध-कुंकुम-रूप विकार उत्पन्न हो गया, अर्थात् पूरा टीका न लग सका।

यथा वा—

"उन्माद्यत्यम्बुराशिर्विदलति कुमुदं सङ्कुचन्त्यम्बुजानि
स्यन्दन्ते चन्द्रकान्ताः पतितसुमनसः सन्ति शेफालिकाश्च।
पीयन्ते चन्द्रिकाम्भः क्रमसरलगलं किञ्च किञ्चिच्चकोरा-
श्चन्द्रे कर्पूरगौरद्युतिभृति नभसो याति चूडामणित्वम्॥"

दूसरा उदाहरण –

"कपूर के समान स्वच्छ (शुभ्र) चन्द्रमा के आकाश-मध्य में चूड़ामणि के समान चमकने पर समुद्र में उन्माद (तूफान) उत्पन्न होता है, कुमुदों में विकास होने लगता है, कमलों में म्लानता (सकुचाहट) उत्पन्न होती है, चन्द्रकान्त मणियाँ पिघलने लगती हैं और शेफालिका-सुमन शाखाओं से गिरने लगते हैं।"

यहाँ चन्द्रोदय के संयोग से समुद्र आदि में उन्माद आदि विकार उत्पन्न होते हैं।

इदं कविभ्यः कथितमर्थोत्पत्तिपरायणम्।
इह प्रगल्भमानस्य न जात्वर्थकदर्थना॥

इति राजशेखरकृतौ काव्यमीमांसायां कविरहस्ये प्रथमेऽधिकरणे अर्थानुशासने षोडश काव्यार्थयोनयः। अष्टमोऽध्यायः॥

इस प्रकार इस अध्याय में कवियों के लिए अर्थोत्पत्ति के स्रोत कहे गये हैं। इस विषय में प्रगल्भता प्राप्त करने पर कवि के लिए अर्थ-दारिद्र्य नहीं रहता।

अष्टम अध्याय समाप्त

नवमोऽध्यायः अर्थव्याप्तिः

नवाँ अध्याय : अर्थव्याप्ति

अष्टम अध्याय में काव्यार्थों के सोलह स्रोत बताये गये हैं। अब इस अध्याय में उनके अवान्तर भेद और उनकी व्यापकता का विवेचन किया जायगा।

'स त्रिधा' इति द्रौहिणिः ; दिव्यो, दिव्यमानुषो, मानुषश्च। 'सप्तधा' इति यायावरीयः ; पातालीयो, मर्त्यपातालीयो, दिव्यपातालीयो, दिव्यमर्त्यपातालीयश्च।

'दिव्य, दिव्य मानुष और मानुष—इस प्रकार अर्थ तीन प्रकार के होते हैं', यह आचार्य द्रौहिणि का मत है। यायावरीय राजशेखर के मत में वह सात प्रकार का है : पूर्वोक्त तीन भेदों के अतिरिक्त चार और हैं—पातालीय, मर्त्य-पातालीय; दिव्य-पातालीय और दिव्य-मर्त्य-पातालीय।

तत्र दिव्यः—

"स्मृत्वा यन्निजवारवासगतया वीणासमं तुम्बुरो-
रुद्गीतं नलकूबरस्य विरहादुत्कश्चुलं रम्भया।
तेनैरावणकर्णचापलमुषा शक्रोऽपि निद्रां जहद्-
भूयः कारित एव हासिनि शचीवक्त्रे दृशां सम्भ्रमम्॥"

इनमें दिव्य अर्थ वह है, जो स्वर्गीय पात्रों तथा वस्तुओं के आश्रय से वर्णित किया जाय। उदाहरण—

अपने वार-भवन (संकेत-स्थान में) बैठी हुई रम्भा ने प्रियतम-प्रणयी नलकूबर (कुबेर-पुत्र) के विरह में रोमांचित होकर तुम्बुरू-गन्धर्व की वीणा के समान स्वर में ऐसा गाना गाया कि उससे ऐरावत हाथी एकाग्रचित्त होकर कानों का हिलाना भूल गया और इन्द्र बार-बार निद्रा त्याग कर इन्द्राणी के हँसते हुए मुख को रम्भा के भ्रम से देखने लगा।

यहाँ सभी स्वर्गीय पात्रों के आधार पर रचना की गई है, अतः यह दिव्य-अर्थ का वर्णन है।

दिव्यमानुषस्तु चतुर्धा। दिव्यस्य मर्त्यागमने, मर्त्यस्य च स्वर्गगमन इत्येको भेदः। दिव्यस्य मर्त्यभावे, मर्त्यस्य च दिव्यभाव इति द्वितीयः। दिव्येतिवृत्तपरिकल्पनया तृतीयः। प्रभावाविर्भूतदिव्यरूपतया चतुर्थः।

दिव्य-मानुष अर्थ चार प्रकार का होता है— १. दिव्य पुरुष के मर्त्यलोक में

आगमन पर और मर्त्य-पुरुष के दिव्यलोक में गमन पर, २. दिव्य पुरुष का जन्म लेकर मर्त्य बन जाने पर और मर्त्य-पुरुष का प्राण त्याग कर दिव्य बन जाने पर, ३. मर्त्य पुरुष की दिव्य-सम्बन्धी कथानक-कल्पना पर और ४. मर्त्य होकर भी अपने प्रभाव से दिव्य विभूति प्रकट करने पर।

तत्र दिव्यस्य मर्त्यागमनम्—

"श्रियः पतिः श्रीमति शासितुं जगज्जगन्निवासो वसुदेवसद्मनि।
वसन्ददर्शावतरन्तमम्बराद्धिरण्यगर्भाङ्गभुवं मुनिं हरिः॥"[1]

इन चार प्रकारों में प्रथम प्रकार—दिव्य का मर्त्यलोक में आगमन का उदाहरण—

"जगत् की शासन-व्यवस्था को व्यवस्थित करने के लिए वसुदेव के श्रीसम्पन्न गृह में रहते हुए जगत् के निवास-स्थान लक्ष्मीपति श्रीकृष्ण ने आकाश-मार्ग से पृथ्वी की ओर उतरते हुए ब्रह्मा के अंग से उत्पन्न (पुत्र) मुनि नारद को देखा।"

यहाँ दिव्य पुरुष नारद का मर्त्यलोक में आगमन कहा गया है।

मर्त्यस्य स्वर्गगमनम्—

"पाण्डोर्नन्दन नन्दनं वनमिदं सङ्कल्पजैः सीधुभिः
क्लृप्तापानककेलि कल्पतरुषु द्वन्द्वैः सुधालेहिनाम्।
अप्यत्रेन्दुशिलालवालवलयं सन्तानकानां तले
ज्योत्स्नास्रं गलदच्छनिर्झरजलैर्यत्नं विना पूर्यते॥"

मर्त्य का स्वर्गगमन-सम्बन्धी उदाहरण —

"हे पाण्डुपुत्र अर्जुन! यह नन्दन वन नामक स्वर्गीय उद्यान है। इस उद्यान में देवताओं के द्वन्द्व (स्त्री-पुरुष) कल्पवृक्षों से इच्छा द्वारा प्राप्त मधु का पान करके विविध क्रीडाएँ करते हैं और यहाँ सन्तानक नाम के कल्पवृक्षों की चन्द्रकान्त-निर्मित क्यारियाँ, अमल-धवल चन्द्रिका के संसर्ग से पिघलनेवाले जल से सदा भरी रहती हैं। अर्थात्, क्यारियों के चारों ओर चन्द्रकान्त-मणियों का घेरा है। चन्द्रिका के सम्पर्क से मणियाँ स्वयं पिघलकर अपने जल से क्यारियों को भर देती हैं। अतिरिक्त जल भरने की आवश्यकता नहीं रहती।"

यहाँ मर्त्यलोकवासी अर्जुन के स्वर्ग में अस्त्र-प्राप्ति के लिए जाने पर देवदूत द्वारा नन्दन वन का परिचय दिया गया है। यह मर्त्य के स्वर्ग-गमन का उदाहरण है।

दिव्यस्य मर्त्यभावः—

"इति विकसति तस्मिन्नन्ववाये यदूनां
समजनि वसुदेवो देवकी यत्कलत्रम्।

१. दे० माघ: शिशुपालवध, सर्ग १, श्लोक १।

किमपरमथ तस्मात्षोडशस्त्रीसहस्र-
प्रणिहितपरिरम्भः पद्मनाभो बभूव ॥"

दिव्य के मर्त्यभाव का उदाहरण—

"इस प्रकार यदुवंश के विस्तृत होने पर उस वंश में वसुदेव उत्पन्न हुए, जिनकी धर्मपत्नी देवकी थी। इस वसुदेव और देवकी के (सहवास) से सोलह सहस्र स्त्रियों के साथ रमण करनेवाले पद्मनाभ (विष्णु) आविर्भूत हुए।"

यहाँ दिव्य विष्णु भगवान् ने जन्म लेकर मर्त्यभाव को प्राप्त किया।

मर्त्यस्य दिव्यभावः—

"आकाशयानतटकोटिकृतैकपादा-
स्तद्धेमदण्डयुगलान्यवलम्ब्य हस्तैः।
कौतूहलात्तव तरङ्गविघट्टितानि
पश्यन्ति देवि मनुजाः स्वकलेवराणि ॥"

मर्त्य के दिव्य-भाव का उदाहरण—

गंगा की स्तुति करता हुआ कवि कहता है कि 'हे देवि गंगे! तुम्हारे तीर पर मरे हुए व्यक्ति, दिव्य विमान के स्वर्ण-दंडों को पकड़कर उसकी सीढ़ियों पर चढ़ते हुए तुम्हारी तरंगों में बहते अपने कलेवरों को आश्चर्य के साथ देखते हैं।'

यहाँ मर्त्य को गंगास्नान-जन्य पुण्य से दिव्यता की प्राप्ति हुई है।

दिव्येतिवृत्तपरिकल्पना—

"ज्योत्स्नापूरप्रसरविशदे सैकतेऽस्मिन्सरय्वा
वादद्यूतं चिरतरमभूत्सिद्धयूनोः कयोश्चित्।
एको ब्रूते प्रथमनिहतं कैटभं कंसमन्यः
स त्वं तत्त्वं कथय भवता को हतस्तत्र पूर्वम् ॥"

दिव्य इतिहास की परिकल्पना का उदाहरण—

विष्णु-रूप राजा की प्रशंसा करते हुए कवि कहता है—"देव! चाँदनी से चमकते हुए सरयू नदी के वालुकामय पुलिन पर किन्हीं दो सिद्ध युवकों का चिरकाल तक वाद-विवाद होता रहा। उनमें पहला कहता था कि विष्णु ने पहले कैटभ को मारा, दूसरा कहता था कि नहीं, पहले कंस को मारा। अतः, अब आप वास्तिक भेद बताइए कि आपने पहले किसे मारा था—कैटभ को या कंस को!"

यहाँ इस कथा की कल्पना करके मर्त्य राजा का दिव्य-रूप में वर्णन किया गया है।

प्रभावाविर्भूतदिव्यभाव :—

"मा गाः पातालमुर्वि स्फुरसि किमपरं पाट्यमानः कुदैत्य
त्रैलोक्यं पादपीतप्रथिम नहि बले पूरयस्यूनमङ्घ्रेः ।
इत्युत्स्वप्नायमाने भुवनभृति शिशावङ्कसुप्ते यशोदा
पायाच्चक्राङ्कपादप्रणति पुलकितस्मेरगण्डस्थला वः ॥"

प्रभावाविर्भूत दिव्यभाव का उदाहरण —

"पृथ्वि ! रसातल को न जाओ । दुष्ट दैत्य ! तेरा पेट फाड़ दिया, अब भी तू फड़क रहा है । हे बली, तीनों लोक की विशालता एक चरण से अधिक नहीं हो सकी । अतः, चरण के लिए न्यून होते हुए भाग को पूरा नहीं कर रहे हो—स्वप्न में इस प्रकार बोलते हुए और गोद में सोए हुए त्रैलोक्यस्वामी शिशुरूप भगवान् के चक्रचिह्नाङ्कित चरणों को प्रणाम करके पुलकित और मुस्कराती हुई माता यशोदा आपकी रक्षा करें ।"

यहाँ यशोदा की गोद में सोए हुए शिशुरूप भगवान् ने स्वप्न में वराह, नृसिंह और वामन अवतारों का स्मरण करते हुए दिव्यता प्रकट की है ।

मर्त्य :—

"वधू श्वश्रूस्थाने व्यवहरति पुत्रः पितृपदे
पदे रिक्ते रिक्ते विनिहितपदार्थान्तरमिति ।
नदीस्रोतोन्यायादकलितविवेकक्रमघनं
न च प्रत्यावृत्तिः प्रवहति जगत्पूर्णमथ च ॥"

मर्त्य का उदाहरण —

"यह विवेक-विकल संसार का प्रवाह, नदी-स्रोतोन्याय से निरन्तर बहता जा रहा है और जो प्रवाह निकल जाता है, उसका पुनः प्रत्यावर्त्तन (लौटना) नहीं होता । तो भी संसार उसी तरह पूर्ण है । आज जो बहू कही जाती है, कुछ दिनों के उपरान्त उसे सास कहा जाता है । आज जो पुत्र कहा जाता है, कुछ दिनों के पश्चात् वह पिता कहलाने लगता है । इस प्रकार, एक के पश्चात् दूसरा रिक्त स्थान को ग्रहण करता चला जाता है । नदी-प्रवाहन्याय से जो जाता है, वह लौटता नहीं; किन्तु संसार उसी प्रकार पूर्ण रहता है ।"

अर्थात्, जिस प्रकार नदी में, एक के बाद दूसरा और उसके बाद तीसरा, इस प्रकार अनन्त प्रवाहों से निरन्तर रिक्त स्थान की पूर्त्ति होती रहती है, उसी प्रकार संसार का प्रवाह भी निरन्तर चलता रहता है । जैसे—पुत्र, पिता बनकर उस स्थान की पूर्त्ति करता रहता है, फिर उसका पुत्र उसके स्थान की । इसी प्रकार संसार भी रिक्त स्थानों की पूर्त्ति करता रहता है । जो चला जाता है, वह लौटता नहीं; लेकिन संसार-चक्र उसी प्रकार पूर्णरूप में विद्यमान है । उसमें किसी प्रकार कमी नहीं होती ।

यह मर्त्यलोक के प्राणियों का व्यवहार बताया गया है ।

पातालीयः—

"कर्कोटः कोटिकृत्वः प्रणमति पुरतस्तक्षके देहि चक्षुः
सज्जः सेवाञ्जलिस्ते कपिलकुलिकयोः स्तौति च स्वस्तिकस्त्वां।
पद्मः सद्मैष भक्तेरवलगति पुरः कम्बलोऽयं बलोऽयं
सोत्सर्पः सर्पराजो व्रजतु निजगृहं प्रेष्यतां शङ्खपालः ॥"

पातालीय का उदाहरण—

हे भगवन्! कर्कोटक नाग करोड़ों बार प्रणाम करता है, आगे खड़े हुए तक्षक पर कृपादृष्टि कीजिए, कपिल और कुलिक सेवाञ्जलि करते हुए खड़े हैं स्वस्तिक नाग आपकी स्तुति कर रहा है, यह पद्म नामक नाग आपकी सेवाओं का स्थान है, ये बलवान् और कम्बल नाग आपके आगे लोट रहे हैं, सर्पराज वासुकि अपने घर को जाय और शंखपाल को भी अपने घर जाने की आज्ञा दीजिए।

इसमें वर्णित सभी पात्र पाताल-निवासी हैं। अतः, यह पातालीय अर्थ-निबन्धन है।

मर्त्यपातालीयः—

"आर्द्रावले व्रज न वेत्स्यपकर्ण कर्णा
द्विः सन्दधाति न शरं हरशिष्यशिष्यः।
तत्साम्प्रतं समिति पश्य कुतूहलेन
मर्त्यैः शरैरपि किरीटिकिरीटमाथम् ॥"

मर्त्य-पातालीय का उदाहरण—

महाभारत में रथ को खींचते हुए सर्पों के प्रति कर्ण की उक्ति—"हे आर्द्रावले, जाओ, हे अपकर्ण! मुझ कर्ण को नहीं जानते? मैं महादेव के शिष्य परशुराम का शिष्य हूँ, इसलिए दूसरी बार बाण नहीं चढ़ाता। एक बार चढ़ाये हुए बाण से ही शत्रु का विनाश करता हूँ। तुम इस समय मर्त्य-बाणों से अर्जुन के किरीट का पतन देखो।"

यहाँ कर्ण और सर्प इन दोनों का वर्णन होने से मर्त्य-पातालीय अर्थ है। यहाँ कर्ण मर्त्य और सर्प पातालीय हैं।

इहापि पूर्ववत्समस्तमिश्रभेदानुगमः।

मर्त्य-पातालीय में भी दिव्य-मानुष के समान सभी मिश्रित भेदों का अनुगम कर लेना चाहिए। जैसे – १. मर्त्य के पाताल-गमन करने पर और पातालीय के मर्त्यागमन पर। २. मर्त्य का पातालीय होने पर और पातालीय के मर्त्य होने पर। ३. मर्त्य इतिवृत्त की कल्पना करने पर और ४. पातालीय होने पर भी प्रभाववश मर्त्य-रूप का आविर्भाव होने के कारण। इनके उदाहरण विस्तार-भय से नहीं दिये गये। कवि को दूसरे ग्रन्थों से इन्हें समझना चाहिए।

दिव्यपातालीयः—

"स पातु वो यस्य शिखाश्मकर्णिकं
स्वदेहनालं फणपत्रसञ्चयम् ।
विभाति जिह्वायुगलोलकेसरं
पिनाकिनः कर्णभुजङ्गपङ्कजम् ॥"

दिव्य-पातालीय अर्थ का उदाहरण—

'वे शंकर हमारी रक्षा करें, जिनके कानों में सर्परूपी कमलकर्ण भूषण के समान शोभित होते हैं, सर्पों के मस्तक पर चमकती हुई मणियाँ इन कमलों की कर्णिका (कमल मध्य) के समान हैं, उनका लंबा शरीर कमल-नाल की शोभा को धारण करता है, उनके चौड़े फन कमलपत्रों-से प्रतीत होते हैं और उनकी दोनों जिह्वाएँ कमल-केसर के समान प्रतीत होती हैं।"

यहाँ शंकर दिव्य हैं और सर्प पातालीय। इन दोनों का सम्बन्ध-वर्णन होने के कारण यह दिव्य-पातालीय अर्थ है।

स्वर्गमर्त्यपातालीयः—

"आस्तीकोऽस्ति मुनिः स्म विस्मयकृतः पारीक्षितीयान्मखा-
त्त्राता तक्षकलक्ष्मणः फणभृतां वंशस्य शक्रस्य च ।
उद्वेल्लन्मलयाद्रिचन्दनलतास्वान्दोलनप्रक्रमे
यस्याद्यापि सविभ्रमं फणिवधूवृन्दैर्यशो गीयते ॥"

दिव्य-मर्त्य-पातालीय अर्थ का उदाहरण—

"राजा परीक्षित के पुत्र जनमेजय के यज्ञ से नागराज तक्षक के कुल की और उसके रक्षक इन्द्र की रक्षा करनेवाला आस्तीक नामक मुनि है। आज भी मलयाचल की चंचल चन्दन-लताओं में हिंडोलों पर झूलती हुई नागों की वधुएँ, उस आस्तीक का सविलास यशोगान करती हैं।"

यहाँ इन्द्र दिव्य पात्र है, आस्तीक मर्त्य और सर्पवधुएँ पातालीय हैं। इन तीनों का सम्बन्ध वर्णित होने के कारण यह दिव्य-मर्त्य-पातालीय अर्थ है।

"सोऽयमित्थङ्कारमुल्लिख्योपजीव्यमानो निःसीमार्थसार्थः सम्पद्यते। अस्तु नाम निःसीमार्थसार्थः। किन्तु द्विरूप एवासौ विचारितसुस्थोऽविचारितरमणीयश्च। तयोः पूर्वमाश्रितानि शास्त्राणि तदुत्तरं काव्यानि" इत्यौद्भटाः।

आचार्यों का मत है कि 'इस उपर्युक्त प्रकार से उल्लेख किये गये कवियों की प्रतिभा से सेव्यमान अर्थों की तो सीमा नहीं है। यह अर्थक्रम निःसीम है।' दूसरे आचार्य

अर्थों की निःसीमता को स्वीकार करते हुए कहते हैं कि 'ठीक है। अर्थ-समूह अवश्य निःसीम है; परन्तु उसे केवल दो भागों में ही विभक्त किया जा सकता है। एक विचारित-सुस्थ और दूसरा अविचारित-रमणीय।'

एक अर्थ ऐसा है, जो विचार करने पर स्थिर होता है। अर्थात्, उसपर जितना विचार किया जाय, उतनी ही नवीनता मिलती है और इस अर्थ पर पर्याप्त रूप से तर्क-वितर्क भी किया जा सकता है। ऐसा अर्थ विचारित-सुस्थ है, जो दर्शन आदि शास्त्रों में वर्णित है। दूसरा, अविचारित-रमणीय अर्थ काव्यों में पाया जाता है, जिसे आपात-रमणीय भी कहते हैं। काव्यों में वर्णित अर्थ सुनने और जानने पर एक वार चमत्कार उत्पन्न कर देता है; किन्तु यदि उसपर चोदक्षेम या तर्क-वितर्क किया जाय, तो उसके भीतर कुछ तत्त्व नहीं मिलता।

अतः, शास्त्रों में वर्णित अर्थ विचारित-सुस्थ है और काव्यों में वर्णित अविचारित-रमणीय या आपात-रमणीय। यह उद्भट-मतानुयायी आचार्यों का मत है।[1]

यथा—

"अपां लङ्घयितुं राशिं रुचा पिञ्जरयन्नभः।
खमुत्पपात हनुमान्नीलोत्पलदलद्युतिः॥"

इसका उदाहरण—

"हनुमान् समुद्र का उल्लंघन करने के लिए अपनी कान्ति से आकाश को पीला करते हुए और स्वयं आकाश के नीले रंग से नीलकमल की शोभा को धारण करते हुए आकाश में उड़े।"

यहाँ आकाश का अपना नील गुण त्यागकर हनुमान् के पीत गुण का स्वीकार करना, यह तद्गुण नामक अलंकार है। इस श्लोक का अर्थ सुनने और परस्पर रंग बदलने की कल्पना से आनन्द और आकर्षण अवश्य होता है; परन्तु आकाश वास्तव में नीरूप (रूपरहित) पदार्थ है। न तो उसमें अपना रंग है और न वह दूसरे के रंग का ग्रहण ही कर सकता है। अतः, यह अर्थ विचार करने पर स्थिर नहीं रहता। अतएव, अविचारित-रमणीय है, विचारित-सुस्थ नहीं।

यथा वा—

"त आकाशमसिश्यामसुत्पत्य परमर्षयः।
आसेदुरोषधिप्रस्थं मनसा समरंहसः॥"[2]

इसी प्रकार दूसरा उदाहरण—

वे मन के समान वेगवाले परम ऋषि तलवार के समान श्यामवर्ण आकाश से उड़कर ओषधिप्रस्थ (हिमालय की राजधानी) में पहुँचे।

---

१. उद्भट के काव्यालङ्कार में इस विषय पर विचार किया गया है। उन्होंने इस सम्बन्ध में भामह के दो श्लोक भी उद्धृत किये हैं। राजशेखर ने उसी आधार पर उद्भट का मत उद्धृत किया है।

२. दे० कालिदास : कुमारसम्भव, ५-३६।

यहाँ आकाश का श्यामवर्ण शास्त्रीय दृष्टि से असंगत होने पर भी काव्य-दृष्टि से सुन्दर प्रतीत होता है, जो विचारित-सुस्थ नहीं है। खड्ग का श्यामवर्ण केवल कवि-सम्प्रदाय में वर्णित होता है। वास्तव में वह श्वेत है।

यथा च—

'तदेव वारि सिन्धूनां महत्स्थेमार्चिषामिति' इत्यादि।

इसी प्रकार, 'नदियों का जल ही तेज का महान् स्थान है' इत्यादि उदाहरण दिये जा सकते हैं। यहाँ जल से तेज की उत्पत्ति सृष्टिक्रम के विरुद्ध है।

"न स्वरूपनिबन्धनमिदं रूपमाकाशस्य सरित्सलिलादेर्वा किन्तु प्रतिभासनिबन्धनम्। न च प्रतिभासस्तादात्म्येन वस्तुन्यवतिष्ठते यदि तथा स्यात्सूर्याचन्द्रमसोर्मण्डले दृष्ट्या परिच्छिन्नमानद्वादशाङ्गुलप्रमाणे पुराणाद्यागमनिवेदितधरावलयमात्रे न स्तः" इति यायावरीयः। एवं नक्षत्रादीनां सरित्सलिलादीनामन्येषां च। यथाप्रतिभासं च वस्तुनः स्वरूपं शास्त्रकाव्ययोर्निबन्धोपयोगि। शास्त्रे यथा—

यायावरीय राजशेखर कहते हैं—"ठीक है। उक्त काव्य-रचना में वर्णित आकाश का रूप और नदियों की तेजोजनकता वास्तविक स्वरूप का वर्णन नहीं है; किन्तु प्रतिभास-मात्र है। आभास या प्रतिभास किसी वस्तु में स्वाभाविक रूप से नहीं रहता। यदि आभास को ही वस्तु का स्वाभाविक धर्म मान लें, तो सूर्य और चन्द्रमा के मंडल, जो देखने से बारह अंगुल के प्रतीत होते हैं, पृथ्वी की गोलाई के बराबर या उससे भी बड़े नहीं माने जा सकते, जैसा कि पुराणों में वर्णन किया गया है।" इसी प्रकार नक्षत्र, पर्वत, नदीजल आदि के सम्बन्ध में भी समझना चाहिए।

प्रतिभास या आभास वस्तु का वास्तविक धर्म नहीं है—यह समझते हुए भी प्रतिभास के समान ही वस्तु के स्वरूप का वर्णन करना शास्त्र और काव्य में उल्लेख करने के लिए उपयुक्त होता है। शास्त्र में प्रतिभास का उदाहरण—

"प्रशान्तजलभृत्पङ्के विमले वियदम्भसि।
ताराकुमुदसम्बन्धे हंसायत इवोडुराट्॥"

मेघ-रूपी पंक से रहित और नक्षत्र-रूपी कुमुदों से शोभित विमल आकाश-रूपी जल में चन्द्रमा हंस के समान प्रतीत होता है।

काव्यानि पुनरेतन्मयान्येव।

इसी प्रकार शास्त्र और काव्य में वस्तु का उल्लेख प्रतिभास द्वारा ही किया जा सकता है। सभी काव्य इसी प्रकार प्रतिभासमय, अतएव अविचारित-रमणीय होते हैं।

'अस्तु नाम निःसीमार्थसार्थः। किन्तु रसवत एव निबन्धो युक्तो न नीरसस्य' इति आपराजितिः।

अपराजित के पुत्र भट्टलोल्लट का मत है कि 'अर्थ-समूह भले ही असीम और सार्थक हो, किन्तु काव्य में सरस अर्थ का भी निबन्धन होना अत्यावश्यक है, नीरस विषय का नहीं।'[१]

यदाह—

"मज्जनपुष्पावचयनसन्ध्यांचन्द्रोदयादिवाक्यमिह।
सरसमपि नातिबहुलं प्रकृतरसानन्वितं रचयेत्॥"

जैसा कि कहा है--

"जलक्रीडा, पुष्पावचय, सन्ध्या, चन्द्रोदय आदि का वर्णन सरस होने पर भी अधिक मात्रा में न होना चाहिए तथा प्रस्तुत प्रसंग एवं रस के विरुद्ध भी न होना चाहिए।"

"यस्तु सरिदद्रिसागरपुरतुरगरथादिवर्णने यत्नः।
कविशक्तिख्यातिफलो विततधियां नो मतः स इह॥"

"कविगण नदी, पर्वत, समुद्र, नगर, घोड़े, हाथी, रथ आदि के वर्णनों में जो प्रयत्न करता है, वह उनकी काव्य-रचना-शक्ति का प्रचार-मात्र है। मर्मज्ञ विद्वान् उसे बहुत अच्छा नहीं समझते।"

'आम्' इति यायावरीयः। अस्ति चानुभूयमानो रसस्यानुगुणो विगुणश्चार्थः, काव्ये तु कविवचनानि रसयन्ति विरसयन्ति च नार्थाः, अन्वयव्यतिरेकाभ्यां चेदमुपलभ्यते।

यायावरीय कहते हैं कि 'यह उचित है'; किन्तु यह भी अनुभव से सिद्ध है कि कोई अर्थ रस के अनुकूल होता है और कोई उसके प्रतिकूल। यह तो निश्चित रूप से देखा जाता है कि काव्यों में कवियों के वाक्य ही सरसता और नीरसता उत्पन्न करते हैं। अर्थ सरस या विरस नहीं होते; क्योंकि प्रतिभा-संपन्न कवि साधारण-से-साधारण (तुच्छ) अर्थ को भी सरस और चमत्कारी बना देते हैं और प्रतिभा-शून्य कवि सरस अर्थ को भी नीरस बना देते हैं।

तत्र सरिद्वर्णनरसवत्ता—

"एतां विलोकय तलोदरि ताम्रपर्णी-
मम्भोनिधौ विवृतशुक्तिपुटोद्धृतानि।

---

१. हेमचन्द्र के काव्यानुशासन में इसी भाव के दो श्लोक भट्टलोल्लट के नाम से उद्धृत किये गये हैं। मालूम होता है, लोल्लट के पिता का नाम अपराजित होगा। यह अपराजित नाम प्राचीन ग्रन्थों में पाया जाता है।

यस्याः पयांसि परिणाहिषु हारमूर्त्या
वामभ्रुवां परिणमन्ति पयोधरेषु ॥"

नदी-वर्णन की सरसता—

"हे कृशोदरि ! समुद्र में मिलती हुई इस ताम्रपर्णी नदी को देखो, सीपियों के सम्पुट से निकाले गये जिसके जलकण, सुन्दरियों के विशाल स्तन-तटों पर मोतियों के हार के रूप में शोभा पाते हैं।"

इस रचना में नदी के जल-बिन्दु, वामनयनाओं के स्तनों पर हार-रूप से परिणत होते हैं—इस प्रकार सम्भोग शृङ्गार-रस के उद्दीपन विभाव का वर्णन किया गया है।

अद्रिवर्णनरसवत्ता—

"एतास्ता मलयोपकण्ठसरितामेणाक्षि रोधोभुव-
श्चापाभ्यासनिकेतनं भगवतः प्रेयो मनोजन्मनः।
यासु श्यामनिशासु पीततमसो मुक्तामयीश्चन्द्रिकाः
पीयन्ते विवृतोर्ध्वचञ्चुविचलत्कण्ठं चकोराङ्गनाः ॥"

पर्वत-वर्णन की सरसता—

"हे मृगनयने ! ये मलय पर्वत की अधित्यका में वहनेवाली नदियों की वे तीर-भूमियाँ हैं, जो भगवान् कामदेव की प्यारी और उसके धनुष चलाने का अभ्यास करने के स्थान हैं। इन तीर-प्रदेशों में चकोरांगनाएँ काली रातों में अन्धकार का पान करके खुली चोंचों को ऊपर की ओर किये हुए मोती-सी शुभ्र चाँदनी को गट-गट करके पीती हैं।"

यहाँ पर्वत को शृङ्गार-रस के विभाव-रूप में वर्णित करके कवि ने सरसता उत्पन्न कर दी है।

सागरवर्णनरसवत्ता—

"धत्ते यत्किलकिञ्चितैकगुरुतामेणीदृशां वारुणी
वैधुर्यं विदधाति दम्पतिरुषां यच्चन्द्रिकार्द्रं नभः।
यच्च स्वर्गसदां वयः स्मरसुहृन्नित्यं सदा सम्पदां
यल्लक्ष्मीरधिदैवतं च जलधेस्तत्कान्तमाचेष्टितम् ॥"

समुद्र-वर्णन की सरसता—

"मदिरा, जो अभिलषित प्रियतम के सम्मिलन से होनेवाले हर्ष के कारण मृगलोचनाओं को विविध हाव, भाव, क्रीडा आदि सिखाती है, जिस चन्द्रिका से आर्द्र आकाश, दम्पतियों के प्रणय कलह को दूर करने में समर्थ होता है, जो देवताओं की काम-मित्र यौवनावस्था सदा एक-सी बनी रहती है और जो लक्ष्मी समस्त भूमि आदि सम्पत्तियों में प्रधान मानी जाती है—यह सब समुद्र की सुन्दर चेष्टा का फल है।"[१]

१. दे० राजशेखर : बालरामायण, १०-४४।

तात्पर्य यह है कि मदिरा, चन्द्रमा, अमृत और लक्ष्मी—ये चारों पदार्थ समुद्र को देन हैं। यहाँ कवि ने समुद्र की महिमा का वर्णन करते हुए काव्यार्थ को सम्भोग-शृङ्गार रस से सरस कर दिया है।

एवं पुरतुरगादिवर्णनरसवत्तापि ।

इसी प्रकार नगर, तुरग (घोड़ा) आदि के वर्णन में भी सरसता के अनेक उदाहरण मिलते हैं, जिनसे कवि की प्रकृष्ट प्रतिभा का परिचय प्राप्त होता है।

विप्रलम्भेऽप्यतिरसवत्ता—

विप्रलम्भ (वियोग)-शृङ्गार में भी अत्यन्त सरसता का उदाहरण—

"विधर्माणो भावास्तदुपहितवृत्तेर्न धृतये
सरूपत्वादन्ये विहितविफलौत्सुक्यविरसाः ।
ततः स्वेच्छं पूर्वेष्वसजदितरेभ्यः प्रतिहतं
क्व हीनं प्रेयस्या हृदयमिदमन्यत्र रमताम् ॥"

नायिका के प्रति सम्पूर्ण चित्तवृत्ति को लगाये हुए विरही युवक के लिए प्रेमिका के विरोधी पदार्थों में हृदय को लगाना अधीरता उत्पन्न करता है और उसके अनुरोधी (सहयोगी) पदार्थों की ओर हृदय को लगाने पर उत्कण्ठा की वृद्धि होती है। अतः वे विरस प्रतीत होते हैं। इस स्थिति में उसके विरोधी भावों से स्वतः विरोध रखनेवाला और उसके प्रिय पदार्थों से अधिक कष्ट होने के कारण दूर रहनेवाला प्रिया-विरहित विरही का हृदय, कहाँ विश्राम या सुख प्राप्त कर सकता है? अर्थात्, कहीं नहीं।

यहाँ कवि ने अपने प्रतिभा-कौशल से विप्रलम्भ-शृङ्गार का अत्यन्त हृदयग्राही और सरस वर्णन किया है।

कुकविर्विप्रलम्भेऽपि रसवत्तां निरस्यति ।
अस्तु वस्तुषु मा वा भूत्कविवाचि रसः स्थितः ॥

विप्रलम्भ शृङ्गार के वर्णन में सरसता अत्यावश्यक है; किन्तु कुकवि उसे भी नीरस बना देता है। तात्पर्य यह है कि किसी भी वस्तु में रस हो या न हो, कवि की वाणी में रस होना चाहिए—यह निर्विवाद सिद्धान्त है।

"यथा तथा वास्तु वस्तुनो रूपं, वक्तृप्रकृतिविशेषायत्ता तु रसवत्ता। तथा च यमर्थं रक्तः स्तौति तं विरक्तो विनिन्दति मध्यस्थस्तु तत्रोदास्ते" इति पाल्यकीर्त्तिः ।

पाल्यकीर्त्ति नामक जैन आचार्य कहते हैं कि 'वस्तु का रूप चाहे कैसा भी हो, सरसता तो कवि की प्रकृति के आधार पर है। अर्थात्, कवि की प्रकृति सरस है, तो उसे सरस बना देती है और यदि कवि की प्रकृति रूक्ष या नीरस है, तो सरस वस्तु भी नीरस हो जाती है। अनुरक्त व्यक्ति जिस वस्तु की स्तुति करता है, विरक्त व्यक्ति उसी की निन्दा करता है और मध्यस्थ व्यक्ति उस सम्बन्ध में उदासीन रहता है।' जैसे—

"येषां वल्लभया समं क्षणमिव स्फारा क्षपा क्षीयते
तेषां शीततरः शशी विरहिणामुल्केव सन्तापकृत्।
अस्माकं न तु वल्लभा न विरहस्तेनोभयभ्रंशिना-
मिन्दू राजति दर्पणाकृतिरयं नोष्णो न वा शीतलः ॥"

किसी उदासीन की उक्ति—"जिन पुरुषों की लम्बी रातें प्रियतमा के साथ क्षण के समान क्षीण हो जाती हैं, उनके लिए चन्द्रमा अत्यन्त शीतल वस्तु है और जो विरही हैं, उनके लिए वही चन्द्रमा जलते हुए अंगारों के समान सन्तापकारी है। मुझे न तो प्रियतमा ही है और न उसका वियोग ही है, अतः दोनों से रहित मेरे लिए यह चन्द्रमा शीशे (काँच) के समान शोभित हो रहा है। न उष्ण है और न शीतल। न सुखद है और न दुःखद।"

'विदग्धभणितिभङ्गिनिवेद्यं वस्तुनो रूपं नियतस्वभावम्' इति अवन्तिसुन्दरी। तदाह—

यायावरीय राजशेखर की गृहिणी अवन्तिसुन्दरी का मत है कि 'किसी वस्तु का स्वरूप नियत नहीं है, प्रत्येक वस्तु अनियत स्वभाववाली है। अर्थात्, न गुणवाली है और न दोषयुक्त। कुशल कवि की उक्ति-विशेष से वह सगुण या निर्गुण हो जाती है। जैसे—

"वस्तुस्वभावोऽत्र कवेरतन्त्रो
गुणागुणावुक्तिवशेन काव्ये।
स्तुवन्निबध्नात्यमृतांशुमिन्दुं
निन्दंस्तु दोषाकरमाह धूर्त्तः ॥"

काव्य-जगत् में किसी भी वस्तु का स्वभाव नियत नहीं है। कवि की उक्ति के कारण उसमें गुण या दोष आ जाते हैं। जो चन्द्रमा की स्तुति करना चाहता है, वह उसे 'अमृतांशु' कहता है और जो धूर्त्त कवि उसकी निन्दा करना चाहता है, वह उसे 'दोषाकर' कहता है।

'उभयमुपपन्नम्' इति यायावरीयः।

यायावरीय राजशेखर कहते हैं कि पाल्यकीर्त्ति और अवन्तिसुन्दरी दोनों के ही मत ठीक हैं। अर्थात्, युक्तिसंगत होने से ग्राह्य हैं।

स पुनर्द्विधा। मुक्तकप्रबन्धविषयत्वेन। तावपि प्रत्येकं पञ्चधा। शुद्धः, चित्रः, कथोत्थः, संविधानकभूः, आख्यानकवांश्च। तत्र मुक्तेतिवृत्तः शुद्धः। स एव सप्रपञ्चश्चित्रः। वृत्तेतिवृत्तः कथोत्थः। सम्भावितेतिवृत्तः संविधानकभूः। परिकल्पितेतिवृत्तः आख्यानकवान्।

मुक्तक और प्रबन्ध

अब ग्रन्थकार राजशेखर इस विवाद को समाप्त कर पूर्व-वर्णित दिव्य आदि सात प्रकार के अर्थों को दो भागों में विभक्त करते हैं। एक तो मुक्तककाव्य-गत और दूसरा प्रबन्ध-काव्य-गत। मुक्तक[1] का तात्पर्य स्वतन्त्र या स्फुट कविता से है और प्रबन्ध का अर्थ है—काव्य या महाकाव्य। मुक्तक पाँच प्रकार के और प्रबन्ध भी पाँच प्रकार के होते हैं। जैसे—१. शुद्ध, २ चित्र, ३. कथोत्थ, ४. संविधानकभू और ५. आख्यानकवान्।

इतिवृत्त या इतिहास से रहित अर्थ शुद्ध है। उसे विस्तार के साथ विस्तृत करना चित्र है। प्राचीन कथा या इतिहास-युक्त अर्थ कथोत्थ है। जिसमें घटना सम्भावित हो, उसे संविधानकभू कहते हैं और जिसमें इतिहास की कल्पना की जाय, उसे आख्यानकवान् कहते हैं।

तत्र मुक्तके शुद्धः—

इन अर्थों में मुक्तक-काव्य में शुद्ध अर्थ का उदाहरण—

"सा पत्युः प्रथमापराधकरणे शिक्षोपदेशं विना
नो जानाति सविभ्रमाङ्गवलनावक्रोक्तिचित्रां गतिम्।
स्वच्छैरच्छकपोलभित्तिगलितैः पर्यस्तनेत्रोत्पला
बाला केवलमेव रोदिति लुठल्लोलोदकैरश्रुभिः ॥"[2]

"कोई सखी अपनी नवोढा सखी का वृत्तान्त दूसरी सखी से कहती है कि वह नवविवाहिता सखी यह नहीं जानती कि पति के अपराध (अन्य नायिकागमन) करने पर किस प्रकार भौंहें चढ़ानी चाहिए, किस प्रकार उसे तिरछे ताने देने चाहिए और किस प्रकार रूठ जाना चाहिए। इस कारण पति के प्रथम अपराध के समय वह बेचारी, स्वच्छ कपोलों से ढुलककर निरन्तर गिरते हुए स्वच्छ आँसुओं को बहाती हुई और लज्जा एवं क्षोभ से आँखों को तिरछी किये हुए रुदन-मात्र करती है।"

इस मुक्तक-रचना में किसी प्रकार का इतिहास न कहकर केवल नायिका की वास्तविक स्थिति का वर्णन किया गया है, अतः यह शुद्ध है।

चित्रः—

"दूरादुत्सुकमागते विवलितं सम्भाषिणि स्फारितं
संश्लिष्यत्यरुणं गृहीतवसने कोपाञ्चितभ्रूलतम्।

---

१. राजशेखर ने जिन्हें मुक्तक और प्रबन्ध कहा है, उन्हें भामह और वामन ने अनिबद्ध और निबद्ध नाम से भी उल्लिखित किया है। आचार्य आनन्दवर्धन ने ध्वन्यालोक में मुक्तक का अर्थ इस प्रकार लिखा है—'मुक्तकम् =अन्येन नालिङ्गितम्। तेन स्वतन्त्रतया परिसमाप्तनिराकाङ्क्षार्थमपि प्रबन्ध-मध्यवर्त्ति मुक्तकमित्युच्यते'। (३-७)

२. दे० अमरुकवि : अमरुशतक, श्लोक २६। यह पद्य मुग्धा नायिका के उदाहरण में अनेक स्थलों पर उद्धृत किया गया है।

मानिन्याश्चरणानतिव्यतिकरे बाष्पाम्बुपूर्णं क्षणा-
च्चक्षुर्जातमहो प्रपञ्चचतुरं जातागसि प्रेयसि ॥"[1]

मुक्तक-काव्य में चित्र अर्थ का उदाहरण—

"इस पद्य में अपराधी पति द्वारा रूठी नायिका को मनाने के समय विभिन्न भावों के अनुसार आँखों की क्रिया का विस्तार के साथ वर्णन किया गया है। जब अपराधी पति अत्यन्त उत्सुकता के साथ उसके (नायिका के) पास आ रहा था, तब उसे दूर से देखने पर उसकी आँखों में उत्सुकता थी, समीप आने पर वे तिरछी होकर फिर गईं, बोलने पर विस्फारित हो गईं, आलिंगन करने पर लाल हो गईं, पहनावे को पकड़ने पर क्रोध से भौंहें तन गईं और चरणों में प्रणाम करने पर आँसुओं से भर गईं। इस प्रकार, मानिनी की आँखें प्रियतम के अपराध के कारण विविध प्रपंच करने में चतुर हो गईं।

इस मुक्तक-काव्य में प्रथम श्लोक के विषय को विस्तार के साथ कहा गया है, अतः यह चित्र है।

कथोत्थः—

"दत्त्वा रुद्धगतिः खसाधिपतये देवीं ध्रुवस्वामिनीं
यस्मात्खण्डितसाहसो निववृते श्रीशर्मगुप्तो नृपः।
तस्मिन्नेव हिमालये गुरुगुहाकोणक्वणत्किन्नरे
गीयन्ते तव कार्त्तिकेयनगरस्त्रीणां गणैः कीर्त्तयः ॥"

मुक्तक-रचना में कथोत्थ अर्थ का उदाहरण—

"हे राजन्! युद्ध में पराजित होने के कारण साहस-रहित और प्रगति-हीन श्रीशर्मगुप्त नामक राजा, अपनी महिषी ध्रुवस्वामिनी को खसाधिपति के लिए देकर जिस हिमालय में पराजित होकर लौटा था; कन्दराओं के कोनों में किन्नरों के संगीत से मुखरित उसी हिमालय में कार्त्तिकेय-नगर की स्त्रियाँ तुम्हारी कीर्त्ति का गान करती हैं।"[2]

इस मुक्तक पद्य में कुमारगुप्त के पिता चन्द्रगुप्त की प्रशंसा करते हुए ध्रुवस्वामिनी की प्राप्ति-कथा का दिग्दर्शन भी करा दिया गया है, अतः यह कथोत्थ अर्थ है।

संविधानकभूः—

"दृष्ट्वैकासनसंस्थिते प्रियतमे पश्चादुपेत्यादरा-
देकस्या नयने निमील्य विहितक्रीडानुबन्धच्छलः।
ईषद्वक्रितकन्धरः सपुलकः प्रेमोल्लसन्मानसा-
मन्तर्हासलसत्कपोलफलकां धूर्तोऽपरां चुम्बति ॥"[3]

---

१. दे० अमरुकवि : अमरुशतक, श्लोक ४९। यह माननी नायिका का वर्णन है।
२. यह वर्णन सम्राट् समुद्रगुप्त के प्रथम पुत्र श्रीशर्मगुप्त एवं द्वितीय पुत्र चन्द्रगुप्त (द्वितीय) की कथा से सम्बन्ध रखता है। इस सम्बन्ध में देखिए परिशिष्ट प्रकरण।
३. दे० अमरुकवि : अमरुशतक, श्लोक १९। धूर्त नायक का वर्णन।

मुक्तक में संविधानक से उत्पन्न होनेवाले अर्थ का उदाहरण—

"दो पत्नियोंवाले किसी धूर्त्त नायक ने घर में आते ही देखा कि उसकी दोनों प्रियतमाएँ एक ही आसन पर एक साथ उसकी ओर पीठ किये बैठी हैं, अतः उसने दोनों को प्रसन्न करने के लिए धीरे से आकर हाथों से एक की आँखें बन्द कर दीं और गरदन को झुकाकर प्रेम से उल्लसित और पुलकित होते हुए, मुस्कराहट से सुन्दर कपोलोंवाली दूसरी प्रियतमा का चुम्बन कर लिया।"

यहाँ धूर्त्त नायक ने एक साथ ही दोनों पत्नियों को प्रसन्न कर लिया। एक से आँखमिचौनी की और दूसरी का चुम्बन किया या एक की आँखें बन्द करके वञ्चन किया और दूसरी का रञ्जन। यहाँ एक घटना की कल्पना करके अर्थ उत्पन्न किया गया है, अतः यह संविधानकभू अर्थ है।

यथा च—

"कुर्वत्या कुङ्कुमाम्भःकपिशितवपुषं यत्तदा राजहंसीं
क्रीडाहंसो मयासावजनि विरहितश्चक्रवाकीभ्रमेण।
तस्य तत्पाप्मनो मे परिणमति फलं यत्पुरे प्रेमबन्धा-
देकत्रावां वसावो न च दयितदृशाऽप्यस्ति नौ सन्निकर्षः॥"

दूसरा उदाहरण—

"हे प्रियतम! एक बार कुंकुम-जल में स्नान करने से भूरे वर्ण की राजहंसी को रंग के भ्रम से चकवी समझकर मैंने उसके पति राजहंस से उसे पृथक् कर दिया था, उसी पाप का यह फल हुआ कि हम दोनों एक ही नगर में रहते हैं; किन्तु परस्पर एक दूसरे को देख भी नहीं पाते।"

यहाँ हंस और हंसी के संविधान से अपने वियोग की उत्प्रेक्षा की गई है। अतः, यह भी संविधानकभू है।

आख्यानकवान्—

"अर्थिजनार्थधृतानां वनकरिणां प्रथमकल्पितैर्दशनैः।
चक्रे परोपकारी हैहयजन्मा गृहं शम्भोः॥"

मुक्तक-रचना में आख्यानकवान् अर्थ का उदाहरण—

"सहस्रार्जुन ने याचकों को दान देने के लिए रखे हुए हाथियों के प्रथम बार उत्पन्न नवीन दाँतों से शिव-मन्दिर बनवाया।"

यहाँ सहस्रार्जुन द्वारा शिव-मन्दिर-निर्माण का आख्यान वर्णित किया गया है।

मुक्तक-रचना में पाँच प्रकार बताने के अनन्तर अब प्रबन्ध में पाँचों भेदों के उदाहरण प्रदर्शित किये जाते हैं।

निबन्धे शुद्धः—

"स्तिमितविकसितानामुल्लसद्भ्रूलतानां
मसृणमुकुलितानां प्रान्तविस्तारभाजां ।
प्रतिनयननिपाते किञ्चिदाकुञ्चितानां
सुचिरमहमभूवं पात्रमालोकितानाम् ।।"[१]

प्रबन्ध में शुद्ध अर्थ का उदाहरण—

मालतीमाधव नाटक में मालती के अवलोकनों का वर्णन करते हुए माधव कहता है—"मैं, निश्चल और विकसित, उठी हुई भौहोंवाली, अनुराग से स्निग्ध एवं कुछ झँपती हुई, प्रान्तों तक फैली हुई और प्रत्येक पलक के पतन में कुछ सकुचाती हुई (उसकी) विविध दृष्टियों का लक्ष्य हुआ।"

यहाँ विशुद्ध भावपूर्ण अनेक दृष्टियों का शुद्ध (स्वाभाविक) वर्णन है।

चित्रः—

"अलसवलितमुग्धस्निग्धनिष्पन्दमन्दै-
रधिकविकसदन्तर्विस्मयस्मेरतारैः ।
हृदयमशरणं मे पक्ष्मलाक्ष्याः कटाक्षै-
रपहृतमपविद्धं पीतमुन्मूलितं च ।।"[२]

प्रबन्ध में चित्र अर्थ का उदाहरण—

"उस घनी पलकोंवाली के कुछ अलसाये हुए, तिरछे, मुग्धतापूर्ण, स्नेह-भरे, निश्चल, मन्द तथा भीतर से अधिक विकसित होने के कारण विस्मय से तरल कनीनिकावाले कटाक्षों से मेरा हृदय अपहृत होकर विंध गया, पान कर लिया गया और निर्मूल कर दिया गया।"

यहाँ पूर्व श्लोक में वर्णित अवलोकनों के विस्तार का चातुर्य के साथ वर्णन किया गया, अतः यहाँ चित्र अर्थ की प्रतीति होती है।

कथोत्थः—

"अभिलाषमुदीरितेन्द्रियः
स्वसुतायामकरोत्प्रजापतिः ।
अथ तेन निगृह्य विक्रिया-
मभिशप्तः फलमेतदन्वभूत् ।।"[३]

---

१. भवभूति-रचित 'मालतीमाधव' नामक प्रकरण में मकरन्द के प्रति माधव की उक्ति है। इसमें हाव, लोल, स्मित आदि अनेक व्यभिचारी भावों तथा शृङ्गार रस की अनेक दृष्टियों के भेद प्रदर्शित किये गये हैं।
२. दे० भवभूति : मालतीमाधव, प्रथम अङ्क। इसमें भी अनेक भावपूर्ण शृङ्गार-दृष्टियों का वर्णन है।
३. दे० कालिदास : कुमारसम्भव, ४-४१।

प्रबन्ध में कथोत्थ अर्थ का उदाहरण—

कुमारसंभव में काम के भस्म हो जाने पर विलाप करती हुई रति को आश्वासन देती हुई आकाशवाणी ने कहा—"एक बार काम-वासना के कारण उत्तेजित होकर ब्रह्मा ने अपनी कन्या सरस्वती के प्रति अनुराग प्रकट किया था ; परन्तु विवेकवश उसे रोककर उसने कामदेव को शाप दिया कि 'तुम भस्म हो जाओगे'। इसी कारण आज कामदेव शिवजी की नेत्र-ज्वाला में भस्म हो गया। यह उसे ब्रह्मा के ही शाप का फल भोगना पड़ा।"

यहाँ प्रबन्ध में प्राचीन ऐतिहासिक प्रसंग का वर्णन आया है, अतः यह कथोत्थ अर्थ है।

संविधानकभूः—

"क्रोधं प्रभो संहर संहरेति
यावद्गिरः खे मरुतां चरन्ति।
तावत्स वह्निर्भवनेत्रजन्मा
भस्मावशेषं मदनं चकार॥"[1]

प्रबन्ध में संविधानकभू अर्थ का उदाहरण—

"हे प्रभो! क्रोध को शान्त कीजिए, शान्त कीजिए—आकाश में जबतक देवों की इस प्रकार प्रार्थना-वाणी सुन पड़ती है, तबतक शिव-नेत्र से उत्पन्न अग्निज्वाला ने कामदेव को भस्म का ढेर बना दिया।"

इसमें वर्त्तमान इतिवृत्त का वर्णन होने से संविधानकभू अर्थ है।

आख्यानकवान्—

"त्पयुः शिरश्चन्द्रकलामनेन
स्पृशेति सख्या परिहासपूर्वम्।
सा रञ्जयित्वा चरणौ कृताशी-
र्माल्येन तां निर्वचनं जघान॥"[2]

प्रबन्ध में आख्यानकवान् अर्थ का उदाहरण—

कुमारसंभव में पार्वती के चरणों में महावर लगाने के उपरान्त हास्य करते हुए सखी ने पार्वती से कहा—"सखी! तुम अब इस लाक्षा-रंजित चरण से पति की चन्द्रकला पर प्रहार करो, ऐसा सुनकर पार्वती ने उसे (सखी को) विना कुछ कहे माला से मारा।"

यहाँ काव्य-प्रबन्ध में इस आख्यान की स्वतन्त्र रचना की गई है।

---

१. दे० कालिदास : कुमारसम्भव, ३-७२।

२. दे० वही, ७-१९।

किञ्च। संस्कृतवत्सर्वास्वपि भाषासु यथासामर्थ्यं यथारुचि यथाकौतुकं चावहितः स्यात्। शब्दार्थयोश्चाभिधानाभिधेयव्यापारप्रगुणतामवबुध्येत। तदुक्तम्—

कवि को चाहिए कि संस्कृत के समान प्राकृत आदि सभी भाषाओं में अपनी शक्ति और रुचि के अनुसार या अपने मनोभाव के अनुकूल रचना करे। किन्तु, शब्द और अर्थ के वाच्य-वाचक-सम्बन्ध की प्रौढता का सर्वत्र सावधानी से ध्यान रखे। जैसा कि कहा है—

एकोऽर्थः संस्कृतोक्त्या ससुकविरचनः प्राकृतेनापरोऽस्मिन्
अन्योऽपभ्रंशगीर्भिः किमपरमपरो भूतभाषाक्रमेण।
द्वित्राभिः कोऽपि वाग्भिर्भवति चतसृभिः किञ्च कश्चिद्विवेक्तुं
यस्येत्थं धीः प्रगल्भा स्नपयति सुकवेस्तस्य कीर्त्तिर्जगन्ति॥

एक ही अर्थ कहीं संस्कृत में सुकवि की सुन्दर रचना का विषय बनता है; कहीं कोई अर्थ प्राकृत भाषा में सुकवि-रचना का विषय होता है, कोई अर्थ अपभ्रंश-भाषाओं में और कोई अर्थ भूत-भाषा में कवि की सुन्दर रचना का विषय बनता है। कुछ कवि, दो-तीन भाषाओं में, तो कुछ चार-पाँच भाषाओं में अर्थ-विवेचनाकुशल होते हैं। इस प्रकार; जिस कवि की प्रगल्भ प्रतिभा का अधिक प्रसार होता है, उसकी कीर्त्ति समस्त संसार को स्नान कराती है। अर्थात्, उसकी कीर्त्ति संसार में फैल जाती है।

इत्थङ्कारं घनैरर्थैर्व्युत्पन्नमनसः कवेः।
दुर्गमेऽपि भवेन्मार्गे कुण्ठिता न सरस्वती॥

॥ इति राजशेखरकृतौ काव्यमीमांसायां कविरहस्ये प्रथमेऽधिकरणे
अर्थानुशासने अर्थव्याप्तिर्नवमोऽध्यायः॥

जिस कवि का मन, इस प्रकार इन घने अर्थों के विवेक से व्युत्पन्न होता है उसकी वाणी दुर्गम मार्ग में भी कुण्ठित नहीं होती।

नवम अध्याय समाप्त

दशमोऽध्यायः कविचर्या राजचर्या च

दशम अध्याय : कविचर्या और राजचर्या

गृहीतविद्योपविद्यः काव्यक्रियायै प्रयतेत। नामधातुपारायणे, अभिधानकोशः, छन्दोविचितिः, अलङ्कारतन्त्रं च काव्यविद्याः। कलास्तु चतुःषष्टिरुपविद्याः। सुजनोपजीव्यकविसन्निधिः, देशवार्त्ता, विदग्धवादो, लोकयात्रा, विद्वद्गोष्ठ्यश्च काव्यमातरः पुरातनकविनिबन्धाश्च। किञ्च—

काव्य-विद्या के शिक्षार्थी को चाहिए कि वह पहले काव्योपयोगिनी विद्याओं और काव्य की उपविद्याओं का भलीभाँति अध्ययन करके काव्य-रचना की ओर प्रवृत्ति करे। व्याकरण, नाम-कोश, छन्दःशास्त्र और अलंकारशास्त्र—ये चार काव्योपयोगी मुख्य विद्याएँ हैं। चौंसठ कलाएँ काव्य की उपविद्याएँ हैं। इनके अतिरिक्त ये विषय काव्य के प्रधान जीवन-स्रोत हैं। जैसे—उच्चस्तर व्यक्तियों द्वारा आश्रित कवियों का सत्संग, देशों एवं विदेशों के व्यवहार, चतुर विद्वानों की सूक्तियाँ, सांसारिक व्यवहार, विद्वद्गोष्ठी और प्राचीन कवियों के प्रबन्धों का मनन। कहा भी है—

स्वास्थ्यं प्रतिभाभ्यासो भक्तिर्विद्वत्कथा बहुश्रुतता।
स्मृतिदार्ढ्यमनिर्वेदश्च मातरोऽष्टौ कवित्वस्य॥

स्वास्थ्य, प्रतिभा, अभ्यास, भक्ति, विद्वत्कथा, बहुश्रुतता, स्मृतिदृढता और उत्साह—कवित्व की ये आठ माताएँ हैं।

अपि च। नित्यं शुचिः स्यात्। त्रिधा च शौचं वाक्शौचं मनःशौचं, कायशौचं च। प्रथमे शास्त्रजन्मनी। तार्तीयीकं तु सनखच्छेदौपादौ, सताम्बूलं मुखं, सविलेपनमात्रं वपुः, महार्हमनुल्वणं च वासः, सकुसुमं शिर इति। शुचि शीलनं हि सरस्वत्याः संवननमामनन्ति।

इसके अतिरिक्त कवि को सदा पवित्र रहना चाहिए। पवित्रता तीन प्रकार की होती है—वाणी की पवित्रता, मानसिक पवित्रता और शारीरिक पवित्रता। वाणी की और मन की पवित्रता शास्त्रों द्वारा प्राप्त होती है। शारीरिक पवित्रता के लिए हाथों और पैरों के नख सदा कटे रहने चाहिए। मुख में पान रहना चाहिए। शरीर में इत्र आदि सुगन्धित वस्तुओं का लेप होना चाहिए। स्वच्छ और उच्चकोटि का वस्त्र धारण करना चाहिए। सिरपर सुगन्धित पुष्प धारण करने चाहिए। इस तरह सभी प्रकार की पवित्रता के साथ सरस्वती का अनुशीलन करना उसका सम्मान करना है।

स यत्स्वभावः कविस्तदनुरूपं काव्यम्। यादृशाकारश्चित्रकरस्तादृशाकारमस्य चित्रमिति प्रायो वादः। स्मितपूर्वमभिभाषणं, सर्वत्रोक्तिगर्भ-

मभिधानं, सर्वतो रहस्यान्वेषणं, परकाव्यदूषणवैमुख्यमनभिहितस्य, अभिहितस्य तु यथार्थमभिधानम् ।

कवि का जैसा स्वभाव होता है, वैसी ही उसकी कविता भी होती है। कहावत प्रसिद्ध है कि चित्रकार अपने ही अनुरूप चित्र बनाता है। कवि को सदा मुस्कराते हुए बातें करनी चाहिए। सभी प्रकार का वार्तालाप वक्रोक्ति-पूर्ण करना चाहिए। सभी ओर से रहस्य का अन्वेषण करना चाहिए। विना पूछे दूसरे की रचना में दोष-प्रदर्शन न करना और पूछने पर वास्तविक एवं समुचित आलोचना करनी चाहिए।

तस्य भवनं सुसंमृष्टं, ऋतुषट्कोचितविविधस्थानम्, अनेकतरुमूलकल्पितापाश्रयवृक्षवाटिकं, सक्रीडापर्वतकं, सदीर्घिकापुष्करिणीकं, ससरित्समुद्रावर्त्तकं, सकुल्याप्रवाहं, सबर्हिणहरिणहारीतं, ससारसचक्रवाकहंसं, सचकोरक्रौञ्चकुररशुकसारिकं, घर्मक्लान्तिचौरं, सभूमिधारागृहयन्त्रलतामण्डपकं, सदोलाप्रेङ्खं च स्यात् । काव्याभिनिवेशखिन्नस्य मनसस्तद्धिनिर्वेदच्छेदायाज्ञामूकपरिजनं विजनं वा तस्य स्थानम् । अपभ्रंशभाषणप्रवणः परिचारकवर्गः, समागधभाषाभिनिवेशिन्यः परिचारिकाः । प्राकृतसंस्कृतभाषाविद आन्तःपुरिका, मित्राणि चास्य सर्वभाषाविन्दि भवेयुः ।

कवि का भवन, साफ-सुथरा और लिपा-पुता होना चाहिए। प्रत्येक ऋतु में बैठने के लिए पृथक्-पृथक् स्थान हों। गृह-वाटिका के अनेक वृक्षों और लतागृहों में बैठने के सुन्दर स्थान होने चाहिए। उसमें कृत्रिम क्रीडा-पर्वत भी बने हों। छोटी-छोटी वापी पुष्करिणी आदि भी रहें। नदी और समुद्र के आवर्त्त (कृत्रिमरूप) भी हों। नहरें भी खुदी हों। मयूर, हरिण, हारिल, सारस, चकवा, हंस, चकोर, कुरर, सुग्गे, मैना, आदि पक्षी भी हों, छायावाले स्थान हों, जहाँ धूप, वर्षा आदि से रक्षा हो सके। गुफाएँ, धारायंत्र (फव्वारे), लता-मंडप आदि से शोभित हों और हिंडोले तथा झूले भी पड़े हों।

कवि, जब काव्य-रचना से श्रान्त होकर मनोरंजन करना चाहे, उस समय उसके गृह-जन या भृत्य-गण उसकी आज्ञा के विना न बोलें—चुप रहें या कवि का निवासस्थान विजन में हो। उसके सेवक अपभ्रंश-भाषा बोलने में पटु हों, दासियाँ मागधी सहित भाषाओं में प्रवीण हों, घर की स्त्रियाँ संस्कृत एवं प्राकृत दोनों भाषाएँ बोल सकती हों और उसके मित्र उक्त सभी तथा भिन्न भिन्न भाषाओं के अभिज्ञ होने चाहिए।

सदःसंस्कारविशुद्ध्यर्थं सर्वभाषाकुशलः, शीघ्रवाक्, चार्वक्षरः, इङ्गिताकारवेदी, नानालिपिज्ञः, कविः, लाक्षणिकश्च लेखकः स्यात् । तदसन्निधावतिरात्रादिषु पूर्वोक्तानामन्यतमः ।

सभा के संस्कार की विशुद्धि के लिए कवि की रचनाओं की प्रतिलिपि करने-

वाला लेखक, सभी भाषाओं में कुशल, शीघ्र बोलनेवाला, सुन्दर लिखनेवाला, आकार-प्रकार और चेष्टा से भावों को समझनेवाला, भिन्न-भिन्न प्रकार की लिपियों का ज्ञाता, कवि, सुलक्षण और सुस्वरूप होना चाहिए। अधिक रात्रि आदि के समय लेखक के साथ न रहने पर पूर्वोक्त प्रकार में से शिक्षित सेवक-सेविका भी यह कार्य कर सकते हैं।

स्वभवने हि भाषानियमं यथा प्रभुर्विदधाति तथा भवति। श्रूयते हि मगधेषु शिशुनागो नाम राजा; तेन दुरुच्चारानष्टौ वर्णानपास्य स्वान्तःपुर एव प्रवर्त्तितो नियमः, टकारादयश्चत्वारो मूर्द्धन्यास्तृतीयवर्जमूष्माणस्त्रयः क्षकारश्चेति।

नृपति अपने घरों में भाषाओं के नियम स्वयं ही चला सकते हैं। सुना जाता है कि मगधदेश के राजा शिशुनाग ने अपने अन्तःपुर में ही यह नियम चला दिया था कि कठिनता से बोले जानेवाले आठ अक्षरों को छोड़कर भाषा का प्रयोग किया जाय। ये आठ अक्षर—ट, ठ, ड, ढ, श, ष, ह और क्ष—वर्जित कर दिये गये थे।

श्रूयते च शूरसेनेषु कुविन्दो नाम राजा, तेन परुषसंयोगाक्षरवर्जमन्तःपुर एवेति समानं पूर्वेण।

यह भी सुना जाता है कि मथुरा में कुविन्द नामक राजा था, उसने भी अपने अन्तःपुर में ही इसी प्रकार कठिन अक्षरों का व्यवहार वर्जित कर दिया था।

श्रूयते च कुन्तलेषु सातवाहनो नाम राजा, तेन प्राकृतभाषात्मकमन्तःपुर एवेति समानं पूर्वेण।

इसी प्रकार कुन्तल देश के राजा सातवाहन ने अपने अन्तःपुर में ही प्राकृत भाषा का प्रचार कर दिया था।

श्रूयते चोज्जयिन्यां साहसाङ्को नाम राजा, तेन च संस्कृतभाषात्मकमन्तःपुर एवेति समानं पूर्वेण।

उज्जयिनी के राजा साहसाङ्क का समस्त अंतःपुर (रनिवास) संस्कृत-भाषामय था।

तस्य सम्पुटिका सफलकखटिका, समुद्गकः, सलेखनीकमषीभाजनानि, ताडिपत्राणि भूर्जत्वचो वा, सलोहकण्टकानि तालदलानि, सुसम्मृष्टा भित्तयः, सततसन्निहिताः स्युः। 'तद्धि काव्यविद्यायाः परिकरः' इति आचार्याः। 'प्रतिभैव परिकरः' इति यायावरीयः।

बंद होनेवाला पिटक, खड़िया, स्लेट, सामान रखने के डब्बे, कलम-दावात के साथ कलमदान, ताड़ के पत्ते, भूर्जपत्र, लोहे की कीलों (पिनों) से गुँथे हुए तालपत्र,

स्वच्छ और चिकनी दीवारें—यह सब सामग्री कवि के पास सदा उपस्थित रहनी चाहिए। आचार्यों का कथन है कि यह सारी सामग्री काव्य-विद्या की सहायिका है'। यायावरीय कहते हैं कि 'नहीं, काव्य-रचना की मुख्य सहायक सामग्री प्रतिभा है, इसलिए उपयुक्त समस्त सहायक सामग्री के रहने पर भी प्रतिभा-विहीन कवि, काव्य-निर्माण नहीं कर सकता।'

"कविः प्रथममात्मानमेव कल्पयेत्। कियान्मे संस्कारः, क्व भाषाविषये शक्तोऽस्मि, किंरुचिर्लोकः परिवृढो वा, कीदृशि गोष्ठ्यां विनीतः, क्वास्य वा चेतः संसजत इति बुद्ध्वा भाषाविशेषमाश्रयेत" इति आचार्याः। 'एकदेशकवेरियं नियमतन्त्रणा स्वतन्त्रस्य पुनरेकभाषावत्सर्वा अपि भाषाः स्युः' इति यायावरीयः।

आचार्य कहते हैं कि 'कवि अपना संस्कार पहले करे। मेरा अध्ययन कितना है, किस भाषा पर मेरा कितना अधिकार है, जनता की तथा राजा की रुचि इस समय किस ओर अधिक है, मेरा स्वामी (संरक्षक) किस प्रकार की गोष्ठी में अधिक रुचि रखता है, या किस विषय में शिक्षित है, उसका मन किस ओर अधिक आकृष्ट होता है, इन सभी बातों का भली भाँति विचार करके किसी भी एक उपयुक्त एवं अनुकूल भाषा द्वारा काव्य-रचना करे।'

यायावरीय राजशेखर का मत है कि 'ये सारी बातें और नियम-नियंत्रण एकदेशीय कवि के लिए हैं। स्वतन्त्र कवि के लिए सभी भाषाएँ एक-सी हैं; क्योंकि वह सभी भाषाओं पर समान अधिकार रखता है।'

देशविशेषवशेन च भाषाश्रयणं दृश्यते।

देश-विशेष के कारण भी उन-उन देशों के कवि भाषा का आश्रय लेते हैं।

तदुक्तम्—

"गौडाद्याः संस्कृतस्थाः परिचितरुचयः प्राकृते लाटदेश्याः
सापभ्रंशप्रयोगाः सकलमरुभुवष्टक्कभादानकाश्च।
आवन्त्याः पारियात्राः सह दशपुरजैर्भूतभाषां भजन्ते
यो मध्ये मध्यदेशं निवसति स कविः सर्वभाषानिषण्णः॥"

ऐसा कहा भी है—

गौड़ आदि देशों के कवि, संस्कृत में विशेष रुचि रखते हैं। लाटदेश-निवासी, प्राकृतप्रिय होते हैं। मरुभूमि (मारवाड़-राजपुताना) और पंजाब के कवि अपभ्रंश-भाषा में अधिक रुचि रखते हैं और टकार, ककार एवं भकार का प्रयोग अधिक मात्रा में करते हैं। अवन्तिका, पारियात्र और दशपुर आदि प्रदेशों के कवि भूतभाषा या पैशाची भाषा का अधिक प्रयोग करते हैं और मध्यदेश-निवासी कवि सभी भाषाओं में समान रुचि रखते हैं।

जानीयाल्लोकसाम्मत्यं कविः कुत्र ममेति च।
असम्मतं परिहरेन्मतेऽभिनिविशेत च॥

कवि के लिए यह जानना परम आवश्यक है कि कौन-सा कार्य ऐसा है, जो लोक-सम्मत भी है और मुझे भी अभिमत है। इसका विवेचन करने पर जो जनता के और अपनी आत्मा के विरुद्ध हो, उसे छोड़ दे तथा जो उभय-सम्मत हो, उसका ग्रहण करे। अर्थात्, जनरुचि का ध्यान रखना आवश्यक है।

जनापवादमात्रेण न जुगुप्सेत चात्मनि।
जानीयात्स्वयमात्मानं यतो लोको निरङ्कुशः॥

किन्तु, साथ ही लोक-निन्दा के भय से अपनी आत्मा का तिरस्कार भी न करना चाहिए। अपने को और अपनी वस्तु को यथार्थ रूप से समझना चाहिए। जनता तो निरंकुश है (उसके मुँह में लगाम नहीं)। कुछ लोग अच्छी-से-अच्छी वस्तु की भी निन्दा करते ही रहते हैं।

गीतसूक्तिरतिक्रान्ते स्तोता देशान्तरस्थिते।
प्रत्यक्षे तु कवौ लोकः सावज्ञः सुमहत्यपि॥

कवि की काव्य-रचना का महत्त्व तब मालूम होता है, या उसकी रचना तब प्रशंसित होती है, जब वह इस लोक में विद्यमान न हो। अर्थात्, कवि के मर जाने पर अथवा उसकी रचना के आलोचक के दूर देश-निवासी होने पर ही प्रशंसा होती है। परन्तु, कवि के प्रत्यक्ष विद्यमान रहते हुए उसकी रचना की प्रशंसा नहीं, प्रत्युत निन्दा ही होती है।

प्रत्यक्षकविकाव्यं च रूपं च कुलयोषितः।
गृहवैद्यस्य विद्या च कस्मैचिद्यदि रोचते॥

प्रत्यक्ष कवि की कविता, कुलस्त्रियों का रूप और घरेलू वैद्य की चिकित्सा—किसी को ही अच्छी लगती है। अर्थात्, सबको नहीं।

इदं महाहासकरं विचेष्टितं
परोक्तिपाटच्चरतारतोऽपि यत्।
सदुक्तिरत्नाकरतां गतान्कवीन्
कवित्वमात्रेण समेन निन्दति॥

यह तो अत्यन्त हास्य का विषय है कि दूसरों की सुन्दर उक्तियों को स्वयं चुराने-वाला चोर-कवि भी, जब कवि कहलाने के नाते, गर्व से भरकर, नवीन सूक्तियों के भाण्डार महाकवियों की निन्दा करने लगता है।

वचः स्वादु सतां लेह्यं लेशस्वाद्वपि कौतुकात्।
बालस्त्रीहीनजातीनां काव्यं याति मुखान्मुखम्॥

अन्यान्य काव्य-गुणों के उत्कर्ष से रहित अल्प-मनोहर काव्य भी यदि सरल और श्रुतिमधुर हो, तो उसे सज्जन सुनते हैं और ऐसा काव्य कौतूहल के कारण बालकों, स्त्रियों और हीन-जातियों में जाकर दूर-दूर तक फैल जाता है।

कार्यावसरसज्जानां परिव्राजां महीभुजाम् ।
काव्यं सद्यः कवीनां च भ्रमत्यह्ना दिशो दश ।।

किसी-किसी अवसर पर तो आशुकवियों, सन्तों और राजाओं द्वारा की गई रचनाएँ, तत्काल ही चारों ओर फैल जाती हैं।

पितुर्गुरोर्नरेन्द्रस्य सुतशिष्यपदातयः ।
अविविच्यैव काव्यानि स्तुवन्ति च पठन्ति च ।।"

पिता की रचनाओं को पुत्र, गुरु की रचनाओं को शिष्य एवं राजा की रचनाओं को खुशामदी सेवक बिना कुछ समझे-बूझे ही पढ़ते फिरते हैं और प्रशंसा के पुल बाँध-बाँधकर उन्हें प्रसारित कर देते हैं।

'किञ्च नार्द्धकृतं पठेदसमाप्तिस्तस्य फलम्' इति कविरहस्यम् ।

और भी कुछ समझने की बातें हैं। जैसे—'अपनी अधूरी कविता किसी को न सुनानी चाहिए ; क्योंकि इससे उसके पूर्ण होने में कठिनाई हो सकती है।' यह कवियों का मर्म है।

न नवीनमेकाकिनः पुरतः । स हि स्वीयं ब्रुवाणः कतरेण साक्षिणा जीयेत ।

दूसरे, किसी अकेले कवि के सामने भी अपनी नवीन काव्य-रचना नहीं सुनानी चाहिए। यदि वह कभी उसे अपनी रचना बताने लगे, तो साक्षी मिलना कठिन है। अतः, इस विवाद में विजयी नहीं हो सकते।

न च स्वकृतिं बहु मन्येत । पक्षपातो हि गुणदोषौ विपर्यासयति ।

तीसरे, अपनी रचना की अधिक प्रशंसा भी न करनी चाहिए। ऐसा करना पक्षपात है। पक्षपात, गुणों को दोष और दोष को गुण बना देता है, जो अनर्थ और अयश का कारण होता है।

न च दृप्येत् । दर्पलवोऽपि सर्वसंस्कारानुच्छिनत्ति ।

चौथे, कवि को अभिमानी न होना चाहिए ; क्योंकि अभिमान का लेश भी मानव के समस्त संस्कारों एवं गुणों का उच्छेद कर देता है।

परैश्च परीक्षयेत् । यदुदासीनः पश्यति न तदनुष्ठातेति प्रायो वादः ।

पाँचवें, अपनी काव्य-रचना की दूसरों से परीक्षा करानी चाहिए। कारण, यह कहावत प्रसिद्ध है कि तटस्थ-व्यक्ति किसी वस्तु को जिस दृष्टि से देखता है, निर्माता स्वयं उसे उस दृष्टि से नहीं देख पाता।

कविमानिनं तु छन्दोनुवर्त्तनेन रञ्जयेत् कविम्मन्यस्य हि पुरतः सूक्तमरण्यरुदितं स्याद्विप्लवेत च। तदाह—

जो मूर्ख अपने को स्वयं ही कवि मानता है, उसे 'हाँ में हाँ' मिलाकर प्रसन्न करते रहना उचित है; क्योंकि उसके सामने उत्तमोत्तम सूक्तियाँ भी सुनाई जायँ, तो अरण्य-रोदन के समान उनकी दुर्दशा होती है। प्राचीन विद्वानों ने कहा भी है—

इदं हि वैदग्ध्यरहस्यमुत्तमं
पठेन्न सूक्तिं कविमानिनः पुरः।
न केवलं तां न विभावयत्यसौ
स्वकाव्यबन्धेन विनाशयत्यपि॥

कवि की चातुरी का यही महान् रहस्य है कि कविमानी के सामने अपनी सूक्ति का पाठ कभी न करे। कारण यह कि वह कविमानी, उस सूक्ति का महत्त्व सर्वथा नहीं समझता—इतना ही नहीं, प्रत्युत उसमें अपनी टाँगें अड़ाकर उसे नष्ट-भ्रष्ट भी कर देता है।

कविचर्या

अनियतकालाः प्रवृत्तयो विप्लवन्ते तस्माद्दिवसं निशां च यामक्रमेण चतुर्द्धा विभजेत्। स प्रातरुत्थाय कृतसन्ध्यावरिवस्यः सारस्वतं सूक्तमधीयीत। ततो विद्यावसथे यथासुखमासीनः काव्यस्य विद्या उपविद्याश्चानुशीलयेदाप्रहरात्। न ह्येवंविधमन्यत्प्रतिभाहेतुर्यथा प्रत्यग्रसंस्कारः।

समय का नियमित विभाग न करके किये जानेवाले काम अस्तव्यस्त हो जाते हैं। इसलिए, दिन और रात को प्रहरों के हिसाब से चार-चार भागों में विभक्त कर दे। कवि, प्रातःकाल उठकर सन्ध्या-पूजा करने के पश्चात् सरस्वती-स्तोत्र का पाठ करे। तदनन्तर विद्या-भवन में आनन्द से बैठकर एक प्रहर तक काव्य की विद्याओं और उपविद्याओं का अभ्यास करे। प्रतिभा बढ़ाने के लिए अभ्यास से संस्कार को प्रत्यग्र (ताजा) करने के अतिरिक्त दूसरा उपाय नहीं है।

द्वितीये काव्यक्रियाम्। उपमध्याह्नं स्नायादविरुद्धं भुञ्जीत च। भोजनान्ते काव्यगोष्ठीं प्रवर्त्तयेत्। कदाचिच्च प्रश्नोत्तराणि भिन्दीत। काव्यसमस्याधारणा, मातृकाभ्यासः, चित्रा योगा इत्यायामत्रयम्।

दूसरे प्रहर में काव्य-रचना का अभ्यास करे। मध्याह्नकाल के कुछ पहले ही स्नान करे तथा प्रकृति के अनुकूल भोजन करे। भोजन के पश्चात् काव्य-गोष्ठी, अर्थात् काव्य-विषयक चर्चा करे। इस गोष्ठी में कभी-कभी प्रश्नों, उत्तरों और प्रत्युत्तरों द्वारा विवेचन करे। इसी अवसर पर काव्य-सम्बन्धी विविध समस्याओं का विवेचन, सुन्दर अक्षरों का अभ्यास

एवं चित्रकला या चित्रकाव्य-सम्बन्धी रचनाएँ करे। इस प्रकार तीन प्रहर तक का कार्य विभाग हुआ।

चतुर्थ एकाकिनः परिमितपरिषदो वा पूर्वाह्णभागविहितस्य काव्यस्य परीक्षा। रसावेशतः काव्यं विरचयतो न च विवेक्त्री दृष्टिस्तस्मादनुपरीक्षेत। अधिकस्य त्यागो, न्यूनस्य पूरणं, अन्यथास्थितस्य परिवर्त्तनं, प्रस्मृतस्यानुसन्धानं चेत्यहीनम्।

चौथे प्रहर में एकाकी या दो-चार अभिन्न मित्रों के साथ प्रातःकाल की गई रचनाओं का पुनर्निरीक्षण आदि करे। गुण-दोष की विवेचना करे। भावावेश में लिखे गये काव्य की रचना करनेवाले की दृष्टि विवेचन नहीं कर पाती। अतः, कुछ समय के पश्चात उसके पुनः परीक्षण की आवश्यकता होती है। पुनः परीक्षण के समय निष्प्रयोजन अधिक पदों को निकालना, छूटे हुए पदों की पूर्त्ति करना, इधर-उधर लिखे गये अव्यवस्थित पदों को सजाकर रखना और भूले या छूटे पदों का अनुसन्धान, स्मरण आदि करना—यह दिन के चतुर्थ प्रहर का कार्य है। यह दैनिक कृत्य है।

सायं सन्ध्यामुपासीत सरस्वतीं च। ततो दिवा विहितपरीक्षितस्याभिलेखनमाप्रदोषात्। यावदार्त्ति स्त्रियमभिमन्येत। द्वितीयतृतीयौ साधु शयीत। सम्यक्स्वापो वपुषः परमारोग्याय। चतुर्थे सप्रयत्नं प्रतिबुध्येत। ब्राह्मे मुहूर्त्ते मनः प्रसीदत्तांस्तानर्थानध्यक्षयतीत्याहोरात्रिकम्।

इसी प्रकार, सायंकाल के प्रथम प्रहर में सायं सन्ध्या-वन्दन और सरस्वती-स्तोत्र का पारायण करे तथा दिन में लिखी हुई एवं पुनः परीक्षित काव्य-रचना को प्रथम प्रहर के अन्त तक लिख डाले। इसके पश्चात् जबतक श्रम-निवृत्ति न हो, तबतक स्त्री के साथ रमण करे। दूसरे और तीसरे प्रहर में भली भाँति शयन करे; क्योंकि अच्छी निद्रा आना स्वास्थ्य के लिए आवश्यक है। चौथे प्रहर में अवश्य ही उठ जाय। कारण यह कि ब्राह्म मुहूर्त्त में मन निर्मल रहता है, अतः गूढ-से-गूढ और अलौकिक विषयों का भी प्रत्यक्षीकरण होता है। यह दिन-रात की कविचर्या है।

कविप्रकार

चतुर्विधश्चासौ। असूर्यम्पश्यो, निषण्णो, दत्तावसरः, प्रायोजनिकश्च।

कवि चार प्रकार के होते हैं, असूर्यम्पश्य, निषण्ण, दत्तावसर और प्रायोजनिक।

यो गुहागर्भभूमिगृहादिप्रवेशान्नैष्ठिकवृत्तिः कवते, असावसूर्यम्पश्यस्तस्य सर्वे कालाः।

जो गिरि-कन्दराओं (गुफाओं) या भू-गर्भगृहों में प्रवेश करके स्थिरचित्त होकर कविता करता है, उसे असूर्यम्पश्य कहते हैं। उसके लिए कविता करने का कोई निश्चित काल नहीं है। वह सभी कालों में रचना कर सकता है।

यः काव्यक्रियायामभिनिविष्टः कवते न च नैष्ठिकवृत्तिः, स निषण्ण-स्तस्यापि त एव कालाः ।

काव्य-रचना की आग्रह-पूर्ण इच्छा होने पर ही जो काव्य-रचना करता है; परन्तु सावधान-चित्त नहीं है, वह निषण्ण कवि कहलाता है। निषण्ण कवि के लिए भी सभी समय समान हैं। वह किसी भी समय रचना कर सकता है

यः सेवादिकमविरुन्धानः कवते, स दत्तावसरस्तस्य कतिपये कालाः । निशायास्तुरीयो यामार्द्धः स हि सारस्वतो मुहूर्त्तः । भोजनान्तः सौहित्यं हि स्वास्थ्यमुपस्थापयति; व्यवायोपरमः यदार्त्तिविनिवृत्तिरेकमेकाग्रतायतनं याप्ययानयात्रा । विषयान्तरविनिवृत्तं हि चित्तं यत्र यत्र प्रणिधीयते तत्र तत्र गुडूचीलागं लगति । यदा यदा चात्मनः क्षणिकतां मन्यते स स काव्यकरणकालः ।

जो अपने अध्यापन या अन्यान्य सेवा-कार्यों को यथासमय सम्पन्न करते हुए, उससे अवसर मिलने पर कविता करता है, वह दत्तावसर कवि कहा जाता है। उसके लिए रचनाकाल निश्चित-सा है। जैसे—रात्रि के चतुर्थ प्रहर के आधे भाग को सारस्वत मुहूर्त कहा जाता है। इस समय सरस्वती की प्रसन्नता से बुद्धि-स्फुरण होता है। दूसरा, भोजन के बाद का समय। तृप्ति होने के कारण चित्त स्थिर हो जाता है और उसमें स्फूर्त्ति आ जाती है। रमण करने के बाद का समय भी काव्य-रचना के अनुकूल होता है; क्योंकि वासना की निवृत्ति या श्रमकारक कार्यों की समाप्ति के अनन्तर सभी इन्द्रियों और मन की चपलता दूर हो जाती है एवं एकाग्रता आ जाती है। इनके अतिरिक्त पालकी आदि वाहनों द्वारा लम्बी यात्रा करने का समय भी काव्य-रचना के लिए उपयुक्त होता है; क्योंकि उस समय चित्त एकाग्र रहता है और अन्य चिन्ताओं से मुक्त भी रहता है। विषयान्तरों से मुक्त चित्त इस कार्य में ऐसा लगता है, जैसे रोगों पर गुरुच लगती है। इसके अतिरिक्त दत्तावसर कवि जब-जब अपने कार्यों से अवकाश प्राप्त करता है, तभी उसका रचना-काल होता है।

यस्तु प्रस्तुतं किञ्चन संविधानकमुद्दिश्य कवते, स प्रायोजनिकस्तस्य प्रयोजनवशात्कालव्यवस्था ।

जो प्रसंगवशात् उपस्थित किसी विषय के लिए कविता करता है, वह प्रायोजनिक कवि कहा जाता है। उसकी काव्य-रचना का समय उसके प्रयोजन के अनुसार समझा जाता है।

बुद्धिमदाहार्यबुद्ध्योरियं नियममुद्रा । औपदेशिकस्य पुनरिच्छैव सर्वे कालाः, सर्वाश्च नियममुद्राः ।

ये उपर्युक्त नियम बुद्धिमान् और आहार्यबुद्धि कवि के लिए बतलाये गये हैं। औपदेशिक कवि के असूर्यम्पश्य आदि भेद नहीं होते। उसके लिए समय और नियम की कोई व्यवस्था नहीं है। उसकी इच्छा ही काल और नियम—सब कुछ है।

पुरुषवत् योषितोऽपि कवीभवेयुः। संस्कारो ह्यात्मनि समवैति, न स्त्रैणं पौरुषं वा विभागमपेक्षते। श्रूयन्ते दृश्यन्ते च राजपुत्र्यो महामात्यदुहितरो गणिकाः कौतुकिभार्याश्च शास्त्रप्रहतबुद्धयः कवयश्च।

पुरुषों के समान स्त्रियाँ भी कवि हो सकती हैं। कवित्व-शक्ति, संस्कार-विशेष से प्राप्त होती है। वह संस्कार आत्मा में नित्य-सम्बन्ध या समवाय-सम्बन्ध से रहता है। उसके लिए पुरुष या स्त्री आदि भेद-भाव नहीं है। कितनी ही राजकुमारियाँ, राजमंत्रियों की पुत्रियाँ, गणिकाएँ एवं नटनियाँ शास्त्रों के ज्ञान से स्फीत-प्रतिभा-संपन्न और कवयित्रियाँ सुनी और देखी जाती हैं।

सिद्धं च प्रबन्धमनेकादर्शगतं कुर्यात्। यदित्थं कथयन्ति—

"निक्षेपो विक्रयो दानं देशत्यागोऽल्पजीविता।
त्रुटिको वह्निरम्भश्च प्रबन्धोच्छेदहेतवः॥
दारिद्र्यं व्यसनासक्तिरवज्ञा मन्दभाग्यता।
दुष्टे द्विष्टे च विश्वासः पञ्च काव्यमहापदः॥"

"कवि को चाहिए कि अपना काव्य-प्रबन्ध पूर्णरूपेण सम्पन्न हो जाने पर उसे सभाओं में सुनाकर, विद्वानों को सूचना देकर, उसकी अनेक प्रतिलिपियाँ कराकर तथा अन्यान्य समुपलब्ध साधनों द्वारा उसका प्रचार करे। ऐसा कहा जाता है कि प्रबन्ध, किसी के पास धरोहर के रूप में रख देने से, बेच देने से, दान कर देने से, देशत्याग कर देने से, अल्पायु होने से, अपूर्ण रह जाने से अग्नि एवं जल आदि से विनष्ट हो जाते हैं।

प्रबन्धों के विनाश के अन्यान्य कारण भी होते हैं। जैसे—दरिद्रता, दुर्व्यसनों में आसक्ति, काव्यक्रिया का तिरस्कार, दुर्भाग्य, दुष्टों और शत्रुओं पर विश्वास, काव्यों के लिए ये पाँच बड़ी आपत्तियाँ हैं। इनसे भी प्रबन्ध अधूरे रह जाते हैं।"

पुनः समापयिष्यामि, पुनः संस्करिष्यामि, सुहृद्भिः सह विवेचयिष्यामीति कर्तुराकुलता राष्ट्रोपप्लवश्च प्रबन्धविनाशकारणानि।

काव्य-रचना के समय, उसका संस्कार करते समय या उसकी परीक्षा करते समय 'फिर किसी समय समाप्त कर लूँगा', 'फिर कभी ठीक कर लूँगा', 'मित्रों के साथ विचार कर फिर कभी संशोधन करूँगा', इस प्रकार सोचना या राष्ट्र-विप्लव होना—ये सब भी काव्य-प्रबन्धों के नष्ट होने या अधूरे रह जाने के कारण होते हैं।

"अहर्निशाविभागेन य इत्थं कवते कृती।
एकावलीव तत्काव्यं सतां कण्ठेषु लम्बते॥

"जो कवि, ऊपर कहे हुए ढंग से दिन और रात का विभाग करके कविता की रचना करता है, उसका काव्य मोतियों की (एक लड़ी) माला के समान विद्वानों के कण्ठ में सुशोभित होता है।

यथा यथाभियोगश्च संस्कारश्च भवेत्कवेः ।
तथा तथा निबन्धानां तारतम्येन रम्यता ॥

कवि का चित्त, काव्य-रचना में ज्यों-ज्यों आकृष्ट और संस्कृत होता जाता है; वैसे-वैसे उसकी रचना, भाषा, भाव आदि परिमार्जित होते जाते हैं तथा उसी तारतम्य (अनुपात) से उसके काव्य में सौन्दर्य की वृद्धि होती जाती है।

मुक्तके कवयोऽनन्ताः सङ्घाते कवयः शतं ।
महाप्रबन्धे तु कविरेको द्वौ दुर्लभास्त्रयः ॥"

प्रकीर्ण (फुटकर) कविताओं की रचना करनेवाले कवि अगणित होते हैं, किसी एक विषय पर कविता करनेवाले कवि भी सैकड़ों मिलते हैं, परन्तु महाकाव्य के निर्माण करनेवाले अत्यल्प हैं। वे एक-दो तो मिल सकते हैं और सम्भवतः तीन तो दुर्लभ ही हों।"

अत्राह स्म—

"बह्वपि स्वेच्छया कामं प्रकीर्णमभिधीयते ।
अनुज्झितार्थसम्बन्धः प्रबन्धो दुरुदाहरः ॥

इस विषय में प्राचीन कवियों ने कहा है—

"प्रकीर्ण (फुटकर) विषयों पर अपने इच्छानुसार स्वतन्त्रता से बहुत-कुछ कहा जा सकता है; किन्तु शास्त्र-संगत एवं पदार्थ-संगति से युक्त सन्दर्भ इने-गिने ही मिलते हैं।

रीतिं विचिन्त्य विगणय्य गुणान्विगाह्य
शब्दार्थसार्थमनुसृत्य च सूक्तिमुद्राः ।
कार्यो निबन्धविषये विदुषा प्रयत्नः
के पोतयन्त्ररहिता जलधौ प्लवन्ते ॥

विद्वान् कवि को चाहिए कि वह पहले वैदर्भी आदि रीतियों को एवं ओज आदि गुणों को जानकर, शब्द, अर्थ और उन दोनों के पारस्परिक सम्बन्ध को समझकर तथा प्राचीन सूक्तिकारों की शैली का अनुशीलन करने के पश्चात् कविता-विषयक प्रबन्ध लिखने का यत्न करे। ऐसा कौन व्यक्ति है, जो विना पोतयन्त्र (जहाज) के समुद्र को तैर सके। अर्थात्, ये उक्त कार्य काव्य-रचना के साधन हैं।

लीढाभिधोपनिषदां सविधे बुधाना-
मभ्यस्यतः प्रतिदिनं बहुदृश्वनोऽपि ।
किञ्चित्कदाचन कथञ्चन सूक्तिपाका-
द्वाक्तत्त्वमुन्मिषति कस्यचिदेव पुंसः ॥

व्याकरण-मीमांसा आदि शास्त्रों के गहन-रहस्यों के मर्मज्ञ विद्वानों के भी सम्पर्क में निरन्तर अभ्यास करनेवाले तथा अनेक शास्त्रपारङ्गत किसी विद्वान् कवि की काव्य-रचना में, परिपक्वता के कारण होनेवाली अलौकिक रमणीयता का आविर्भाव, कदाचित् ही होता है।

इत्यनन्यमनोवृत्तेर्निःशेषेऽस्य क्रियाक्रमे।
एकपत्नीव्रतं धत्ते कवेर्देवी सरस्वती॥

इस प्रकार, अनन्य मनोवृत्ति से अभ्यास करनेवाले कवि के समस्त रचना-सम्बन्धी कार्यक्रम में सरस्वती देवी, एकपत्नीव्रत धारण करती है, अर्थात् सर्वथा वशीभूत हो जाती है।

सिद्धिः सूक्तिषु सा तस्य जायते जगदुत्तरा।
मूल्यच्छायां न जानाति यस्याः सोऽपि गिरां गुरुः॥"

इस क्रम से अभ्यास-साधना-करनेवाले कवि की सूक्तियों में वह सिद्धि प्राप्त होती है, जिसके सौन्दर्य के मूल्य को स्वयं बृहस्पति भी नहीं आँक सकते।"

कवि की अच्छी-से-अच्छी रचना का महत्त्व और प्रचार तब होता है, जब सहृदय समालोचक उसकी प्रशंसा करें, राजा की ओर से उसका सम्मान हो एवं उसे राजाश्रय प्राप्त हो। इसी उद्देश्य से राजचर्या का निरूपण भी किया जाता है।

राजचर्या

राजा कविः कविसमाजं विदधीत। राजनि कवौ सर्वो लोकः कविः स्यात्। स काव्यपरीक्षायै सभां कारयेत्। सा षोडशभिः स्तम्भैश्चतुर्भिर्द्वारैरष्टभिर्मत्तवारणीभिरुपेता स्यात्। तदनुलग्नं राज्ञः केलिगृहम्। मध्येसभं चतुःस्तम्भान्तरा हस्तमात्रोत्सेधा समणिभूमिका वेदिका। तस्यां राजासनम्। तस्य चोत्तरतः संस्कृताः कवयो निविशेरन्। बहुभाषाकवित्वे यो यत्राधिकं प्रवीणः स तेन व्यपदिश्यते। यस्त्वनेकत्र प्रवीणः स संक्रम्य तत्र तत्रोपविशेत्।

राजा स्वयं कवि हो और कवि-समाज की स्थापना करे। यदि राजा स्वयं कवि हो, तो उसकी प्रजा भी कवि हो जाय। वह काव्य की परीक्षा के लिए एक सभा-मंडप का निर्माण कराये। सभा-मंडप में सोलह खंभे लगे हों। चारों ओर चार द्वार हों और उसके अन्दर आठ हथिनियाँ (बरामदा-ओसारा) बनी हों। उस मंडप से मिला हुआ राजा का अपना क्रीडागृह हो। सभा-मंडप के मध्यभाग में चार खंभों के बीच एक हाथ ऊँची रत्न-जटित वेदी (चबूतरा) हो। उसपर राजा का आसन हो। उस राजासन के उत्तर की ओर संस्कृत के कवि बैठें। यद्यपि संस्कृत-भाषा का कवि अन्यान्य भाषाओं का कवि भी हो सकता है; परन्तु उसमें आधिक्य की मात्रा देखी जाती है।

अर्थात्, जो जिस भाषा में अधिक सफलता के साथ काव्य-रचना करता है, वह अनेक भाषाविद् होने पर भी उसी भाषा का कवि कहा जाता है। जो अनेक भाषाओं की रचना में समान अधिकार रखता है, वह अपने इच्छानुसार जहाँ चाहे, बैठ सकता है।

ततः परं वेदविद्याविदः प्रामाणिकाः पौराणिकाः स्मार्त्ता भिषजो मौहूर्त्तिका अन्येऽपि तथाविधाः।

इसके अनन्तर संस्कृत-कविपंक्ति में ही क्रमशः वेद और उसकी अंग-विद्याओं के ज्ञाता विद्वान, दर्शनशास्त्रवेत्ता, पौराणिक, धर्मशास्त्री, वैद्य, ज्योतिषी तथा इसी प्रकार के अन्य तान्त्रिक-मान्त्रिक आदि विद्वान् बैठें।

पूर्वेण प्राकृताः कवयः; ततः परं नटनर्त्तकगायनवादनवाग्जीवन-कुशीलवतालावचरा अन्येऽपि तथाविधाः।

राजासन के पूर्व भाग में प्राकृत-भाषा के कवि बैठें। उनके बाद नट, नर्त्तक, गायक, वादक, कथक, अभिनेता, हाथ के तालों पर नाचनेवाले तथा इसी श्रेणी के दूसरे व्यक्ति बैठें।

पश्चिमेनापभ्रंशिनः कवयः, ततः परं चित्रलेप्यकृतो माणिक्यबन्धका वैकटिकाः स्वर्णकारवर्द्धकिलोहकारा अन्येऽपि तथाविधाः।

राजासन के पश्चिम ओर अपभ्रंश-भाषाओं के कविजन बैठें। उनके अनन्तर चित्रकार—दीवारों पर पॉलिश करने, चित्र आदि लिखनेवाले चितेरे, जड़िये, जौहरी, स्वर्णकार, बढ़ई, लोहार आदि एवं इसी प्रकार के दूसरे कलाकार बैठें।

दक्षिणतो भूतभाषाकवयः; ततः परं भुजङ्गगणिकाः प्लवकशौभिक-जम्भकमल्लाः शस्त्रोपजीविनोऽन्येऽपि तथाविधाः।

दाहिनी ओर पैशाची या भूत भाषा के कवि बैठें। उनकी पंक्ति में विट, वेश्या, तैराक, रस्से पर नाचनेवाले, ऐन्द्रजालिक, दाँतों से खेल दिखलानेवाले, पहलवान, पटेबाज, विविध शस्त्रजीवी तथा मदारी आदि दूसरे लोग बैठें।

तत्र यथासुखमासीनः काव्यगोष्ठीं प्रवर्त्तयेत् भावयेत्परीक्षेत च। वासुदेव सातवाहनशूद्रकसाहसाङ्कादीन्सकलान्सभापतीन्दानमानाभ्यामनुकुर्यात्।

इस प्रकार, सभामंडप में आनन्दपूर्वक बैठा हुआ राजा काव्यगोष्ठी का प्रारम्भ कराये और कवियों की रचनाओं पर आलोचन, परीक्षण आदि कराये। यथासम्भव राजा स्वयं भी आलोचना करे। स्वयं काव्य-प्रबन्धों के प्रणेता वासुदेव, सातवाहन, शूद्रक और साहसाङ्क आदि पूर्वकाल के नृपति जिस प्रकार अपनी सभाओं में गुणियों को दान और मान से सम्मानित करते थे, उसी प्रकार राजा कवियों को पुरस्कार आदि से सत्कृत करे।

तुष्टपुष्टाश्चास्य सभ्या भवेयुः, स्थाने च पारितोषिकं लभेरन्। लोको-

त्तरस्य काव्यस्य च यथार्हा पूजा कवेर्वा। अन्तरान्तरा च काव्यगोष्ठीं शास्त्रवादाननुजानीयात्। मध्वपि नानवदंशं स्वदते।

राजा के सभासदों को प्रसन्न और समृद्ध रहना चाहिए। समय-समय पर उन्हें पारितोषिक मिलता रहे। यदि इनमें कोई लोकोत्तर या सर्वोत्कृष्ट कवि अथवा काव्य आ जाय, तो उसका आदर-सम्मान भी उसके अनुरूप ही होना चाहिए। राजा को चाहिए कि काव्य-गोष्ठी के बीच-बीच में साहित्य-चर्चा और शास्त्र-चर्चा के लिए भी विद्वानों को अनुमति दे। क्योंकि, बीच-बीच में अचार चटनी आदि के बिना मधुर-भोजन भी स्वादु नहीं लगता।

काव्यशास्त्रविरतौ विज्ञानिष्वभिरमेत। देशान्तरागतानां च विदुषामन (न्य ?) द्वारा सङ्गं कारयेदौचित्याद्यावत्स्थितिं पूजां च। वृत्तिकामांश्चोपजपेत् संगृह्णीयाच्च। पुरुषरत्नानामेक एव राजोदन्वान्भाजनम्। राजचरितं च राजोपजीविनोऽप्यनुकुर्युः। राज्ञ एव ह्यसावुपकारो यद्राजोपजीविनां संस्कारः।

काव्यगोष्ठी के अनन्तर राजा को वैज्ञानिक-गोष्ठी में सम्मिलित होना चाहिए। दूसरे देशों से आये हुए विद्वानों का अपने विद्वानों से सम्मेलन कराये। उनके यथायोग्य आतिथ्य का प्रबन्ध तथा स्थिति के अनुकूल उचित पूजा करे। जो गुणी नौकरी आदि के लिए आये हों, उनकी योग्यता को जानकर उनका सत्कार करे। जो संग्रह के योग्य हों, उनका संग्रह करे। पुरुष-रूपी रत्नों का एकमात्र आधार (समुद्र) राजा ही है। राजा के आश्रय में रहनेवाले कर्मचारियों को भी राजा का ही अनुकरण करना चाहिए। राजकर्मचारियों का सद्भाव, सद्व्यवहार और सदाचार राजा के लिए ही लाभदायक होता है। इससे भी राजा का उपकार और प्रजा में सन्तोष-वृद्धि होती है।

महानगरेषु च काव्यशास्त्रपरीक्षार्थं ब्रह्मसभाः कारयेत्।। तत्र परीक्षोत्तीर्णानां ब्रह्मरथयामं पट्टबन्धश्च।

राजा को चाहिए कि बड़े-बड़े प्रसिद्ध महानगरों में काव्यों और शास्त्रों की परीक्षा के लिए ब्रह्मसभाएँ—वेदसभाएँ—कराये। उस परीक्षा में उत्तीर्ण विद्वानों को ब्रह्मरथ में बैठाकर नगर में घुमाया जाय और उन्हें परीक्षोत्तीर्णता-सूचक पदवी दी जाय एवं उनका पट्ट (उष्णीष या उत्तरीय)-बन्ध किया जाय।

श्रूयते चोज्जयिन्यां काव्यकारपरीक्षा—

सुनते हैं, पूर्व समय में उज्जयिनी नगरी में काव्यकारों की परीक्षा होती थी। जैसा कि कहा है—

"इह कालिदासमेण्ठावत्रामररूपसूरभारवयः।
हरिचन्द्रचन्द्रगुप्तौ परीक्षिताविह विशालायाम्।।"

"इस उज्जयिनी नगरी में कालिदास, भर्त्तृमेण्ठ, अमर, रूप, आर्यसूर, भारवि, हरिचन्द्र और चन्द्रगुप्त नामक कवियों की परीक्षा हुई थी।"

श्रूयते च पाटलिपुत्रे शास्त्रकारपरीक्षा—

पाटलिपुत्र (पटना) नगर में शास्त्रकारों की परीक्षा हुई थी। इस विषय में भी सुना जाता है—

"अत्रोपवर्षवर्षाविह पाणिनिपिङ्गलाविह व्याडिः।
वररुचिपतञ्जली इह परीक्षिताः ख्यातिमुपजग्मुः॥

'यहाँ (पाटलिपुत्र में) उपवर्ष, वर्ष, पाणिनि, पिंगल, व्याडि, वररुचि और पतंजलि की परीक्षा हुई और वे यहाँ से उत्तीर्ण होकर देश में सर्वत्र प्रसिद्ध हुए।"

इत्थं सभापतिर्भूत्वा यः काव्यानि परीक्षते।
यशस्तस्य जगद्व्यापि स सुखी तत्र तत्र च॥

॥ इति राजशेखरकृतौ काव्यमीमांसायां कविरहस्ये प्रथमेऽधिकरणे
कविचर्या राजचर्या च दशमोऽध्यायः॥

इस प्रकार, जो राजा सभाओं और गोष्ठियों का आयोजन कराकर और स्वयं सभापति बनकर काव्यों की परीक्षा करता है, उसकी कीर्त्ति समस्त संसार में फैलती है और वह सर्वदा सुखी रहता है।

दशम अध्याय समाप्त

एकादशोऽध्यायः शब्दहरणम्

एकादश अध्याय : शब्दहरण

परप्रयुक्तयोः शब्दार्थयोरुपनिबन्धो हरणम्। तद्द्विधा परित्याज्यमनुग्राह्यं च। तयोः शब्दहरणमेव तावत्पञ्चधा पदतः, पादतः, अर्द्धतः, वृत्ततः, प्रबन्धतश्च।

दूसरे की काव्य-रचना में प्रयुक्त किये गये शब्दों तथा अर्थों का अपनी रचना में प्रयोग करने या ग्रहण करने का नाम 'हरण' है। यह हरण दो प्रकार का होता है—परित्याज्य, अर्थात् अग्राह्य और अनुग्राह्य, अर्थात् स्वीकार्य। इन दोनों प्रकार के हरणों में प्रथम शब्दहरण पाँच प्रकार का है—१. पदहरण, २. पादहरण, ३. अर्धहरण, ४. वृत्तहरण और ५. प्रबन्धहरण।

'तत्रैकपदहरणं न दोषाय' इति आचार्याः। 'अन्यत्र द्व्यर्थपदात्' इति यायावरीयः।

हरण के विषय में आचार्यों का मत है कि एक पद का हरण दोष नहीं कहा जा सकता।[1] यायावरीय राजशेखर कहते हैं कि यदि वह पद दो अर्थोंवाला हो, तो वस्तुतः दोष नहीं है; परन्तु द्व्यर्थक को छोड़कर पद का हरण करना उचित नहीं।

तत्र श्लिष्टस्य श्लिष्टपदेन हरणम्—

श्लिष्ट पद के द्वारा हरण का उदाहरण—

"दूराकृष्टशिलीमुखव्यतिकरान्नो किङ्किरातानिमा-
नाराद्व्यावृतपीतलोहितमुखान्किं वा पलाशानपि।
पान्थाः केसरिणं न पश्यत पुरोऽप्येनं वसन्तं वने
मूढा रक्षत जीवितानि शरणं यात प्रियां देवताम्॥"

"हे पथिको! जिन्होंने शिलीमुखों (बाणों और भ्रमरों) के समूहों को दूर से ही खींच रखा है—ऐसे इन किरातों[2] (भीलों और फूले हुए चिरायता) को क्या तुम नहीं देख रहे हो? इसके अतिरिक्त उन पलाशों[3] (पलाश-वृक्षों और राक्षसों) को भी नहीं

---

१. यहाँ आचार्य शब्द का तात्पर्य आचार्य आनन्दवर्धन से प्रतीत होता है। उपर्युक्त विषय की ध्वन्यालोक के चतुर्थ आलोक की १५वीं कारिका से तुलना कीजिए।

२. किरातनाम भू-निम्ब या चिरायता का है। दूसरे, किरात मृगयाजीवी जंगली अनार्य जाति का भी नाम है।

३. पलाशवृक्ष के नवीन पुष्प, कुछ पीतिमा लिये हुए और परिपक्व होने पर लालवर्ण के होते हैं। दूसरे, पल = मांस का अशन करनेवाले राक्षस भी पलाश कहे जाते हैं और रुधिर-पान करने के कारण उनके मुख रक्तवर्ण होते हैं, किन्तु स्वभावतः पीतवर्ण।

देख रहे हो, जिन्होंने अपने मुखों का पीलापन और लालपन प्रकट कर दिया है। फिर क्या तुम सामने ही वन में खड़े केसरी[१] (नागकेसर और सिंह) को भी नहीं देख रहे हो? हे मूर्खो! अपने-अपने प्राणों की रक्षा करो और अपनी इष्ट देवता प्रिया (पत्नी) की शरण में जाओ।"

यथा च--

"मा गाः पान्थ प्रियां त्यक्त्वा दूराकृष्टशिलीमुखम्।
स्थितं पन्थानमावृत्य किं किरातं न पश्यसि॥"

दूसरा उदाहरण—

'हे पथिक! तुम अपनी प्राणप्रिया को छोड़कर कहीं न जाओ। क्या तुम शिलीमुखों (बाणों और भ्रमरों) को आकृष्ट करके तथा मार्ग को रोककर खड़े हुए इन किरातों (भीलों और चिरायता वृक्षों) को नहीं देख रहे हो?"

पहले श्लोक में शिलीमुख, किरात, पलाश और केसरी—ये चारों श्लिष्ट (द्वयर्थक) पद हैं। दूसरे श्लोक के निर्माता कवि ने इनमें से शिलीमुख और किरात इन दो शब्दों का हरण किया है। इस प्रकार, श्लेषयुक्त दो पदों का हरण त्याज्य है।

श्लिष्टपदैकदेशेन हरणम्—

श्लिष्ट पद के एक देश के द्वारा हरण का उदाहरण—

"नाश्चर्यं यदनार्याप्तावस्तप्रीतिरयं मयि।
मांसोपयोगं कुर्वीत कथं क्षुद्रहितो जनः॥"

"अनार्य या दुष्ट व्यक्ति के साथ संसर्ग हो जाने के कारण उसने मुझसे प्रेम करना छोड़ दिया, इसमें आश्चर्य ही क्या? क्षुधा से रहित व्यक्ति मांस का उपयोग क्यों करेगा?"

यहाँ 'क्षुद्रहितः' यह पद श्लेष-युक्त है। एक ओर 'क्षुत्-रहितः', दूसरी ओर 'क्षुद-हितः' है। इस प्रकार सन्धि होने से यह प्रतीति होती है कि क्षुद्र का (अनार्य का) हितैषी व्यक्ति मुझ आर्य से प्रेम क्यों करने लगा? दूसरा श्लेष है—'मां सोपयोगं' और 'मांसोपयोगं', इसका अर्थ हुआ—'उपयोगी मुझको' और 'मांस का उपयोग'।

यथा च—

"कोपान्मानिनि किं स्फुरत्यतितरां शोभाधरस्तेऽधरः
किं वा चुम्बनकारणाद्दयित नो वायोर्विकारादयम्।
तस्मात्सुभ्रु सुगन्धिग्राहितरसं स्निग्धं भजस्वादरा-
न्मुग्धे मांसरसं ब्रुवन्निति तया गाढं समालिङ्गितः॥"

---

१. केसरी नाम नागकेसर वृक्ष का है और सिंह का भी।

दूसरा उदाहरण—

पति ने कहा—"हे मानिनि, यह तुम्हारा सुन्दर कोमल अधर क्रोध या चुम्बन के कारण फड़क रहा है। पत्नी ने कहा—प्रियतम, जैसा आप कह रहे हैं, वह कारण नहीं है। यह तो वायु के विकार से फड़क रहा है। पति ने कहा—हे सुन्दर भौंहोंवाली! यदि ऐसी बात है, तो सुगन्धित, सुस्वादु और स्निग्ध मांस-रस का सेवन करो अथवा आमोद-हर्ष से भरे हुए मेरे जैसे सरस प्रेमी का सेवन करो। ऐसा कहकर नायक ने नायिका का गाढ आलिंगन कर लिया ; क्योंकि वायु-विकार में मांस-रस उपयोगी होता है।"

इस पद्य में पहले उदाहरण के 'मांस-उपयोग' पद के एक भाग 'मांस' शब्द का समुचित हरण किया गया है। जैसे, एक ओर 'मांस-रसं' और दूसरी ओर 'मां सरसं' यह हरण अनुग्राह्य है।

श्लिष्टस्य यमकेन हरणम्—

"हलमपारपयोनिधिविस्तृतं
प्रहरता हलिना समराङ्गणे।
निजयशश्च शशाङ्ककलामलं
निरवधीरितमाकुलमासुरम् ॥"

श्लेष-युक्त पूरे एक पाद का यमक अलंकार द्वारा हरण—

"समराङ्गण में अपार समुद्र के समान विशाल हल[1] का प्रहार करते हुए बलरामजी ने, व्याकुल दैत्य-सेना को मर्यादा से अधिक (अत्यधिक) कँपा दिया और चन्द्रिका के समान अपने अमल-धवल यश को भूलोक तथा स्वर्गलोक में पहुँचा दिया।"

यथा च—

"दलयता विशिखैर्बलमुन्मदं
निरवधीरितमाकुलमासुरम् ।
दशसु दिक्षु च तेन यशः सितं
निरवधीरितमाकुलमासुरम् ॥"

दूसरा उदाहरण—

"विष्णु ने वाणों के प्रहार से घमंडी दैत्यों की सेना को व्याकुल करते हुए ऐसा कँपा दिया, जिसकी सीमा न रही और अपने यश को दसों दिशाओं के क्रम से भू-मण्डल से देवलोक तक पहुँचा दिया।"

इस उदाहरण में 'निरवधीरितमाकुलमासुरम्' इस पाद को यमक अलंकार के रूप में ग्रहण किया गया है।

---

१. हल और मूसल श्रीकृष्ण के ज्येष्ठभ्राता बलराम के प्रसिद्ध आयुध हैं।

शिलष्टस्य प्रश्नोत्तरेण हरणम्—

"यस्यां भुजङ्गवर्गः कर्णायतेक्षणं कामिनीवदनं च ॥"

प्रश्नोत्तर के रूप में श्लेषयुक्त पद के हरण का उदाहरण—

"जिस नगरी में विट (कामुक) लोग कर्ण के समान दानी बन जाते हैं और नायिकाओं के मुख भी कान तक फैले हुए विस्तृत नेत्रों से युक्त होते हैं।"

यथा च—

"किं करोति कियत्कालं वेश्यावेश्मनि कामुकः ।
कीदृशं वदनं वीक्ष्य तस्याः कर्णायतेक्षणम् ॥"

दूसरा उदाहरण—

"प्रश्न—कामुक व्यक्ति वेश्या के घर में उसके कैसे मुख को देखकर कितने समय तक क्या करता है? उत्तर—कर्ण-पर्यन्त विस्तृत नेत्रों को देखकर क्षण-भर के लिए कर्ण बन जाता है।"

यहाँ दूसरे उदाहरण में पहले श्लोकों के अर्थ को 'कर्णायते क्षणम्'[1] इस शिलष्ट पद का प्रश्न के उत्तर-रूप में हरण किया गया है।

यमकस्य यमकेन हरणम्—

"वरदाय नमो हरये पतति जनोऽयं स्मरन्नपि न मोहरये ।
बहुशश्चक्रन्द हता मनसि दितिर्येन दैत्यचक्रं दहता ॥"[2]

यमकालंकार से यमक का हरण—

"जिसके द्वारा दैत्यवर्ग का नाश होने से मन में उत्पीडित दैत्यों की माता दिति ने बहुत रुदन किया और जिसका स्मरण करने मात्र से प्राणी मोह के वेग में नहीं पड़ता, उस वरद भगवान् विष्णु को प्रणाम है।"

यथा च—

"चक्रं दहतारं चक्रन्द हतारं खड्गेन तवाजौ राजन्नरिनारी ।"

दूसरा उदाहरण—

"हे राजन्! युद्ध में तुम्हारे खड्ग के द्वारा शत्रुदल का निर्दय संहार देखकर उनकी अंगनाएँ अत्यन्त रोने-कलपने लगीं।"

---

१. 'कर्णायतेक्षणम्' इस पद को समस्त मानने पर इसका अर्थ होता है—'कानों तक फैले हुए नेत्रवाला'। यदि इसे 'कर्णायते' और 'क्षणम्' इन दो पदों में व्यस्त कर दिया जाय, तो इसका अर्थ होता है—'क्षण-भर के लिए कर्ण के समान (दानी) बन जाता है'।

२. यह पद्य वृन्दावन—यमक काव्य का है। इसे रुद्रट ने उद्धृत किया है। देखिए रुद्रट : काव्यालङ्कार, ३-४.

इस दूसरे उदाहरण में पहले श्लोक के 'चक्रं दहता' इन दोनों पदों को 'अर' और 'आर' पद लगाकर हरण कर लिया गया है।

एवमन्योन्यसमन्वयेऽन्येऽपि भेदाः ।

ऊपर के सन्दर्भ में जिस प्रकार पद और पाद के द्वारा शब्दहरण के अनेक प्रकार प्रदर्शित किये गये हैं, उसी प्रकार पद, पाद आदि समस्त भेदों का परस्पर समन्वय करने पर बहुत-से भेद हो सकते हैं, जिन्हें स्वयं समझना चाहिए।

नन्विदमुपदेश्यमेव न भवति । यदित्थं कथयन्ति—

यहाँ यह आशंका उत्पन्न होती है कि यह हरण तो एक प्रकार की चोरी है, अतः इसका उपदेश ही न करना चाहिए ; क्योंकि ऐसा कहते हैं—

"पुंसः कालातिपातेन चौर्यमन्यद्विशीर्यति ।
अपि पुत्रेषु पौत्रेषु वाक्चौर्यं च न शीर्यति ॥"[1]

"अन्यान्य चोरियों से लगनेवाला मनुष्य का लाञ्छन तो कुछ समय बीतने पर मिट जाता है ; किन्तु वाणी की चोरी का लाञ्छन पुत्र, पौत्र आदि अनेक पीढ़ियों तक नहीं मिटता।"

"अयमप्रसिद्धः प्रसिद्धिमानहम्, अयमप्रतिष्ठःप्रतिष्ठावानहम्, अप्रक्रान्तमिदमस्य संविधानकं प्रक्रान्तं मम, गुडूचीवचनोऽयं मृद्वीकावचनोऽहम्, अनादृतभाषाविशेषोऽयमहमादृतभाषाविशेषः, प्रशान्तज्ञातृकमिदं, देशान्तरितकर्तृकमिदम्, उच्छिन्ननिबन्धनमूलमिदं, म्लेच्छितकोपनिबन्धनमूलमिदमित्येवमादिभिः कारणैः शब्दहरणेऽर्थहरणे चाभिरमेत" इति अवन्तिसुन्दरी ।

इस शंका का समाधान अवन्तिसुन्दरी ने इस प्रकार किया है—"अपनी काव्य-रचना का सौन्दर्य एवं अपनी प्रतिष्ठा आदि की वृद्धि के लिए शब्दहरण और अर्थ-हरण करना उचित है। अतः, यह विषय उपदेश देने योग्य है। यदि किसी अप्रसिद्ध कवि के काव्य में हरण करने योग्य पद, पाद आदि हैं, तो प्रसिद्ध कवि यह सोचकर उसका हरण करेगा कि उसके सामने अप्रसिद्ध कवि की बात पर लोग विश्वास न करेंगे। दूसरे, प्रसिद्ध कवि, साधन-हीन अप्रसिद्ध कवि के काव्य से हरण करके अपने प्रभाव से उसका प्रचार करेगा, तो अप्रसिद्ध कवि की बातें कौन मानेगा ? इसी प्रकार, हरण करनेवाला कवि यह सोचकर दूसरे के काव्य से हरण करे कि 'इसका काव्य प्रचलित नहीं है, मेरा काव्य प्रचलित है', 'इसका काव्य गुडूची-पाक (कटु) है और मेरा द्राक्षापाक (मधुर) है',

---

१. काव्यमीमांसा की हस्तलिखित प्रति में 'विशीर्यति' और 'शीर्यति'—ये परस्मैपद प्रयोग किये गये हैं। पाणिनीय व्याकरण के अनुसार 'विशीर्यते' और 'शीर्यते' यह पाठ शुद्ध है। हेमचन्द्र ने इन दोनों क्रियाओं का प्रयोग आत्मनेपद में ही किया है।

'यह दूसरी भाषा का कवि है, मैं दूसरी भाषा का कवि हूँ', 'इस काव्य को जाननेवाले प्रायः मर गये,' 'यह दूसरे देश के निवासी कवि की रचना है,' 'इसे इस देश में कौन जानेगा', 'इसके निबन्धन का मूल ही समाप्त हो गया है', 'मेरा काव्य म्लेच्छ भाषा के आधार पर है, अतः मेरे काव्य की किसी प्रकार निन्दा न होगी'—इत्यादि।

'त्रिभ्यः पदेभ्यः प्रभृति त्वश्लिष्टेभ्यो हरणम्' इति आचार्याः।

यथा—

"स पातु वो यस्य जटाकलापे
स्थितः शशाङ्कः स्फुटहारगौरः।
नीलोत्पलानामिव नालपुञ्जे
निद्रायमाणः शरदीव हंसः॥"

'आचार्यों का मत है कि श्लेष-रहित तीन पदों तक का हरण हो सकता है।' जैसे—

"शरद् ऋतु में नील कमलों की नालों के ढेर पर सोये हुए हंस के समान शोभा धारण करनेवाला अमल-धवल चन्द्रमा, जिसके काले जटाजूट पर विशुद्ध मुक्ताहार की-सी शोभा धारण करता है, वे भगवान् शंकर आप लोगों की रक्षा करें।"

यथा च—

"स पातु वो यस्य हतावशेषा-
स्तत्तुल्यवर्णाञ्जनरञ्जितेषु।
लावण्ययुक्तेष्वपि वित्रसन्ति
दैत्याः स्वकान्तानयनोत्पलेषु॥"

दूसरा उदाहरण—

"देवासुर-संग्राम में विनाश से बचे हुए दैत्य, अपनी पत्नियों के अंजनरहित एवं कृष्णवर्ण लावण्यमय नयन-कमलों को निहारकर जिसकी स्मृति से त्रस्त (भयभीत) हो उठते हैं, वे विष्णु आपकी रक्षा करें।" अर्थात्, स्त्रियों के काले नयन—कमलों को देखकर उन्हें कृष्णवर्ण कमलनयन (विष्णु) का स्मरण हो आता है।

इस पद्य में प्रथम श्लोक के 'सः, पातु, वः' इन तीन पदों का अपहरण किया गया है। आचार्यों के मत से यह हरण नहीं है।

'न' इति यायावरीयः। उल्लेखवान्पदसन्दर्भः परिहरणीयो नाप्रत्यभिज्ञायातः पादोऽपि। तस्यापि साम्येन किञ्चन दुष्टं स्यात्।

आचार्यों के इस मत का खण्डन करते हुए यायावरीय कहते हैं कि—'उनका (आचार्यों का) यह कथन उचित नहीं कि तीन पदों का हरण सह्य हो सकता है।

१. यह पद्य सुभाषितावली में चन्द्रक कवि के नाम से उद्धृत है। राजतरङ्गिणी के अनुसार यह कश्मीर का नाटयकार कवि था। यह श्लोक ध्वन्यालोकलोचन में भी आया है।

कारण यह कि जिसके निर्माण में कवि की प्रतिभा का व्यय हुआ हो, ऐसे उल्लेखनीय पद का हरण न करना चाहिए। हाँ, जो अत्यन्त प्रसिद्ध हो गया हो, जिसके श्रवण-मात्र से सुननेवालों को उसके कर्त्ता का स्मरण हो जाय, ऐसे पद ही नहीं, पाद का भी हरण उचित है। यदि वह उल्लेखनीय नहीं है, तो अन्य काव्य से उसकी समता होने पर भी कोई दोष नहीं है।'

यथा—

"इत्युक्तवानुक्तिविशेषरम्यं
मनः समाधाय जयोपपत्तौ।
उदारचेता गिरमित्युदारां
द्वैपायनेनाभिदधे नरेन्द्रः॥"[1]

उदाहरण—

"उदारचरित राजा युधिष्ठिर द्वारा एकाग्रचित्त होकर अत्यन्त रमणीय शब्दों से प्रार्थना किये गये भगवान् वेदव्यास ने हृदयग्राही और प्रामाणिक शब्दों में कहना प्रारम्भ किया।"

यथा च—

इत्युक्तवानुक्तिविशेषरम्यं
रामानुजन्मा विरराम मानी।
सङ्क्षिप्तमाप्तावसरं च वाक्यं
सेवाविधिज्ञैः पुरतः प्रभूणाम्॥"

दूसरा उदाहरण—

'आत्माभिमानी लक्ष्मण, इस प्रकार अत्यन्त रमणीय शब्दों में अपना भाव व्यक्त करके चुप हो गये; क्योंकि सेवा में निपुण व्यक्ति, स्वामी के सन्मुख समयानुसार संक्षेप में ही अपना भाव व्यक्त करते हैं।"

पहले श्लोक में कहे गये 'इत्युक्तवानुक्तिविशेषरम्यम्' इस पूरे पाद को दूसरे उदाहरण में ले लिया गया है—ऐसा कोई भी कह सकता है। ऐसी वाक्यरचना 'हरण' नहीं कही जाती। इसमें कवि की प्रतिभा का प्रकर्ष नहीं है।

उल्लेखवान्यथा—

"नमः संसारनिर्वाणविषामृतविधायिने।
सप्तलोकोर्म्मिभङ्गाय शङ्करक्षीरसिन्धवे॥

उल्लेखनीय पदहरण का उदाहरण—

"उस शंकर-स्वरूप क्षीरसागर को प्रणाम है, जिसने संसार-रूपी विष और मोक्ष-रूपी

१. दे० भारवि: किरातार्जुनीय, ३—१०।

अमृत को उत्पन्न किया और जो पृथ्वी आदि सात लोक-रूपी लहरों से सुन्दर प्रतीत होता है।"

यथा च—

"प्रसरद्बिन्दुनादाय शुद्धामृतमयात्मने ।
नमोऽनन्तप्रकाशाय शङ्करक्षीरसिन्धवे ॥"

दूसरा उदाहरण—

"उस शंकर-स्वरूप क्षीरसागर को प्रणाम है, जिसमें बिन्दु और नाद-रूप जलकणों की ध्वनि सदा फैलती रहती है, जिसकी विशुद्ध आत्मा अमृतमय है और जिसके द्वारा अनन्त प्रकाश का विस्तार हो रहा है।"

यहाँ प्रथम श्लोक के 'शङ्करक्षीरसिन्धवे' इस पद का हरण किया गया है। यह पद उल्लेखनीय है। शंकर को क्षीरसमुद्र बनाकर उसे अमृत और विष का जनक सिद्ध करना सामान्य बात नहीं है। यहाँ कवि ने अपनी असाधारण प्रतिभा का व्यय किया है। अतः, उसका इस प्रकार हरण करना अनुचित और हेय है।

'पाद एवान्यथात्वकरणकारणं न हरणम् अपि तु स्वीकरणम्' इति आचार्याः ।

आचार्यों का कथन है कि 'किसी श्लोक के किसी एक पाद को ही वैपरीत्य का कारण बनाकर ले लिया जाय, तो उसे हरण नहीं कहा जा सकता; किन्तु उसे दूसरे का मानकर ग्रहण किया जाता है। अतः, उसे स्वीकरण ही कहना चाहिए।'

यथा—

"त्यागाधिकाः स्वर्गमुपाश्रयन्ते
त्यागेन हीना नरकं व्रजन्ति ।
न त्यागिनां किञ्चिदसाध्यमस्ति
त्यागो हि सर्वव्यसनानि हन्ति ॥"

जैसे—

"अपने उच्चतम त्याग के कारण उत्कृष्ट व्यक्ति स्वर्ग को प्राप्त करते हैं और त्याग-हीन व्यक्ति नरक को जाते हैं। त्यागियों के लिए असाध्य कुछ भी नहीं है। त्याग से सभी प्रकार के कष्ट दूर होते हैं।"

यथा च—

"त्यागो हि सर्वव्यसनानि हन्ती-
त्यलीकमेतद् भुवि सम्प्रतीतम् ।
जातानि सर्वव्यसनानि तस्या-
स्त्यागेन मे मुग्धविलोचनायाः ॥"

दूसरा उदाहरण—

"किसी ने ऐसा कहा है कि 'त्याग सब कष्टों को दूर करता है'। यह बात लोक में मिथ्या सिद्ध हो चुकी है। उस सरल-सुन्दर नेत्रोंवाली प्रियतमा के त्याग से ही तो मुझे सारे कष्ट झेलने पड़े हैं।"

पहले श्लोक में कहे गये 'त्यागो हि सर्वव्यसनानि हन्ति' इस पद को दूसरे का मानकर ही ग्रहण किया गया है। अतः, ऐसा स्वीकरण निर्दोष है।

तदिदं स्वीकरणापरनामधेयं हरणमेव। तद्वदर्द्धप्रयोगेऽपि। यथा—

"पादस्ते नरवर दक्षिणे समुद्रे
पादोऽन्यो हिमवति हेमकूटलग्ने।
आक्रामत्यलघु महीतलं त्वयीत्थं
भूपालाः प्रणतिमपास्य किन्नु कुर्युः॥"

यायावरीय का मत है कि उपर्युक्त स्वीकरण भी हरण ही है। इसी प्रकार एक पाद के सिवा आधे श्लोक का हरण भी होता है। जैसे—

"हे राजन्! तुम्हारा एक पैर तो दक्षिण समुद्र में है और दूसरा पैर हेमकूट से लगे हुए हिमालय पर है। इस प्रकार, जब तुमने इस विशाल भू-मण्डल को आक्रान्त कर लिया तब दूसरे नृपति तुम्हारे चरणों में प्रणत होने के सिवा और करते ही क्या?"

यथा चोत्तरार्द्धे—

"इत्थं ते विघृतपदद्वयस्य राज-
न्नाश्चर्यं कथमिव सीवनी न भिन्ना॥"

दूसरा उदाहरण—

"इस प्रकार, दो पर्वतों पर दो पैर रखने पर भी तुम्हारी सीवन (दोनों जंघाओं के बीच का जोड़) फट नहीं गई—यह परम आश्चर्य है।"

दूसरे उदाहरण में कवि ने पूर्वार्द्ध को वैसे ही रहने दिया है। केवल उत्तरार्द्ध में उसका महत्त्व बढ़ाने के लिए आश्चर्य प्रकट किया है।

एवं व्यस्तार्द्धप्रयोगेऽपि। यथा—

"तत्तावदेव शशिनः स्फुरितं महीयो
यावन्न तिग्मरुचिमण्डलमभ्युदेति।
अभ्युद्गते सकलधामनिधौ तु तस्मि-
न्निन्दोः सिताभ्रशकलस्य च को विशेषः॥

इस प्रकार अस्त-व्यस्त रूप से श्लोकार्थ का स्वीकरण भी हरण ही है। जैसे—

"आकाश में चन्द्रमा का चमकना तभी तक महत्त्वपूर्ण रहता है, जबतक सूर्य किरणों

का जाल नहीं फैलाता। समस्त तेजोनिधि सूर्य के उदय होने पर चन्द्रमा में और एक छोटे से उजले बादल के टुकड़े में कोई भेद नहीं रह जाता। दोनों एक-से ही प्रतीत होते हैं।"

यथा च—

"तत्तावदेव शशिनः स्फुरितं महीयो
यावन्न किञ्चिदपि गौरतरा हसन्ति।
ताभिः पुनर्विहसिताननपङ्कजाभि-
रिन्दोः सिताभ्रशकलस्य च को विशेषः॥"

दूसरा उदाहरण—

"आकाश में चन्द्र की धवल किरणों का महत्त्व तभी तक है, जबतक अत्यन्त गौर-वर्ण ललनाएँ कुछ हँस नहीं रही हैं। जब उनके सुन्दर मुख-कमलों में हास का विकास होगा, तब चन्द्रमा में और बादल के एक उजले छोटे टुकड़े में कुछ भी भेद न रह जायगा।"

यहाँ पहले श्लोक के प्रथम और चतुर्थ पाद का हरण किया गया है। यह अस्त-व्यस्त रूप से हरण है।

पाद एवान्यथात्वकरणं न स्वीकरणं पादापहरणं वा। यथा—

जहाँ केवल एक ही पद का परिवर्त्तन करके दूसरी रचना का निर्माण किया जाता है, उसे भी स्वीकरण नहीं, प्रत्युत एक पाद को छोड़कर समस्त श्लोक का अपहरण कहा जायगा। जैसे—

"अरण्ये निर्जने रात्रावन्तर्वेश्मनि साहसे।
न्यासापह्नवने चैव दिव्या सम्भवति क्रिया॥"

"जंगल में, निर्जन स्थान में, रात्रि में, घर के भीतरी भाग में, साहस के अवसर पर और किसी के धरोहर छिपाने में; दिव्य (अलौकिक) क्रिया हो सकती है।"

यथा चोत्तरार्द्धे—

"तन्वङ्गी यदि लभ्येत दिव्या सम्भवति क्रिया।"

परिवर्त्तित उदाहरण—

"ऐसे सभी उपयुक्त अवसरों पर यदि सुन्दरी रमणी मिल जाय, तो दिव्यक्रिया सम्पन्न हो सकती है।"

यहाँ धरोहर छिपाने की बात को छोड़कर और 'तन्वङ्गी यदि लभ्येत' एक नवीन पाद बनाकर शेष तीन पादों को वैसे ही रहने दिया गया है। अतः, यह भी अपहरण ही है।

यथा वा—

"यस्य केशेषु जीमूता नद्यः सर्वाङ्गसन्धिषु।
कुक्षौ समुद्राश्चत्वारस्तस्मै तोयात्मने नमः॥"

इसी पादत्रय-हरण का एक और उदाहरण—

"जिसके केशों में मेघ हैं, जिसकी एक-एक अंग-सन्धि में एक-एक नदी है और जिसकी कोख में चारों समुद्र हैं, उस जल-स्वरूप भगवान् को नमस्कार है।"

यथा चोत्तरार्द्धे—

"कुक्षौ समुद्राश्चत्वारः स सहेत स्मरानलम्।"

उत्तरार्द्ध में परिवर्तित उदाहरण—

"जो उक्त प्रकार से जलमय है, वह कामाग्नि का सहन कर सकता है।"

इसमें भी 'तस्मै तोयात्मने नमः' इस एक पाद को हटाकर और 'स सहेत स्मरानलम्' यह एक पाद जोड़ दिया गया है। शेष तीन पाद प्रथम पद्य के ही हैं।

भिन्नार्थानां तु पादानामेकेन पादेनान्वयनं कवित्वमेव। यथा—

"किमिह किमपि दृष्टं स्थानमस्ति श्रुतं वा
व्रजति दिनकरोऽयं यत्र नास्तं कदाचित्।
भ्रमति विहगसार्थानित्थमापृच्छमानो
रजनिविरहभीतश्चक्रवाको वराकः॥"

भिन्न भिन्न अर्थवाले अनेक पादों को एक पाद से मिलाकर अर्थ-संगति कर देना हरण नहीं कहा जा सकता; किन्तु वह भी एक प्रकार का कवित्व है और उसमें कवि की प्रतिभा का चमत्कार होता है। उदाहरण—

"रात्रि में होनेवाले प्रिया-वियोग से भीत बेचारा चकवा, पक्षियों से यह पूछता फिरता है कि भाई, तुमने पृथ्वी पर कोई ऐसा भी स्थान देखा या सुना है, जहाँ सूर्य अस्त न होता हो।"

यथा च—

"जयति सितविलोलव्यालयज्ञोपवीती
घनकपिलजटान्तर्भ्रान्तगङ्गाजलौघः।
अविदितमृगचिह्नामिन्दुलेखां दधानः
परिणतशितिकण्ठश्यामकण्ठः पिनाकी॥"

दूसरा उदाहरण—

"विशुभ्र एवं छाती पर लटकता हुआ सर्प, जिनका यज्ञोपवीत है, जिनकी सुनहली और घनी जटाओं के जाल में गंगा की जलराशि घूमा करती है और जो मृगचिह्न-रहित (निष्कलंक) चन्द्रमा की लेखा को सिर में धारण करते हैं, परिपक्व श्याम कंठ के कारण नीलकण्ठ बने हुए उन पिनाकी शङ्कर भगवान् की जय हो।"

यथा च—

"कुमुदवनमपश्रि श्रीमदम्भोजखण्डं
त्यजति मुदमुलूकः प्रीतिमांश्चक्रवाकः।
उदयमहिमरश्मिर्याति शीतांशुरस्तं
हतविधिलसितानां ही विचित्रो विपाकः॥"[1]

तीसरा उदाहरण—

"प्रातःकाल जब कुमुद-वन मुरझाकर शोभाविहीन हो जाते हैं, तब कमलों के वन, अभिनव शोभा धारण करते हुए खिल उठते हैं। उधर उलूक (उल्लू), हर्ष-विहीन होकर अपने अँधेरे नीड़ में घुसने की चेष्टा करता है। इधर चकवा, रात्रि-वियोग के अनन्तर प्रिया-मिलन के असीम आनन्द से फूल उठता है। जब प्रचण्ड सूर्य की किरणें उदयाचल के शिखर पर आरूढ होती हैं, तब शीतरश्मि चन्द्रमा, अस्ताचल की ओर लटकने लगता है। यह आश्चर्य है कि प्राणियों को अपने-अपने कर्म के अनुसार विविध प्रकार के दुष्परिणाम भोगने पड़ते हैं।"

यथा च—

"किमिह किमपि दृष्टं स्थानमस्ति श्रुतं वा
घनकपिलजटान्तर्भ्रान्तगङ्गाजलौघः।
निवसति स पिनाकी यत्र यायात्तदस्मिन्
हतविधिलसितानां ही विचित्रो विपाकः॥"

चौथा उदाहरण—

"क्या इस लोक में कोई ऐसा स्थान देखा या सुना गया है, जहाँ पीतवर्ण की सघन जटाओं के जाल में घूमती हुई गंगा को धारण किये हुए शंकर भगवान्, निवास करते हों। मैं भी वहीं जाऊँ। आश्चर्य है कि प्राणियों को अपने-अपने कर्मानुसार भिन्न-भिन्न प्रकार के दैवदुर्विपाक भोगने पड़ते हैं।"

इस चौथे उदाहरण में कवि ने, पहले का प्रथम पाद, दूसरे का दूसरा और तीसरे का चौथा पाद लेकर एवं तीसरा पाद अपनी ओर से जोड़कर श्लोक पूरा कर दिया है। यह स्वतन्त्र प्रतिभा-प्रसूत कवित्व है, हरण नहीं।

पादोनवत्कतिपयपदप्रयोगोऽपि। यथा—

"या व्यापारवती रसान् रसयितुं काचित्कवीनां नवा
दृष्टिर्या परिनिष्ठितार्थविषयोन्मेषा च वैपश्चिती।

---

१. दे० माघ: शिशुपालवध, ११-६४।

ते द्वे अप्यवलम्ब्य विश्वमनिशं निर्वर्णयन्तो वयं
श्रान्ता नैव च लब्धमब्धिशयन त्वद्भक्तितुल्यं सुखम् ॥"[१]

पादोन (एक पादहीन) श्लोक के समान ही कुछ पदों का प्रयोग करना भी न 'हरण' है और न 'स्वीकरण' ही है। जैसे—

"संसार का वर्णन दो दृष्टियों से किया जाता है—एक तो नवीन रसमयी कवियों की दृष्टि है, जिसमें वे अभिधा, लक्षणा और व्यंजना आदि व्यापारों का प्रयोग करते हैं और दूसरी ओर प्राचीन दार्शनिक विद्वानों की दृष्टि है, जो परिनिष्ठित (वास्तविक) एवं लोक-प्रसिद्ध अर्थ का प्रामाणिक रूप से विवेचन करती है। हे समुद्रशायी भगवन्! उन दोनों दृष्टियों से समस्त विश्व का विवेचन करते-करते हम थक गये; किन्तु जो सुख तुम्हारी भक्ति में प्राप्त होता है, वह कहीं न मिला।"

यथा च चतुर्थपादे—

"श्रान्ता नैव च लब्धमुत्पलदृशां प्रेम्णः समानं सुखम् ॥"

दूसरा उदाहरण—

"हमलोग दोनों दृष्टियों से विश्व-वर्णन करते-करते थक गये; परन्तु कमलनयनाओं के प्रेम के समान सुख कहीं न मिला।"

पहले श्लोक में चतुर्थ चरण के 'अब्धिशयन त्वद्भक्तितुल्यं सुखम्'—इस टुकड़े के स्थान पर 'उत्पलदृशां प्रेम्णः समानं सुखम्' इतना जोड़ देने से पहली भक्तिरसात्मक रचना शृङ्गार-रसमयी हो गई। यह कवि की प्रतिभा का विशेष चमत्कार है। अतः, यह न 'हरण' है और न 'स्वीकरण'।

पादैकदेशग्रहणमपि पदैकदेशोपलक्षणपरम्। यथा—

"असकलहसितत्वात्क्षालितानीव कान्त्या
मुकुलितनयनत्वाद्व्यक्तकर्णोत्पलानि ।
पिबति मधुसुगन्धीन्याननानि प्रियाणां
त्वयि विनिहितभारः कुन्तलानामधीशः ॥"

पाद के एक देश का ग्रहण भी पद के एकदेश-ग्रहण का उपलक्षण है। अतः, किसी काव्य-रचना में पद के एक देश (भाग) का परिवर्त्तन कर देना भी 'हरण' या 'स्वीकरण' नहीं कहा जा सकता। जैसे—

"कुन्तल देश के राजमन्त्री से किसी ने कहा कि—हे मन्त्रिन्! कुन्तल देश का राजा तुम्हारे ऊपर सारा राज्यभार छोड़कर प्रियतमाओं के मधु-सुगन्धित मुखों का पान कर रहा है। उन प्रियतमाओं के मुख, मन्दस्मित की शोभा से धुले हुए हैं और नयनों के अधखुले रहने के कारण कमलों के कर्णफूल उनपर स्पष्ट प्रतीत हो रहे हैं।" तात्पर्य यह कि

---

१. यह श्लोक आनन्दवर्धन का है। दे० ध्वन्या० ३-४४।

यदि-उनके नयन-कमल पूर्ण रूप से खुले होते, तो कर्ण-कमल उनके आगे मन्द (फीके) पड़ जाते।

यथा चोत्तरार्द्धे—

"पिबतु मधुसुगन्धीन्याननानि प्रियाणां
मयि विनिहितभारः कुन्तलानामधीशः।"[१]

उत्तर में कहा गया कि—'कुन्तलेश्वर, राज्य का भार मुझे सौंपकर प्रियतमाओं के सुगन्धित मुखों का प्रेम से पान करें।'

यहाँ पहले श्लोक के तृतीय पाद में 'पिबति' के स्थान पर 'पिबतु' और चतुर्थ पाद में 'त्वयि' के स्थान पर 'मयि' कर देने से पहला श्लोक प्रार्थनापरक हो गया। 'पिबति' पद के एक देश (भाग) लट् लकार 'ति' के स्थान पर लोट् लकार 'तु' का प्रयोग किया गया है और 'त्वयि' के एक देश 'त्व' के स्थान पर 'अस्मद्' का प्रयोग 'म' किया गया है। अतः यह हरण या स्वीकरण—कुछ भी नहीं है।

वाक्यस्यान्यथाव्याख्यानमपि न स्वीकरणं हरणं वा। यथा—

"सुभ्रु त्वं कुपितेत्यपास्तमशनं त्यक्ता कथा योषितां
दूरादेव मयोज्झिताः सुरभयः स्रग्दामधूपादयः।
कोपं रागिणि मुञ्च मय्यवनते दृष्टे प्रसीदाधुना
सद्यस्त्वद्विरहाद्भवन्ति दयिते सर्वा ममान्धा दिशः॥"

श्लोक के सम्पूर्ण वाक्यों का ग्रहण कर उसका भिन्न रूप से व्याख्यान करना भी 'स्वीकरण' या 'हरण' नहीं है। जैसे—

"हे सुन्दर भौहोंवाली, तुम कुपित हो गई हो; इसलिए मैंने अनशन प्रारम्भ कर दिया है। स्त्रियों की चर्चा तक नहीं करता। सुगन्धित माला, फूल, धूप, इत्र आदि का सेवन तो दूर से ही छोड़ दिया। मुझपर क्रोध न करो। मुझ प्रेमी को चरणों में प्रणत देखकर भी तो प्रसन्न हो जाओ। तुम्हारे विरह में मेरे लिए सारी दिशाएँ शून्य हैं। अर्थात्, सभी ओर अन्धकार ही दीखता है।"

एतच्च कान्ताप्रसादनपरं वाक्यं कुपितदृष्टिपरतया व्याख्यातं, न स्वीकृतं हृतं वा।

यह श्लोक प्रणयकुपिता मानिनी नायिका को प्रसन्न करने के लिए है। किन्तु,

---

१. इस श्लोक की पृष्ठभूमि में एक इतिहास है। इस इतिहास पर ऐतिहासिक विद्वानों के कुछ मतभेद हैं। क्षेमेन्द्र ने इस श्लोक को 'औचित्यविचारचर्चा' में कालिदास के नाम से उद्धृत किया है। इसका सम्बन्ध कुन्तलेश के किसी राजा से है, जिसके यहाँ कालिदास विक्रमादित्य का दूत बनकर गये थे। अतः, कालिदास और विक्रम का समकालीन यह कुन्तलेश्वर कौन था, यह आजतक अनुमान और कल्पना का विषय बना है। इसपर संक्षिप्त विचार परिशिष्ट-प्रकरण में देखिए।

इसमें पड़े हुए 'दृष्टे' इस सप्तम्यन्त पद को यदि सम्बोधन मान लें, तो यही श्लोक कुपित दृष्टि को प्रसन्न करनेवाला हो जायगा और 'सुभ्रु' सम्बोधन, दृष्टि का विशेषण हो जायगा। इसको भी 'हरण' या 'स्वीकरण' नहीं कहा जा सकता।

यत्तु परकीयं स्वीयमिति प्रोक्तानामन्यतमेन कारणेन विलपन्ति, तन्न केवलं हरणम्, अपि तु दोषोदाहरणम्। मुक्तकप्रबन्धकविषयं तत्।

जो लोग पहले कहे हुए अप्रसिद्ध आदि कारणों में से किसी एक कारणवश दूसरे के काव्य को अपना बनाने का अनर्थक प्रलाप करते हैं, वे केवल हरण ही नहीं करते, प्रत्युत अपनी दुर्बलता, असमर्थता अकुलीनता आदि दोषों को भी प्रकट करते हैं। ये सब दूषण, मुक्तक-काव्यों और प्रबन्ध-काव्यों के विषय में समान रूप से लागू होते हैं।

मूल्यक्रयोऽपि हरणमेव। वरमप्राप्तिर्यशसो न पुनर्दुर्यशः।

दूसरे के काव्यों को पैसों के बलपर खरीदकर अपने नाम से प्रसिद्ध करना भी 'हरण' ही है। यश की प्राप्ति भले ही न हो; किन्तु निन्दा होना उचित नहीं।

'तद्वदुक्तिहरणम्' इति—आचार्याः।

आचार्यों का कथन है कि मूल्य देकर अन्य कवि की रचना को खरीदकर अपने नाम से प्रसिद्ध करने के समान किसी की उक्ति का हरण करना भी निन्दनीय (दोष) है।

यथा—

"ऊरुद्वन्द्वं सरसकदलीकाण्डसब्रह्मचारि।"

उदाहरण—

"मृगाक्षी की दोनों जाँघें सरस (हरे या ताजे) कदली-स्तम्भ के समान हैं।"

यथा च—

"ऊरुद्वयं कदलकन्दलयोः सदृशं
श्रोणिः शिलाफलकसोदरसन्निवेशा।
वक्षः स्तनद्वितयताडितकुम्भशोभं
सब्रह्मचारि शशिनश्च मुखं मृगाक्ष्याः॥"

दूसरा उदाहरण—

"उस मृगनयनी के दोनों ऊरु केले के खम्भे के समान चिकने और सरस हैं, श्रोणि-फलक शिलापट्ट के समान है, छाती दोनों स्तनों की शोभा से घटों की शोभा का हरण करती है और मुख चन्द्रमा का साथी है।"

यहाँ प्रथम श्लोक में ऊरु-युगल को कदली-स्तम्भ के समान बताया गया है, जिसका अनुकरण दूसरे श्लोक में भी उसी रूप में कर दिया गया है।

"उक्तयो ह्यर्थान्तरसङ्क्रान्ता न प्रत्यभिज्ञायन्ते, स्वदन्ते च; तदर्थास्तु हरणादपि हरणं स्युः" इति यायावरीयः।

यायावरीय का मत है कि 'दूसरे कवियों की अलौकिक कल्पनाओं को लेकर यदि विभिन्न अर्थों में प्रयुक्त किया जाय, तो वे हरण के रूप में पहचानी तो नहीं ही जा सकतीं; अपितु, अत्यन्त सरस और आकर्षक भी हो जाती हैं। परन्तु, हरण की गई उक्तियों का हरण तो हरण से भी गर्हित हो जाता है। वह चुराये हुए को चुराना है।'

"नास्त्यचौरः कविजनो नास्त्यचौरो वणिग्जनः।
स नन्दति विना वाच्यं यो जानाति निगूहितुम् ॥"

"काव्य-रचना करनेवाले कवि और व्यापारी—ये दोनों चोर न हों—ऐसा सम्भव नहीं है। अर्थात्, ये लोग कहीं-न-कहीं चोरी अवश्य करते हैं। इनमें प्रशंसनीय वही है, जो चोरी को छिपा सके और जिसकी निन्दा न हो। अतः जो कवि या व्यापारी चोरी को छिपा सकते हैं, वे अच्छे रहते हैं।"

"उत्पादकः कविः कश्चित्कश्चिच्च परिवर्त्तकः।
आच्छादकस्तथा चान्यस्तथा संवर्गकोऽपरः ॥"

कवियों के सम्बन्ध में कहा गया है कि "कुछ कवि उत्पादक[१] होते हैं, अर्थात् अपने प्रतिभा-बल से मौलिक काव्य-रचना करते हैं। दूसरे परिवर्त्तक कवि हैं; जो दूसरों की रचनाओं और उक्तियों को उलट-पलट कर अपने शब्दों में परिवर्त्तित कर देते हैं। कुछ आच्छादक कवि होते हैं, जो दूसरों की रचनाओं में से किये गये हरण को छिपाने में समर्थ होते हैं और चौथे संवर्गक कवि होते हैं, जो दूसरों का अर्थाहरण करके अपने शब्दों में रखने के लिए समर्थ होते हैं।"

"शब्दार्थोक्तिषु यः पश्येदिह किञ्चन नूतनम्।
उल्लिखेत्किञ्चन प्राच्यं मान्यतां स महाकविः ॥"

॥ इति राजशेखरकृतौ काव्यमीमांसायां कविरहस्ये प्रथमेऽधिकरणे
एकादशोऽध्यायः शब्दहरणानि ॥

"जो कवि शब्दों, अर्थों और उक्तियों में कुछ नये भावों को देखने की शक्ति रखता है और अपने प्रतिभा-प्रकर्ष से किसी अलौकिक वस्तु का उन्मेष करता है, उसे महाकवि मानना चाहिए।

एकादश अध्याय समाप्त

●

---

१. उत्पादक कवि के सम्बन्ध में बाणभट्ट ने भी लिखा है—
"सन्ति श्वान इवासंख्या जातिभाजो गृहे गृहे।
उत्पादका न बहवः कवयः शरभा इव ॥" —हर्षचरित, १।

द्वादशोऽध्यायः शब्दार्थहरणेषु कविप्रभेदाः प्रतिबिम्बकल्पविकल्पस्य च समीक्षा

द्वादश अध्याय : अर्थहरण के अनेक भेद

पिछले अध्याय में शब्दहरण के प्रकार, भेद आदि बताये गये हैं। उनके औचित्य की विविध प्रकार से समीक्षा भी की गई। अब इस अध्याय में अर्थहरण के सम्बन्ध में विवेचन किया जायगा।

'पुराणकविक्षुण्णे वर्त्मनि दुरापमस्पृष्टं वस्तु, ततश्च तदेव संस्कर्तु प्रयतेत' इति आचार्याः।

आचार्यों का मत है कि 'प्राचीन कवियों ने काव्यपथ को अपने इस प्रतिभा-प्रकर्ष से इतना रौंद डाला है कि इस पथ की कोई भी वर्णनीय वस्तु, उनकी तीक्ष्ण, सूक्ष्म और अलौकिक दृष्टि से नहीं बची है, अर्थात् अछूती नहीं रह गई। जो कुछ कहे जा सकते थे, वे कहे गये। नवीन विषय कुछ नहीं रह गया। अतः आधुनिक काव्यनिर्माताओं को चाहिए कि वे उसी वस्तु को काव्यकला के द्वारा सुसंस्कृत एवं सुसज्जित करने का प्रयत्न करें।'

'न' इति वाक्पतिराजः।

"आसंसारमुदारैः कविभिः प्रतिदिनगृहीतसारोऽपि।
अद्याऽप्यभिन्नमुद्रो विभाति वाचां परिस्पन्दः॥"[1]

वाक्पतिराज नाम के महाकवि कहते हैं कि 'नहीं', ऐसा नहीं है। "यह वाणी का स्रोत, असीम और अनन्त है। सृष्टिकाल से आजतक न जाने कितने ही प्रखर प्रतिभाशाली कवि, प्रतिदिन इसका तत्त्व-ग्रहण करते आ रहे हैं और ग्रहण करते रहेंगे; किन्तु यह अनादि स्रोत, आज भी उसी निर्बाध गति से, अविच्छिन्न रूप से, बहता जा रहा है।"

तत्प्रतिभासाय च परप्रबन्धेष्ववदधीत।

इसलिए, उस दुष्प्राप्य और अस्पृष्ट वस्तु की प्रतीति के लिए प्राचीन और नवीन कवियों का भली भाँति अध्ययन करना चाहिए। उससे प्रतिभा को उन्मेष प्राप्त होता है।

'तदवगाहने हि तदेकयोनयोऽर्थाः पृथक्पृथक् प्रथन्ते' इत्येके।

कुछ लोगों का कथन है कि 'दूसरे कवियों की रचनाओं का आलोचनात्मक अध्ययन करने से एक ही प्रकार के भावों की भिन्न-भिन्न प्रकार से अभिव्यक्ति होती है।'

---

१. दे० वाक्पतिराज : गौडवहो, श्लोक ८७ ; तथा आचार्य आनन्दवर्धन : ध्वन्यालोक, ४--१०।

'तत्रत्यानामर्थानां छायया परिवृत्तिः फलम्' इत्यपरे।

दूसरे कुछ विद्वान् कहते हैं, 'दूसरों की रचनाओं के सावधान अवलोकन से उनके भावों की छाया पर, स्वयं काव्य-निर्माण करने में सहायता प्राप्त हो सकती है।'

'महात्मनां हि संवादिन्यो बुद्धय एकमेवार्थमुपस्थापयन्ति, तत्परित्यागाय तानाद्रियेत' इति च केचित्।

कुछ लोग ऐसा भी कहते हैं कि 'सूक्ष्मदर्शी महात्माओं की बुद्धि समान प्रकार की होती है। अतः, उसे समान रूप से ही अर्थ-विशेष की प्रतीति होती है।[1] इसलिए, एक ही प्रकार के भाव-विशेषों के परित्याग एवं नवीन भावों की प्राप्ति के लिए दूसरों की रचनाओं का अवलोकन करना चाहिए।'

'न' इति यायावरीयः। सारस्वतं चक्षुरवाङ्मनसगोचरेण प्रणिधानेन दृष्टमदृष्टं चार्थजातं स्वयं विभजति।

यायावरीय कहते हैं कि 'उपर्युक्त सभी विचारधाराएँ उचित नहीं प्रतीत होतीं। यह एक निश्चित बात है कि ज्ञानमय चक्षु, वाणी और मन से अगोचर समाधि के द्वारा स्वयं अपने-आप निश्चय कर लेता है कि यह विषय स्पृष्ट है या अस्पृष्ट। अर्थात्, किसी ने इस विषय पर कुछ कहा भी है या नहीं? इसका निर्णय कवि को स्वयं ज्ञानमय चक्षु से हो जाता है।

तदाहुः—

सुप्तस्यापि महाकवेः शब्दार्थौ सरस्वती दर्शयति तदितरस्य तत्र जाग्रतोऽप्यन्धं चक्षुः। अन्यदृष्टचरे ह्यर्थे महाकवयो जात्यन्धास्तद्विपरीते तु दिव्यदृशः। न तत् त्र्यक्षः सहस्राक्षो वा यच्चर्मचक्षुषोऽपि कवयः पश्यन्ति। मतिदर्पणे कवीनां विश्वं प्रतिफलति। कथं नु वयं दृश्यामह इति महात्मनामहंपूर्विकयैव शब्दार्थाः पुरो धावन्ति। यत्सिद्धप्रणिधाना योगिनः पश्यन्ति, तत्र वाचा विचरन्ति कवय इत्यनन्ता महाकविषु सूक्तयः।

जैसा कि कहा है—

सरस्वती, महाकवि को सुषुप्ति-अवस्था में भी काव्यानुकूल शब्द और अर्थ का ज्ञान करा देती है। किन्तु, जो कवित्व-शक्ति से हीन हैं, वे जागरित अवस्था में भी, आँखों के रहते हुए भी, अन्धे ही रहते हैं। उन्हें ढूँढ़ने पर भी काव्यानुकूल प्रकाश नहीं मिलता। दूसरे कवियों से दृष्ट या उच्छिष्ट विषय के सम्बन्ध में महाकवि अन्धे होते हैं और दूसरों से अदृष्ट (अछूते) सर्वथा नवीन विषयों में उनकी दिव्य-दृष्टि होती है। वे अपनी प्रतिभा-प्रसूत दिव्य दृष्टि से जिन नवीन तत्त्वों को देखते हैं, उन्हें तीन आँखोंवाले शंकर और सहस्र

---

१. 'संवादास्तु भवन्त्येव बाहुल्येन सुमेधसाम्। स्थितमित्येतत्। संवादिन्यो मेधाविनां बुद्धयः।'—ध्वन्यालोक, ४—११।

आँखोंवाले देवराज इन्द्र भी नहीं देख पाते। कहा है—'जहाँ न पहुँचे रवि, वहाँ पहुँचे कवि।' महाकवियों के बुद्धि-दर्पण में समूचा विश्व, प्रतिबिम्बित होता है। उन महान् आत्माओं के सामने, शब्द और अर्थ, पहले पहुँचने की होड़ लगाकर दौड़ते रहते हैं। जिस वस्तु को समाधि-सिद्ध योगी दिव्य दृष्टि से देखते हैं, उनमें कवि वाणी द्वारा विचरण करते हैं। विद्वत्समाज में महाकवियों के सम्बन्ध में इस प्रकार की अनन्त सूक्तियाँ (कहावतें) प्रचलित हैं।

'समस्तमस्ति' इति यायावरीयः। किन्तु त्रिपथमर्थमध्यगीष्महि यदुतान्ययोनिर्निह्नुतयोनिरयोनिश्च।

यायावरीय का कथन है कि यद्यपि महाकवियों में उपयुक्त सभी अलौकिकताएँ रहती हैं तथापि हमने अर्थों और भावों का तीन प्रकार से पढ़ा है। पहला अन्ययोनि, जिसे उत्पन्न करनेवाला दूसरा कवि होता है। दूसरा नियोनि, जिसकी उत्पत्ति का ठीक-ठीक पता नहीं चलता कि इसका उत्पादक कवि कौन है और तीसरा अयोनि, जिसका उन्मेष (आविर्भाव) कवि स्वयं करता है।

तत्रान्ययोनिर्द्विधा प्रतिबिम्बकल्प आलेख्यप्रख्यश्च। निह्नुतयोनिरपि द्विधा तुल्यदेहितुल्यः परपुरप्रवेशसदृशश्च। अयोनिः पुनरेक एव। तत्र—

इनमें पहला अन्ययोनि अर्थ दो प्रकार का है—१. प्रतिबिम्बकल्प और २. आलेख्य-प्रख्य।[2] दूसरा निह्नुतयोनि अर्थ भी दो प्रकार का होता है—१. तुल्यदेहितुल्य और २. परपुरप्रवेशसदृश। अयोनि अर्थ एक ही प्रकार का होता है। इनमें प्रथम अर्थ—अन्ययोनि के दो भेदों—प्रतिबिम्बकल्प और आलेख्यप्रख्य—में प्रथम भेद प्रतिबिम्बकल्प का लक्षण कहा जाता है—

अर्थः स एव सर्वो वाक्यान्तरविरचनापरं यत्र।
तदपरमार्थविभेदं काव्यं प्रतिबिम्बकल्पं स्यात्॥

जिस रचना में दूसरे कवि के काव्य का समस्त भाव विद्यमान हो, केवल वाक्य-विन्यास में विभिन्नता हो एवं तात्त्विक भेद कुछ भी न हो, उसे प्रतिबिम्बकल्प-काव्य कहा जाता है।

यथा—

"ते पान्तु वः पशुपतेरलिनीलभासः
कण्ठप्रदेशघटिताः फणिनः स्फुरन्तः।

१. वामन ने इसे दो प्रकार का लिखा है—'अर्थो द्विविधोऽयोनिरन्यच्छायायोनिश्च। अयोनिः अकारणः, अवधानमात्रकारण इत्यर्थः। अन्यस्य काव्यस्यच्छाया तद्योनिः।'—काव्यालङ्कारसूत्र, ३, २, ७।

२. आनन्दवर्धन ने इन दोनों भेदों के नाम लिखें है—
'संवादो ह्यन्यसादृश्यं तत्पुनः प्रतिबिम्बवत्।
आलेख्यप्रख्यवत् तुल्यदेहिवच्च शरीरिणाम्॥'—ध्वन्यालोक, ४—१२।

चन्द्रामृताम्बुकणसेकसुखप्ररूढै-
र्यैरङ्कुरैरिव विराजति कालकूटः ॥"

उदाहरण—

"भगवान् पशुपति शंकर के गले में चिपके हुए भ्रमरों के समान वे काले सर्प, आप लोगों की रक्षा करें, जो नीले गले से निकले हुए एवं चन्द्रमा की अमृतमय किरणों से सींचे हुए कालकूट (विष) के अंकुरों के समान शोभा धारण करते हैं।

यथा च—

"जयन्ति नीलकण्ठस्य नीलाः कण्ठे महाहयः ।
गलद्गङ्गाम्बुसंसिक्तकालकूटाङ्कुरा इव ॥"

दूसरा उदाहरण—

"भगवान् पशुपति के विशाल जटाजूट में लटकते हुए उन श्यामवर्ण सर्पों की जय हो, जो गंगाजल के निरन्तर टपकने के कारण उगनेवाले कालकूट (विष) के अंकुरों के समान शोभित होते हैं।"

पहले श्लोक का पूरा भाव दूसरे श्लोक में आ गया है, केवल वाक्य-रचना में भेद है। अतः, दूसरा श्लोक प्रथम श्लोक के प्रतिबिम्बकल्प, अर्थात् समान है।

कियताऽपि यत्र संस्कारकर्मणा वस्तु भिन्नवद्भाति ।
तत्कथितमर्थचतुरैरालेख्यप्रख्यमिति काव्यम् ॥

आलेख्यप्रख्य का लक्षण—

प्राचीन भाव में कुछ स्वल्प संस्कार (परिवर्त्तन) आदि कर देने से यदि वह प्राचीन से भिन्न प्रतीत होने लगे, तो अर्थचतुर विद्वानों ने उसका नाम आलेख्यप्रख्य कहा है।

तत्रैवार्थे यथा—

"जयन्ति धवलव्यालाः शम्भोर्जूटावलम्बिनः ।
गलद्गङ्गाम्बुसंसिक्तचन्द्रकन्दाङ्कुरा इव ॥"

ऊपर के श्लोक में किंचित् अर्थ-परिवर्त्तन करके रचना की गई है। उदाहरण—"भगवान् के जटाजूट में विद्यमान श्वेतवर्ण के सर्पों की जय हो, जो गंगा के निरन्तर प्रवाह से सींचे जाते हुए चन्द्रमा-रूपी श्वेत-कन्द के अंकुर-से प्रतीत होते हैं।"

इसमें भाव तो वही है। अन्तर केवल इतना ही है कि गले में लिपटे हुए काले साँपों को 'विषाङ्कुर' न कहकर, जटाजूट के श्वेत सर्पों का 'चन्द्रकन्दाङ्कुर' के रूप में संस्कार किया गया है। अतः, यह आलेख्यप्रख्य है।

विषयस्य यत्र भेदेऽप्यभेदबुद्धिर्नितान्तसादृश्यात् ।
तत्तुल्यदेहितुल्यं काव्यं बध्नन्ति सुधियोऽपि ॥

निह्नुतयोनि के प्रथम भेद तुल्यदेहितुल्य-काव्य का लक्षण —

जहाँ विषय का भेद होनेपर भी, अत्यन्त सादृश्य होने के कारण अभेद की प्रतीति होती हो, उसे तुल्यदेहितुल्य-काव्य कहा जाता है। ऐसे काव्यों की रचना विद्वज्जन भी करते हैं।

यथा—

"अवीनादौ कृत्वा भवति तुरगो यावदवधिः
पशुर्धन्यस्तावत्प्रतिवसति यो जीवति सुखम्।
अमीषां निर्माणं किमपि तदभूद्गन्धकरिणां
वनं वा क्षोणीभृद्भुवनमथवा येन शरणम् ॥"

उदाहरण—

जो घोड़ा, भेड़-बकरियों आदि को भी स्थान देते हुए यावज्जीवन सुखपूर्वक जीता है, वह पशु भी धन्य है। अर्थात्, जो भी परोपकार करते हुए जीता है, वही धन्य है। और, इन दुष्ट हाथियों का जन्म तो केवल भारभूत ही है; क्योंकि इनका निवास या तो निर्जन वन में या तो राजाओं के भवन में ही हो सकता है। ये सर्वसाधारण के योग्य नहीं हैं।

अत्रार्थे—

"प्रतिगृहमुपलानामेक एव प्रकारो
मुहुरुपकरणत्वादर्घिताः पूजिताश्च।
स्फुरति हतमणीनां किन्तु तद्धाम येन
क्षितिपतिभवने वा स्वाकरे वा निवासः ॥"

दूसरा उदाहरण—

"घर-घर में पत्थरों की एक-सी ही स्थिति है। ये पत्थर, सर्वसाधारण के अत्यन्त उपयोगी होने के कारण सभी स्थानों पर पाये जाते हैं और पूजे भी जाते हैं। परन्तु, इन अभागे रत्नों की चमक-दमक व्यर्थ है, जिनका निवास खानों में या केवल राजाओं के घरों में है।"

पहले श्लोक में घोड़े और हाथी का वर्णन है तथा दूसरे में पत्थरों और मणियों का। इस प्रकार दोनों के विषय भिन्न-भिन्न हैं; परन्तु दोनों में साधारण तथा असाधारण योग्यता का वर्णन एक-सा है। अतः दोनों में अत्यन्त सादृश्य होने के कारण इसे तुल्य-देहितुल्य कहा गया है।[1]

---

१. तुल्यदेहितुल्य-काव्य के उदाहरणों के प्रथम पद्य में घोड़े और हाथी का वर्णन तथा द्वितीय पद्य में साधारण पत्थर और मणियों का वर्णन भिन्न प्रतीत होता है। किन्तु, घोड़े और पत्थरों की सर्व-साधारण के लिए उपयोगिता और हाथी एवं मणियों के लिए केवल राजाओं के लिए उपयोगिता और सर्वसाधारण के लिए अनुपयोगिता समान रूप से वर्णित की गई है। अतः, दोनों में अत्यन्त सादृश्य प्रतीत होता है। यही तुल्यदेहितुल्यता है।

मूलैक्यं यत्र भवेत्परिकरबन्धस्तु दूरतोऽनेकः।
तत्परपुरप्रवेशप्रतिमं काव्यं सुकविभाव्यम् ॥

दूसरे भेद 'पर-पुरप्रवेश-सदृश' का लक्षण—

जहाँ मूल वस्तु तो एक-सी हो, परन्तु रचना में सर्वथा भेद हो, उसे 'पर-पुरप्रवेश-सदृश' काव्य कहते हैं। इसे उत्कृष्ट कोटि के कवि भी अपनाते हैं।

यथा—

"यस्यारातिनितम्बिनीभिरभितो वीक्ष्याम्बरं प्रावृषि
स्फूर्जद्दुर्गर्जितनिर्जिताम्बुधिरवस्फाराभ्रवृन्दाकुलम् ।
उत्सृष्टप्रसभाभिषेणनभयस्पष्टप्रमोदाश्रुभिः
किञ्चित्कुञ्चितलोचनाभिरसकृद् घ्राताः कदम्बानिलाः ॥"

उदाहरण—

"जिस राजा के शत्रुओं की स्त्रियों ने, वर्षाकाल में, चारों ओर अपने गर्जन से समुद्र के गंभीर गर्जन को जीतनेवाले मेघों की सघनता से भरे हुए आकाश को देखकर, अतएव पतियों के युद्ध में जाने के भय से मुक्त होकर, आनन्द-अश्रुओं को वहाया और आँखों को कुछ सिकोड़ते हुए कदम्ब-पुष्पों की सुगन्ध से सुरभित वायु को वार-बार सूँघा।"

अत्रार्थे—

"आच्छिद्य प्रियतः कदम्बकुसुमं यस्यारिदारैर्नवं
यात्राभङ्गविधायिनो जलमुचां कालस्य चिह्नं महत् ।
हृष्यद्भिः परिचुम्बितं नयनयोर्न्यस्तं हृदि स्थापितं
सीमन्ते निहितं कथञ्चन ततः कर्णावतंसीकृतम् ॥"

इसी अर्थ का दूसरा उदाहरण—

"जिस राजा की शत्रु-रमणियों ने, यात्रा को रोकनेवाले वर्षाकाल के महान् चिह्न स्वरूप कदम्ब-कुसुमों को, अपने प्रिय पतियों से तुड़वाया और प्रसन्न होकर उन्हें चूम लिया, आँखों से लगाया, हृदय पर रखा, अन्त में उन्हें किसी प्रकार कर्णभूषण बनाया।"

यहाँ पहले श्लोक के समान ही दूसरे श्लोक में भी वर्षाकाल, शत्रुभय का परित्याग, कदम्ब-कुसुम आदि का वर्णन समान होने से दोनों में मूलतः ऐक्य है; किन्तु दोनों का उपक्रम या रचना प्रकार भिन्न है। अतः, दूसरा उदाहरण पर-पुरप्रवेश-सदृश है।

तदेतच्चतुष्टयनिबन्धनाश्च कवीनां द्वात्रिंशद्धरणोपायाः। अमीषां चार्थानामन्वर्था अयस्कान्तवच्चत्वारः कवयः, पञ्चमश्चादृष्टचरार्थदर्शी। तदाहुः—

इस प्रकार, प्रतिबिम्बकल्प आदि चारों अर्थों के आधार पर कवियों के लिए अर्थहरण के बत्तीस उपाय बताये गये हैं। इन चारों अर्थों के नाम और गुण के अनुरूप भ्रामक, चुम्बक आदि चार प्रकार के कवि भी होते हैं और पाँचवाँ अयोनि, अर्थात् मौलिक कल्पना करनेवाला 'चिन्तामणि' नामक कवि होता है। कहा भी है—

भ्रामकश्चुम्बकः किञ्च कर्षको द्रावकश्च सः ।
स कविर्लौकिकोऽन्यस्तु चिन्तामणिरलौकिकः ॥

लौकिक कवि चार प्रकार के होते हैं—भ्रामक, चुम्बक, कर्षक और द्रावक[1]। इनके अतिरिक्त पाँचवाँ अलौकिक कवि है, जो चिन्तामणि कहा जाता है।

क्रमशः उनके लक्षण—

तन्वानोऽनन्यदृष्टत्वं पुराणस्यापि वस्तुनः ।
योऽप्रसिद्ध्यादिभिर्भ्राम्यत्यसौ स्याद्भ्रामकः कविः ॥

जो कवि, प्राचीन रचना को अपनी बनाई हुई सिद्ध करता है एवं उसे नवीन रचना बताकर प्रचारित करता हुआ अप्रसिद्ध आदि कारणों से लोगों को भ्रम में डाल देता है, वह 'भ्रामक' कवि है।

यश्चुम्बति परस्यार्थं वाक्येन स्वेन हारिणा ।
स्तोकार्पितनवच्छायं चुम्बकः स कविर्मतः ॥

जो कवि, दूसरे के भाव को अपने मनोहर शब्दों की योजना से कुछ नवीन शोभा प्रदान करते हुए अपना लेता है, वह 'चुम्बक' कवि कहा जाता है।

परवाक्यार्थमाकृष्य यः स्ववाचि निवेशयेत् ।
समुल्लेखेन केनापि स स्मृतः कर्षकः कविः ॥

जो कवि, अपनी विलक्षण प्रतिभा द्वारा दूसरे के भाव को अपनाकर अपनी सुन्दर रचना के साँचे में ढाल देता है, वह 'कर्षक' कवि कहा जाता है।

अप्रत्यभिज्ञेयतया स्ववाक्ये नवतां नयेत् ।
यो द्रावयित्वा मूलार्थं द्रावकः स भवेत्कविः ॥

जो कवि, अपनी सुन्दर रचना में, दूसरे कवि के मूल भावों को निकालकर इस प्रकार लीन कर देता है कि किसी को पता न चले, उसे 'द्रावक' कवि कहते हैं।

चिन्तासमं यस्य रसैकसूतिरुदेति चित्राकृतिरर्थसार्थः ।
अदृष्टपूर्वो निपुणैः पुराणैः कविः स चिन्तामणिरद्वितीयः ॥

---

१. इसका तात्पर्य यह है कि 'प्रतिबिम्बकल्प' काव्य को रचना करनेवाला कवि भ्रामक, 'आलेख्यप्रख्य' काव्य की रचना करनेवाला चुम्बक, 'तुल्यदेहितुल्य' काव्य की रचना करनेवाला कर्षक और 'पर-पुरप्रवेश-सदृश काव्य की रचना करनेवाला कवि द्रावक कहा जाता है।

जिसके श्लोक का अर्थ, समझ में आते ही, सहृदयों को रस से ओतप्रोत कर देता है और जिसकी कविता में विचित्र कल्पनाओं का वह अलौकिक स्फुरण (स्पन्दन) होता है, जो पुराने कवियों की दृष्टि से भी बाहर है; उस अद्वितीय कवि का नाम 'चिन्तामणि' है।

तस्य चायोनिरर्थः। स च त्रिधा लौकिकालौकिकभेदेन, तयोर्मिश्रत्वेन च। तत्र लौकिकः—

इस चिन्तामणि नामक कवि का भाव (कल्पना) अयोनि, अर्थात् मौलिक होता है। वह सर्वथा नवीन और स्वयं उद्भूत होता है। अयोनि अर्थ, तीन प्रकार का होता है—लौकिक, अलौकिक और मिश्र। इनमें लौकिक अर्थ का उदाहरण—

"मा कोशकारलतिके वह वर्णगर्वं
किं डम्बरेण चणिके तव कौसुमेन।
पुण्ड्रेक्षुयष्टिरियमेकतरा चकास्तु
या स्यन्दते रसमृतेऽपि हि यन्त्रयोगात् ॥"

"हे कोशकारलते।[1] अपने चमकीले रंग पर अभिमान न करो, हे चने के पौधो! अपने फूलों के आडम्बर पर न भूलो; तुमसे तो यह मोटे ऊख का डाँड़ ही अच्छा है; जो विना यन्त्र (कोल्हू) के ही सर्वांग से अमृत बहाता है।"

यहाँ कवि ने कोशकार एवं चणिका की अपेक्षा पुण्ड्रेक्षु (मोटा गन्ना) की उन्नति-रूप लौकिक अर्थ को स्वयं प्रादुर्भूत किया है, अर्थात् मौलिक कल्पना है।

अलौकिकः—

"देवि पुत्रमसूत नृत्यत गणाः किं तिष्ठतेत्युद्भुजे
हर्षाद्भृङ्गिरिटावुदाहृतगिरा चामुण्डयालिङ्गिते।
पायाद्वो जितदेवदुन्दुभिघनध्वानप्रवृत्तिस्तयो-
रन्योन्याङ्कनिपातजर्जरजरत्स्थूलास्थिजन्मा रवः ॥"

अलौकिक अर्थ का उदाहरण—

इस उदाहरण का अर्थ पाँचवें अध्याय के ४४वें पृष्ठ में किया गया है। इसमें देवी और गण आदि के स्वर्गीय होने के कारण यह अर्थ अलौकिक है और कवि की मौलिक सूझ से उत्पन्न है।[2]

मिश्रः—

"स्थिते कुक्षेरन्तर्मुरजयिनि निःश्वासमरुतो
जनन्यास्तन्नाभीसरसिजपरागोत्करमुचः ।

---

१. कोशकारलतिका—ईख या गन्ने का एक भेद।

२. इस श्लोक को भोजराज ने वस्तुपरिकर अलंकार के उदाहरण-रूप में उद्धृत किया है।—सरस्वती०, पृ० ५००। दे० पृ० ४३ (का० मी०)।

निपीताः सानन्दं रचितफणचक्रेण हलिना
समन्तादस्यासुः प्रतिदिवसमेनांसि भवतः ॥"

मिश्र का उदाहरण—

"भगवान् कृष्ण जब अपनी माता के गर्भ में थे, उस समय उनके नाभिकमल के पराग-समूह से सुगन्धित, माता देवकी के जिस निःश्वास-वायु को, फणामंडल बनानेवाले बलदेवजी ने, प्रेमपूर्वक सूँघा था; वह वायु, पापों से प्रतिदिन आपकी रक्षा करे।"

इसमें देवकी लौकिक अर्थ है और कृष्ण तथा बलदेव अलौकिक। दोनों का सम्मिश्रण करने से यह मिश्र अर्थ का वर्णन हुआ।[1]

तेषां च चतुर्णामर्थानाम्—

चत्वार एते कथिता मयैव
येऽर्था कवीनां हरणोपदेशे।
प्रत्येकमष्टत्ववशाद्भवन्ति
द्वात्रिंशता तेऽनुगताः प्रभेदैः ॥[2]

हमने, अध्याय के प्रारम्भ में अन्ययोनि के दो भेद, (प्रतिबिम्बकल्प और आलेख्यप्रख्य) और निह्नुत योनि के दो भेद (तुल्यदेहितुल्य और पर-पुरप्रवेश-सदृश) इस प्रकार चार भेद बताये हैं। उनमें प्रत्येक के आठ-आठ भेद होने से कुल मिलाकर बत्तीस भेद हैं।

तत्र प्रतिबिम्बकल्पविकल्पाः।

उनमें प्रतिबिम्बकल्प के आठ भेद ये हैं—१. व्यस्तक या व्यत्यस्तक, २ खण्ड, ३. तैलबिन्दु, ४. नट-नेपथ्य, ५. छन्दोविनिमय, ६. हेतुव्यत्यय, ७ संक्रान्तक और ८. सम्पुट।

स एवार्थः पौर्वापर्यविपर्यासाद् व्यस्तकः।

---

१. देवकी के गर्भ में विष्णु के निवास करने के कारण उनके नाभिकमल की सुगन्ध का देवकी के निःश्वास में आना स्वाभाविक था। बलदेवजी शेषनाग का अवतार थे। वे विष्णु के नाभिकमल की पराग-सुगन्ध से परिचित थे एवं यह भी जानते थे कि भगवान् देवकी के उदर में निवास कर रहे हैं और उनके नाभिकमल की सुगन्ध माता के श्वासों द्वारा बाहर आ रही है, अतः वे फणों को फैलाकर उन निःश्वासों को सूँघते थे। यह कवि की अनोखी मौलिक सूझ है। इसमें दिव्य और मर्त्य दोनों प्रकार के पात्रों का वर्णन है। अतः, यह मिश्र (लौकिक-अलौकिक) अर्थ का वर्णन है।

२. राजशेखर ने इस पद्य में कहा है कि काव्यार्थहरण के ये चारों भेद मैंने ही आविष्कृत किये हैं। किन्तु, इनमें से तीन भेद आचार्य आनन्दवर्धन ने भी कहे हैं, जो राजशेखर से प्राचीन हैं और राजशेखर ने 'आचार्याः' के नाम से उनका मत अनेक स्थलों में उद्धृत भी किया है। सम्भव है, उनका तात्पर्य इन भेदों के उन ३२ उपभेदों से हो, जिनकी चर्चा काव्यमीमांसा के अतिरिक्त अन्यत्र नहीं देखी जाती।

इन आठों के क्रमशः उदाहरण दिये जायेंगे। प्रथम भेद व्यस्तक है। व्यस्तक का लक्षण यह है—जिस रचना में पूर्व अर्थ को पर और पर अर्थ को पूर्व कर दिया जाय।

यथा—

"दृष्ट्वान्येभं छेदमुत्पाद्य रज्ज्वा
यन्तुर्वाचं मन्यमानस्तृणाय।
गच्छन्दध्रे नागराजः करिण्या
प्रेम्णा तुल्यं बन्धनं नास्ति जन्तोः॥"

उदाहरण—

"अपने प्रतिद्वन्द्वी दूसरे हाथी को देखते ही रस्सी के बन्धन को तोड़कर और महावत की बातों को तृण के समान समझता (अनादृत करता) हुआ गजराज, जब उसपर आक्रमण करने के लिए दौड़ पड़ा, तब हथिनी ने उसे रोक लिया। सच है कि प्राणी के लिए प्रेम के समान दूसरा बन्धन नहीं है।"

अत्रार्थे—

"निर्विवेकमनसोऽपि हि जन्तोः
प्रेमबन्धनमशृङ्खलदाम।
यत्प्रति प्रतिगजं गजराजः
प्रस्थितश्चिरमधारि करिण्या॥"

इस अर्थ में (दूसरा उदाहरण)—

"यह सच है कि निर्विवेक प्राणी (पशु) के लिए भी प्रेम का बन्धन, बिना शृङ्खला का बन्धन है; क्योंकि बराबरी के दूसरे गजराज पर आक्रमण करते हुए गज को हथिनी ने प्रेमपाश में बाँधकर चिरकाल तक रोक रखा।"

दूसरी रचना में प्रथम रचना के ही भाव को आगे-पीछे करके रख दिया है। अतः दूसरी रचना, 'व्यस्तक' प्रतिबिम्ब-कल्प है। निर्विवेक पशु के भी प्रेम को इतना महत्त्व देने का वर्णन पहली रचना से कुछ वैचित्र्य भी प्रकट करता है।

बृहतोऽर्थस्यार्द्धप्रणयनं खण्डम्।

किसी काव्य-रचना के विशाल अर्थ को खण्ड करके निर्माण करना 'खण्ड' कहा जाता है।

यथा—

"पुरा पाण्डुप्रायं तदनु कपिशिम्ना कृतपदं
ततः पाकोद्रेकादरुणगुणसंवर्गितवपुः।
शनैः शोषारम्भे स्थपुटनिजविष्कम्भविषमं
वने वीतामोदं बदरमरसत्वं कलयति॥"

उदाहरण—

"वेर का फल जब पकने लगता है, तब पहले प्रायः पीला होता है, उसके बाद पीलेपन के साथ कुछ भूरे रंग का होने लगता है, उसके अनन्तर जब अधिक पक जाता है, तब उसका रूप लाल रंग में परिणत हो जाता है ; जब धीरे-धीरे सूखने लगता है, तब सिकुड़कर ऊँचा-नीचा हो जाता है। इस प्रकार' क्रमशः गन्ध-शून्य एवं नीरस होकर वन में ही सूखकर गिर जाता है।"

अत्रार्थे—

"पाकक्रियापरिचयप्रगुणीकृतेन
संवर्गितारुणगुणं वपुषा निजेन।
आपादितस्थपुटसंस्थितिशोषपोषा-
देतद्वने विरसतां बदरं बिभर्त्ति ॥"

इस अर्थ में (दूसरा उदाहरण)—

"वेर का फल जब पकने लगता है, तब फूल जाता है और कुछ काला तथा कुछ लाल-सा हो जाता है। इस प्रकार, जब सूखकर सिकुड़ जाता और नीरस हो जाता है, तब झड़कर वन में ही गिर जाता है।"

पहली रचना में वेर का पूर्ण वर्णन किया गया है ; परन्तु दूसरी रचना में उसका आधा भाग ही वर्णित किया गया है। अतः, यह काव्य, 'खण्ड' प्रतिबिम्बकल्प है।

संक्षिप्तार्थविस्तरेण तैलबिन्दुः।

दूसरी काव्य-रचना में जिस विषय का वर्णन संक्षेप में किया गया हो, उसे अपनी रचना में विस्तार-पूर्वक वर्णन करना 'तैलविन्दु' है।

यथा—

"यस्य तन्त्रभराक्रान्त्या पातालतलगामिनी।
महावराहदंष्ट्राया भूयः सस्मार मेदिनी ॥"

उदाहरण—

"जिस राजा की सेना के भार से दवकर पाताल में धँसती हुई पृथ्वी को महावराह के दाढ़ों का फिर से स्मरण हो आया।"

अत्रार्थे—

"यत्तन्त्राक्रान्तिमज्जत्पृथुलमणिशिलाशल्यवेल्लत्फणान्ते
क्लान्ते पत्यावहीनां चलदचलमहास्तम्भसम्भारसीमा।
सस्मार स्फारचन्द्रद्युति पुनरवनिस्तद्धिरण्याक्षवक्षः-
स्थूलास्थिश्रेणिशाणानिकषणसितमप्याशु दंष्ट्राग्रमुग्रम् ॥"

इस अर्थ में (दूसरा उदाहरण)—

"जिस राजा की सेना के भार से दबती हुई पृथुलमणि शिलाओं की अग्रभाग-रूपी कीलों के चुभने से जब फणों के अग्रभाग काँपने लगे और शेषनाग अत्यन्त क्लान्त हो उठे, तब उधर महास्तम्भों के समान पर्वतों के चंचल होने के कारण धारण की मर्यादा भङ्ग होने के भय से पृथ्वी भी भगवान् महावराह की उन दंष्ट्राओं (दाढ़ों) का पुनः स्मरण करने लगी, जो हिरण्याक्ष के वक्षःस्थल की सुदृढ अस्थि-श्रेणियों के शान पर घिसने के कारण अत्यन्त स्वच्छ, तीखे चन्द्रमा के समान चमक रहे थे।"

पहले श्लोक का दूसरे श्लोक में विस्तृत वर्णन होने के कारण यह 'तैलबिन्दु' नामक प्रतिबिम्बकल्प काव्य है। पहले पद्य में, केवल पृथ्वी का वराह के दाढ़ों का पुनः स्मरण करना वर्णित है। दूसरी रचना में, उन दाढ़ों का हिरण्याक्ष की छाती पर शान लगकर नुकीला और चमकीला होना तथा शेषनाग की मस्तकमणियों का भार से दबकर उसके फणों में चुभना—इत्यादि अधिक वर्णन करके कवि ने पूर्व अर्थ को अधिक चमत्कारी बना दिया।

अन्यतमभाषानिबद्धं भाषान्तरेण परिवर्त्त्यत इति नटनेपथ्यम्।

अन्य भाषा में निबद्ध कवि के भाव को दूसरी भाषा में परिवर्त्तित करना 'नटनेपथ्य' है।

यथा—

"नेच्छइ पासासंकी काओ दिण्णं पि पहिअघरिणीए।
ओहत्तकरयलोग्गलियवलयमज्झट्ठिअं पिण्डं॥"[1]

उदाहरण—

"पथिक की वधू कौए को ग्रास देती है। ग्रास देने के समय, हाथ नीचा करने से ग्रास के साथ, उसके हाथ का कंकण भी गिर जाता है, जो कौए की दृष्टि में उसे फँसाने के लिए जाल जैसा मालूम होता है। अतः, बार-बार ग्रास देने और बुलाने पर भी कौआ उसे नहीं छूता है।"

तात्पर्य यह कि गृहिणी, विरह-व्यथा से इतनी दुर्बल और बेसुध हो गई है कि उसका कंकण कलाई से गिर जाता है और उसे उसका ध्यान भी नहीं आता। इधर कौआ गोलाकार कंकण को अपने फाँसने का यन्त्र या जाल समझकर ग्रास-ग्रहण करने का साहस नहीं करता।

अत्रार्थे—

"दत्तं पिण्डं नयनसलिलक्षालनाधौतगण्डं
द्वारोपान्ते कथमपि तया सङ्गमाशानुबन्धात्।

---

१. दे० सातवाहन : गाथासप्तशती, ३-५।

वक्रग्रीवश्चलनतशिराः पार्श्वसञ्चारिचञ्चुः
पाशाशङ्की गलितवलयं नैनमश्नाति काकः ॥"

इस अर्थ में (दूसरा उदाहरण)—

"पति के आगमन की आशा से घर के द्वार पर आँसुओं से मुँह धोती हुई विरहिणी अंगना कौए को किसी प्रकार ग्रास प्रदान करती है। कौआ, गले को टेढ़ा करके चंचल-सिर को नीचा करता हुआ एवं आँखें इधर-उधर मटकाता हुआ आस-पास घूमता है; परन्तु हाथ से निकल कर पड़े हुए गोलाकार कंकण को जाल समझकर ग्रास के पास नहीं फटकता।"

पहला श्लोक प्राकृत-भाषा में है, उसी के भाव को लेकर संस्कृत-भाषा के कवि ने दूसरी रचना की है। अतः, दूसरा श्लोक 'नट-नेपथ्य' है। इसमें कौए की स्वाभाविक चेष्टाओं का वर्णन, पूर्व रचना से अधिक चमत्कारी है।

छन्दसा परिवृत्तिश्छन्दोविनिमयः।

अर्थ या भाव वही हो, केवल छन्द परिवर्त्तित कर दिया जाय, तो उस प्रतिबिम्ब-कल्प का नाम 'छन्दोविनिमय' है।

यथा—

"कान्ते तल्पमुपागते विगलिता नीवी स्वयं बन्धनात्
तद्वासः श्लथमेखलागुणधृतं किञ्चिन्नितम्बे स्थितम्।
एतावत्सखि वेद्मि केवलमहं तस्याङ्गसङ्गे पुनः
कोऽसौ कास्मि रतं नु किं कथमपि स्वल्पापि मे न स्मृतिः ॥"[1]

उदाहरण—

"हे सखि! पति के बिस्तर पर आते ही, मेरा नीवी-बन्धन स्वयं खुल गया और ढीली-ढाली करधनी में उस वस्त्र का कुछ भाग फँसा रहकर नितम्ब पर पड़ा रह गया। यहाँतक ही तो मैं जानती हूँ, अर्थात् स्मरण है। उसके अनन्तर उनके अंग का संग होनेपर तो वह कौन हैं, मैं कौन हूँ, रति क्या है, और उसमें क्या-क्या हुआ, मुझे कुछ भी स्मरण नहीं।"

अत्रार्थे—

"धन्यास्तु याः कथयथ प्रियसङ्गमेऽपि
विश्रब्धचाटुकशतानि रतान्तरेषु।
नीवीं प्रति प्रणिहितश्च करः प्रियेण
सख्यः शपामि यदि किञ्चिदपि स्मरामि ॥"

---

१. द० अमरुकवि : शृङ्गारशतक, १०१। शतक में पाठभेद है।

इसी अर्थ में (दूसरा उदाहरण)—

"हे सखियो, तुम धन्य हो, जो प्रियतम का संग होने पर भी रति के बीच-बीच में विविध प्रकार की विश्रब्ध-प्रिय उक्तियों को कहती-सुनती हो ; किन्तु मैं तो शपथपूर्वक कहती हूँ कि जहाँ मेरे प्रियतम ने, नीवी-बंधन खोलने के लिए हाथ बढ़ाया कि फिर मुझे कुछ भी स्मरण नहीं रहता।"[1]

यहाँ पहले और दूसरे श्लोक का विषय एक ही है, केवल पहले कवि ने उसे शार्दूलविक्रीडित छन्द में कहा है और दूसरे ने वसन्ततिलका छन्द में। अतः, इस प्रतिबिम्बकल्प का नाम 'छन्दोविनिमय' है। इस कवि ने 'शपथपूर्वक'—कहकर पूर्व श्लोक से अर्थ को और भी चमत्कारी बना दिया है।

कारणपरावृत्त्या हेतुव्यत्ययः ।

एक ही अर्थ को किसी कवि ने जिस कारण से ग्रहण किया हो, उसी अर्थ को दूसरे कारण द्वारा ग्रहण करना 'हेतुव्यत्यय' नाम का प्रतिबिम्बकल्प है।

यथा—

"ततोऽरुणपरिस्पन्दमन्दीकृतरुचिः शशी ।
दध्रे कामपरीक्षामकामिनीगण्डपाण्डुताम् ॥"[2]

उदाहरण—

"प्रभातकाल में सूर्य-सारथी अरुण के पूर्व क्षितिज में आ जानेपर, चन्द्रमा की कान्ति मलिन पड़ गई। उस समय चन्द्रमा, काम-विरह के कारण दुर्बल कामिनी के कपोलों के समान पीला पड़ गया।"

अत्रार्थे—

"समं कुसुमचापेन गर्भिणीगण्डपाण्डुना ।
उदयाद्रिशिरःसीम्नि निहितं पदमिन्दुना ॥"[3]

इसी अर्थ में (दूसरा उदाहरण)—

"सायंकाल के अनन्तर गर्भिणी स्त्री के कपोलों के समान कुछ मलिन कान्तिवाले चन्द्रमा ने कामदेव के साथ उदयाचल के शिखर पर पैर रखे। अर्थात्, चन्द्रकिरणें फैल गईं।"

---

१. यह पद्य सूक्तिसंग्रहों में विज्जका के नाम से उद्धृत किया गया है।

२. दे० वाल्मीकि : रामायण, सुन्दरकाण्ड। परवर्ती मम्मट और हेमचन्द्र ने भी (काव्यप्रकाश और काव्यानुशासन में) इस श्लोक को उद्धृत किया है। सुभाषितावली (सं० २१५३) में यह वाल्मीकि के नाम तथा काव्यप्रकाश के टीकाकारों के अनुसार महाभारत के नाम यह श्लोक उद्धृत है, लेकिन 'वक्रोक्तिजीवित' के सम्पादक टिप्पणीकर्त्ता श्रीसुशीलकुमार दे के अनुसार उन दोनों ग्रन्थों में यह श्लोक अप्राप्य है।—वक्रो०, पृ० ११।

३ महाभारत, द्रोणपर्व।

पहले श्लोक में चन्द्रमा की पांडुता, कामकृश कामिनी के कपोल द्वारा उपमित हुई है और अस्त का कारण हुई। दूसरे श्लोक में चन्द्रमा की वही पांडुता, गर्भिणी के कपोल से उपमित होकर उदय का कारण हुई। अतः, दूसरा उदाहरण हेतुव्यत्यय कहा जाता है।

दृष्टस्य वस्तुनोऽन्यत्र सङ्क्रमितिः सङ्क्रान्तकम्।

कहीं देखी गई वस्तु का कहीं संक्रमण करना 'संक्रान्तक' नाम का प्रतिविम्बकल्प काव्य है।

यथा—

"स्नानार्द्रार्द्रैर्विधुतकवरीबन्धलोलैरिदानीं
श्रोणीभारः कृतपरिचयः पल्लवैः कुन्तलानाम्।
अप्येतेभ्यो नभसि पततः पङ्क्तिशो वारिबिन्दून्
स्थित्वोद्ग्रीवं कुवलयदृशां केलिहंसाः पिबन्ति॥"

उदाहरण—

"स्नान करने के पश्चात् अत्यन्त आर्द्र एवं चोटियों के वन्धन खुल जाने से चंचल कुन्तलपल्लव (केश), कमर के नीचे तक लटक रहे हैं और उन कमलाक्षी कामिनियों के क्रीडाहंस, उन केशों से भी टपकते पंक्तिबद्ध जलविन्दुओं को, गरदन उठाकर, चंचुपुटों से ऊपर-ही-ऊपर पी रहे हैं।

अत्रार्थे—

"सद्यःस्नातजपत्तपोधनजटाप्रान्तस्रुताः प्रोन्मुखैः
पीयन्तेऽम्बुकणाः कुरङ्गशिशुभिस्तृष्णाव्यथाविक्लवैः।
एतां प्रेमभरालसां च सहसा शुष्यन्मुखीमाकुलः
श्लिष्यन् रक्षति पक्षसम्पुटकृतच्छायः शकुन्तः प्रियाम्॥"

इसी अर्थ में (दूसरा उदाहरण)—

"पिपासा से व्याकुल एवं ऊपर की ओर मुँह उठाये हुए हरिण-शिशु, तत्काल स्नान करके जप करते हुए मुनियों की जटाओं के अग्रभाग से टपकते हुए जलविन्दुओं को पी रहे हैं और गरमी से व्याकुल पक्षी, प्रेम से अलसाती हुई तथा पिपासा के कारण सूखे मुँहवाली प्रियतमा को देखकर उसे अपने पंखों की छाया में छिपाकर आलिंगन करता हुआ ग्रीष्म से उसकी रक्षा कर रहा है।"

यहाँ पहले श्लोक में कहा गया है कि स्त्रियों के स्नानार्द्र केशों के अग्रभाग से टपकते हुए जल-कणों को हंस पीते हैं। इसी वस्तु को दूसरे श्लोक में, मृगशावक तपस्वियों की स्नानार्द्र जटा के अग्रभाग से गिरते हुए जलकणों को पीते हैं। इस प्रकार, उसे दूसरे रूप में संक्रान्त कर दिया गया। अतः, यह 'संक्रान्तक' नामक हरण है।

उभयवाक्यार्थोपादानं सम्पुटः ।

दो भिन्न-भिन्न रचनाओं के भावों को एक ही श्लोक में ग्रहण करना 'सम्पुट' नामक प्रतिबिम्बकल्प है।

यथा—

"विन्ध्यस्याद्रेः परिसरनदी नर्मदा सुभ्रु सैषा
यादोभर्त्तुः प्रथमगृहिणीं यां विदुः पश्चिमस्य ।
यस्यामन्तः स्फुरितशफरत्रासहासाकुलाक्षी
स्वैरं स्वैरं कथमपि मया तीरमुत्तारितासि ॥"

उदाहरण—

"हे सुन्दर भौंहोंवाली ! विन्ध्य पर्वत की तलहटी में वहनेवाली यह वही नर्मदा नदी है, जिसे लोग पश्चिम समुद्र (अरबसागर) की पत्नी के रूप में जानते हैं और जिस नदी में, फुदकती हुई मछलियों के स्पर्श से उत्पन्न भय और हँसी के कारण तुम्हारी आखों के बन्द हो जाने पर, मैंने तुम्हें किसी प्रकार धीरे धीरे पार उतारा था।"

यथा च—

"नाभीगुहाबिलविशच्चलवीचिजात-
मञ्जुध्वनिश्रुतिकणत्कलकुक्कुभानि ।
रेवाजलान्यविरलं ग्रहिलीक्रियन्ते
लाटाङ्गनाभिरपराह्णनिमज्जनेषु ॥"

दूसरा उदाहरण—

"लाटदेश की ललनाएँ, अपराह्णकालीन स्नान के समय उसके गम्भीर नाभि-कूपों में तरंगों की थपेड़ों से होनेवाली मधुर ध्वनि को सुनकर शब्द करते हुए वन-मुरगों की आवाजों से मुखरित नर्मदा-जल को, अत्यन्त संक्षुब्ध (मटमैला या गँदला) कर डालती हैं।"

अत्रार्थे—

"यद्वर्ग्याभिर्जगाहे गुरुशकुलकुलास्फालनत्रासहास-
व्यस्तोरुस्तम्भिकाभिर्दिशि दिशि सरितां दिग्जयप्रक्रमेषु ।
अम्भो गम्भीरनाभीकुहरकवलनोन्मुक्तिपर्यायलोल-
त्कल्लोलाबद्धमुग्धध्वनिचकितरणत्कुक्कुभं कामिनीभिः ॥"

इसी अर्थ में (तीसरा उदाहरण)—

"जिस राजा की दिग्विजय-यात्रा के प्रसंग में, सेना की रमणियों ने, भिन्न-भिन्न जलाशयों में जलक्रीडा की। उनकी जलक्रीडा के समय, बड़ी-बड़ी मछलियों के उछलने-

कूदने और शरीर से संपर्क करने के कारण, त्रास और हास से उनकी जाँघें थक जाती थीं और उनके गहरे नाभिकूपों में लगनेवाले तरंगों की थपेड़ों से होनेवाले मधुर शब्द को सुनकर वनमुरगे चकित होकर चिल्लाने लगते थे।"

तीसरे उदाहरण में पूर्वोक्त दोनों पद्यों के भावों का संग्रह किया गया है। अतः, यह 'सम्पुट' नामक प्रतिबिम्बकल्प हरण है।

सोऽयं कवेरकवित्वदायी सर्वथा प्रतिबिम्बकल्पः परिहरणीयः।

इस प्रकार, यह पूर्वकथित प्रतिबिम्बकल्प-मार्ग, कवि के लिए अकवित्व देनेवाला और कवि का उपहास करानेवाला है। अतः, इसका सर्वथा त्याग करना ही सुकवि के लिए उचित है।

यतः—

"पृथक्त्वेन न गृह्णन्ति वस्तु काव्यान्तरस्थितम्।
पृथक्त्वेन न गृह्णन्ति स्ववपुः प्रतिबिम्बितम्॥"

॥ इति राजशेखरकृतौ काव्यमीमांसायां कविरहस्ये प्रथमेऽधिकरणे शब्दार्थहरणेषु कविप्रभेदाः प्रतिबिम्बकल्पविकल्पस्य समीक्षा द्वादशोऽध्यायः॥

"किसी काव्य-रचना से ली गई वस्तु (अर्थ, भाव आदि) दूसरे काव्य में पृथक् नहीं समझी जाती। अर्थात्, वह वस्तु, मूल कवि की ही समझी जाती है, हरणकर्त्ता की नहीं। जैसे, दर्पण में प्रतिबिम्बित अपना स्वरूप अपने से पृथक् नहीं समझा जाता।"

द्वादश अध्याय समाप्त

त्रयोदशोऽध्यायः अर्थहरणेष्वालेख्यप्रख्यादिभेदाः

त्रयोदश अध्याय : अर्थहरण के आलेख्यप्रख्य आदि भेद

आलेख्यप्रख्यपरिसङ्ख्या ।

बारहवें अध्याय में अर्थहरण के उपायों में अन्ययोनि अर्थ का एक भेद प्रतिबिम्बकल्प तथा उसके आठ अवान्तर भेद बताये गये हैं। इस अध्याय में उसके दूसरे भेद आलेख्यप्रख्य के आठ अवान्तर भेद तथा निह्नुतयोनि अर्थ के सम्पूर्ण (१६) भेद बताये जायेंगे। आलेख्यप्रख्य के आठ अवान्तर भेद ये हैं—१. समक्रम, २. विभूषणमोष, ३. व्युत्क्रम, ४. विशेषोक्ति, ५. उत्तंस, ६. नटनेपथ्य, ७. एकपरिकार्य और ८. प्रत्यापत्ति ।[1]

सदृशसञ्चारणं समक्रमः ।

समक्रम का अर्थ है--समान अर्थ का संक्रमण करना ।

यथा—

"अस्ताद्रिवेश्मनि दिशो वरुणप्रियाया-
स्तिर्यक्कथञ्चिदपयन्त्रणमास्थितायाः ।
गण्डैकपार्श्वमिव कुङ्कुमपङ्कचुम्बि
बिम्बं रुचामधिपतेररुणं रराज ॥"

जैसे—

"प्रातःकाल विरहखिन्न एवं किसी प्रकार तिरछी बैठी हुई पश्चिम दिशा-नायिका के केसर-लिप्त कपोल के एक भाग के समान कुछ मलिन एवं अरुण चन्द्रमा अस्ताचल-रूपी भवन में चमक रहा था।

यथा च—

"प्राग्दिशः प्रतिकलं विलसन्त्याः
कुङ्कुमारुणकपोलतलेन ।
साम्यमेति कलितोदयरागः
पश्य सुन्दरि तुषारमयूखः ॥"

इसी भाव का दूसरा उदाहरण—

"हे सुन्दरि ! देखो, उदयकालीन लालिमा से ललित यह चन्द्रमा, प्रतिक्षण क्रीडा करती हुई पूर्वदिशा-सुन्दरी के केसरराग-रंजित कपोल की समानता प्राप्त कर रहा है।"

१. आलेख्यप्रख्य का प्रथम भेद 'समक्रम' प्रतिबिम्बकल्प के सप्तम भेद 'सङ्क्रम' से मिलता है। (तुलनीय)

पूर्वरचना में अस्तोन्मुख चन्द्रमा का जो वर्णन-क्रम है; दूसरी रचना में वही क्रम उदयोन्मुख चन्द्रमा के वर्णन में है। अतः, यह आलेख्यप्रख्य का 'समक्रम' नामक प्रथम भेद है।

अलङ्कृतमनलङ्कृत्याभिधीयत इति विभूषणमोषः।

विभूषणमोष, अर्थात् अलंकृत अर्थ को अलंकारहीन करके वर्णन करना विभूषण का मोष, अर्थात् अलंकार को चुरा लेना है।

यथा—

"कुवलयसिति मूले बालचन्द्राङ्कुराभं
तदनु खलु ततोऽग्रे पाकपीताम्रपीतम्।
अभिनवरविरोचिर्धूमधूम्रं शिखाया—
मिति विविधविकारं द्युते दैपमर्चिः॥"

जैसे—

"प्रारम्भ में नीलकमल के समान नीले रंग की, उसके आगे चन्द्रमा के नवोदित अंकुर के समान लाल, उसके ऊपर पकाये हुए आम के समान पीली, उसके अनन्तर बाल-सूर्य के समान अरुण रंगवाली और सबसे ऊपर धुएँ के समान धूमिल वर्णवाली, दीपशिखा (दीपक की लौ), विविध वर्णविकारों के साथ चमक रही थी।"

अत्रार्थे—

"मनाङ् मूले नीलं तदनु कपिशोन्मेषमुदरे
ततः पाण्डु स्तोकं स्फुरदरुणलेखं च तदनु।
शिखायामाधूम्रं धृतविविधवर्णक्रममिति
क्षणादर्चिर्दैपं दलयति तमः पुञ्जितमपि॥"

इसी भाव की दूसरी रचना—

"मूल में कुछ काली, उसके बाद बीच में कुछ कपिश (भूरे) वर्ण की झलक देनेवाली, उसके बाद कुछ पीली, उसके अनन्तर प्रस्फुरित लाल रेखावाली और सबसे ऊपर धूमिल—इस प्रकार विविध रंगों के क्रम से शोभित दीपक की लौ, राशीभूत अन्धकार को भी क्षणभर में नष्ट कर देती है।"

यहाँ दूसरी रचना में पहली रचना का भाव लिया गया है; किन्तु पूर्वरचना के प्रत्येक वाक्य में लुप्तोपमालंकार है और दूसरी रचना में उसी भाव का अलंकारहीन वर्णन किया गया है। अर्थात्, प्रथम रचना के विभूषण (अलंकार) का मोष (हरण) किया गया है। यह आलेख्यप्रख्य नामक हरण का दूसरा भेद है।[1]

१, 'विभूषणमोष' की तुलना प्रतिबिम्बकल्प के द्वितीय भेद 'खण्ड' से करें।

क्रमेणाभिहितस्यार्थस्य विपरीताभिधानं व्युत्क्रमः।

क्रम से कहे गये अर्थ को विपरीत क्रम से कहना व्युत्क्रम है।

यथा तत्रैव—

"श्यामं शिखाभुवि मनागरुणं ततोऽधः
स्तोकावपाण्डुरघनं च ततोऽप्यधस्तात्।
आपिञ्जरं तदनु तस्य तले च नील-
मन्धं तमःपटलमर्हति दैपमर्चिः॥"

जैसे—

"सबसे ऊपरी भाग में कृष्ण, उसके नीचे कुछ लाल, उसके भी नीचे कुछ सघन पीत, उसके अनन्तर कुछ श्वेतपीत और सबसे अन्त में नीचे श्याम, दीप की ज्योति, घने अन्धकार के समूह को नष्ट करती है।"

इस पद्य में, पूर्व पद्यों में नीचे से ऊपर की ओर वर्णित दीपशिखा का ऊपर से नीचे की ओर वर्णन किया गया है। अतः, यह 'व्युत्क्रम' नामक तीसरा आलेख्यप्रख्य हरण है।[1]

सामान्यनिबन्धे विशेषाभिधानं विशेषोक्तिः।

सामान्य अर्थ को विशेष रूप से वर्णन करना विशेषोक्ति है।

यथा—

"इत्युद्गते शशिनि पेशलकान्तदूती-
संलापसञ्चलितलोचनमानसाभिः।
अग्राहि मण्डनविधिर्विपरीतभूषा-
विन्यासहासितसखीजनमङ्गनाभिः॥"

जैसे—

"इस प्रकार चन्द्रमा के उदय होने पर, चतुर प्रियतम की दूती के साथ चलते हुए मधुर प्रसंग में आँखों और मन के चंचल रहने के कारण नायिकाएँ, ऐसी बेसुध हो गईं कि उन्हें आभूषण पहनने में भ्रम हो गया और उन्होंने किसी अंग का आभूषण किसी अंग में पहन लिया। इस कारण वे सखियों के हास्य का पात्र बन गईं।"

अत्रार्थे—

"चकार काचित्सितचन्दनाङ्के
काञ्चीकलापं स्तनभारपृष्ठे।

---

१. 'व्युत्क्रम' और प्रतिबिम्बकल्प के प्रथम भेद 'व्यत्यस्तक' से तुलनीय।

प्रियं प्रति प्रेपितचित्तवृत्ति-
र्नितम्बबिम्बे च बबन्ध हारम् ॥"

इसी सामान्य अर्थ का विशेष अर्थ में उदाहरण—

"किसी नायिका ने, नायक से मिलने की व्याकुलता में शृङ्गार करने के समय, श्वेतचन्दन-लिप्त स्तनों के भार से दवे वक्षःस्थल पर कांची (करधनी) बाँध ली और नितम्बबिम्बों पर मोतियों का हार बाँध लिया।"

यहाँ प्रथम पद्य में, नायिकाओं के सामान्य मतिविभ्रम के कारण होनेवाले विपरीत वेश-विन्यास का, दूसरे पद्य में, एक विशेष नायिका के लिए विशेष रूप से वर्णन किया गया है। अतः, यह 'विशेषोक्ति' नाम का चौथा आलेख्यप्रख्य अपहरण है।[1]

उपसर्जनस्यार्थस्य प्रधानतायामुत्तंसः।

गौण अर्थ को मुख्य अर्थ का रूप देना उत्तंस है।

यथा—

"दीपयन्नथ नभः किरणौघैः
कुङ्कुमारुणपयोधरगौरः।
हेमकुम्भ इव पूर्वपयोधे-
रुन्ममज्ज शनकैस्तुहिनांशुः ॥"[2]

जैसे—

"सूर्यास्त होने पर किरणों के समूह से आकाश को प्रकाशित करता हुआ, कुंकुम-रंजित स्तन के समान गौरकान्ति चन्द्रमा पूर्व समुद्र से सोने के घड़े के समान धीरे-धीरे बाहर निकला।"

अत्रार्थे—

"ततस्तमः श्यामलपट्टकञ्चुकं
विपाटयत्किञ्चिददृश्यतान्तरा।
निशातरुण्याः स्थितशेषकुङ्कुम-
स्तनाभिरामं शकलं कलावतः ॥"

इसी अर्थ का दूसरा उदाहरण—

"रात्रि के आगमन पर निशा-रमणी के अन्धकार-रूपी काले कपड़े की चोली को मानों करों (किरणों) से खोलता हुआ चन्द्रमा का टुकड़ा, आकाश में निशा-नायिका के कुछ कुंकुमावशेष-लिप्त स्तन के समान सुन्दर प्रतीत हो रहा था।"

---

१. 'विशेषोक्ति' और प्रतिबिम्बकल्प के भेद 'तैलबिन्दु' में अधिक अन्तर नहीं है।
२. दे० भारवि : किरातार्जुनीय, ९-२३।

यहाँ पहली रचना में, चन्द्रमा प्रधान (मुख्य) था और पयोधर विशेषण या गौण था। परन्तु, दूसरी रचना में स्तनाभिरामता प्रधान हो गई है और चन्द्रखण्ड गौण। अतः, गौण का मुख्य रूप में उत्तंस (उन्नति) हुआ है। यह पाँचवाँ आलेख्यप्रख्य है।

तदेव वस्तूक्तिवशादन्यथा क्रियत इति नटनेपथ्यम्[1]।

किसी रचना में वर्णित एक ही अर्थ को उक्तिवश विपरीत कर देना नटनेपथ्य नाम का छठा आलेख्यप्रख्य है।

यथा—

"आननेन्दुशशलक्ष्म कपोले
सादरं विरचितं तिलकं यत्।
तत्प्रिये विरचितावधिभङ्गे
धौतमीक्षणजलैस्तरलाक्ष्याः॥"

जैसे—

"प्रियतम ने, आदर के साथ नायिका के मुखचन्द्र के शशलक्ष्म (काले चिह्न) के समान कपोल पर जो काला तिलक लगा दिया था, उसे चंचलाक्षी ने, प्रियतम के निश्चित समय पर न आने के कारण आँखों के जल से धो डाला। अर्थात्, नायक के निश्चित समय पर न आने के कारण विप्रलब्ध नायिका ने रो-रोकर गालों के काले टीके को आँसुओं से धो दिया।"

अत्रार्थे—

"शोकाश्रुभिर्वासरखण्डितानां[2]
सिक्ताः कपोलेषु विलासिनीनाम्।
कान्तेषु कालात्ययमाचरत्सु
स्वल्पायुषः पत्रलता बभूवुः॥"

इसी अर्थ में दूसरा उदाहरण—

"विप्रलब्ध नायिका के कपोलों पर चित्रित पत्रलताएँ, प्रियतमों के निश्चित समय पर न आ सकने के कारण, शोक के आँसुओं से सींची जाकर स्वल्प जीवनवाली हो गईं, अर्थात् धुल गईं।"

यहाँ दोनों कविताओं का भाव एक ही है। किन्तु, प्रथम पद्य में आँखों के जल से तिलक का धोना कहा गया है और दूसरे में पत्र-रचनाएँ शोकाश्रुओं से सींची

१. नवनेपथ्यम् (पाठभेद)—जैसे नट वास्तविक अभिनेय पात्र का नेपथ्य (वेष) धारण करता है, वैसे ही इस अर्थहरण में भी एक वस्तु दूसरे रूप (वेष) में आ जाती है।
२. 'वासरखण्डिता' शब्द से इसे खण्डिता नायिका न समझना चाहिए। यह 'विप्रलब्धा' या 'वञ्चिता' नायिका है। कुछ लोगों ने इसे 'खण्डिता' कहा है।

जाकर स्वल्पजीवन हो गईं। यह एक ही बात कथन-भेद से भिन्न-सी प्रतीत होती है। यह नटनेपथ्य[1] है।

परिकरसाम्ये सत्यपि परिकार्यस्यान्यथात्वादेकपरिकार्यः।

अलंकार के एक रहने पर भी अलंकार्य का भेद होना 'एकपरिकार्य' नामक सातवाँ आलेख्यप्रख्य है। जैसे—

"अव्याद् गजेन्द्रवदनः स इमां त्रिलोकीं
यस्योद्गतेन गगने महता करेण।
मूलावलग्नसितदन्तबिसाङ्कुरेण
नालायितं तपनबिम्बसरोरुहस्य॥"

"वे गणपति इस त्रिलोकी की रक्षा करें, जिनकी आकाश में उठी हुई लम्बी सूँड़ सूर्यबिम्ब-रूपी आकाश-कमल की नाल के समान प्रतीत होती है और सूँड़ के मूल में लगा हुआ श्वेत दन्त, बिस (कमल की जड़) के समान प्रतीत होता है।"

अत्रार्थे—

सरलकरदण्डनालं गजवपुषः पुष्करं विभोर्जयति।
मूलबिसकाण्डभूमौ यत्राभूदेकदंष्ट्रैव॥

इसी का दूसरा उदाहरण—

"भगवान् गजानन के शुंडाग्र-स्थित उस कमल की जय हो, जिसकी नाल ऊपर उठी हुई सीधी सूँड़ का दण्ड है और जिसकी जड़ में चमकता हुआ एक दाँत ही, नवोत्पन्न बिस के स्थान में हो गया है।"

प्रथम श्लोक में, सूर्यबिम्ब में कमल का आरोप किया गया था। दूसरे में, उसका आरोप शुण्ड के अग्रभाग में किया गया है। यहाँ रूपक अलंकार दोनों में समान है; किन्तु सूर्यबिम्ब और शुण्डाग्र—ये दो अलंकार्य भिन्न-भिन्न हैं। यह एकपरिकार्य[2] अर्थहरण हुआ।

विकृतेः प्रकृतिप्रापणं प्रत्यापत्तिः।

विकृत अर्थ को प्रकृत, अर्थात् नैसर्गिक स्थिति में पहुँचा देना प्रत्यापत्ति नामक आठवाँ आलेख्यप्रख्य है।

---

१. यहाँ कवि ने तिलक का वेष बदलकर उसे पत्र-रचना के रूप में उपस्थित किया है, अतः यह नट का नेपथ्य (वेष) है।

२. एकपरिकार्य—एकेन (समानेन] परिकरेण परिकार्यः अलङ्कार्यः=एक ही अलंकार से अलंकृत होनेवाले दो भिन्न अलंकार्य या परिकार्य जिसमें हों, वह अर्थहरण 'एकपरिकार्य' कहलाता है।

यथा—

"रविसङ्क्रान्तसौभाग्यस्तुषाराविलमण्डलः ।
निःश्वासान्ध इवादर्शश्चन्द्रमा न प्रकाशते ॥"

जैसे—

"सूर्य में संक्रमित सौभाग्य (प्रकाश) वाला एवं कुहरे से मलिनमंडल चन्द्रमा, निःश्वास से अन्धे दर्पण के समान प्रकाशहीन (मलिन) हो रहा है।"[1]

अत्रार्थे—

"तस्याः प्रतिद्वन्द्विभवाद्विषादा-
त्सद्यो विमुक्तं मुखमाबभासे ।
निःश्वासबाष्पापगमे प्रपन्नः
प्रसादमात्मीयमिवात्मदर्शः ॥"[2]

इसके विपरीत उदाहरण—

"शत्रुओं के आक्रमण के कारण होनेवाले विषाद से सद्यः मुक्त इन्दुमती का मुख इस प्रकार चमकने लगा, जिस प्रकार श्वास से उत्पन्न बाष्प के हट जाने पर, दर्पण अपने स्वाभाविक प्रसाद (स्वच्छ) रूप में चमकने लगता है।

प्रथम रचना में, दर्पण का श्वास-बाष्प से अन्धा हो जाना विकृति है और दूसरी में उसकी स्वच्छता का वर्णन प्रकृति है। अतः, इसका नाम 'प्रत्यापत्ति' है।

ता इमा आलेख्यप्रख्यस्य भिदाः। सोऽयमनुग्राह्यो मार्गः। आहुश्च—

इस प्रकार, आलेख्यप्रख्य के आठ भेद हैं, जो कवियों के लिए स्वीकार्य मार्ग हैं। अर्थात्, आलेख्यप्रख्य के रूप में अपहरण करना अपहरण नहीं कहा जाता। जैसा प्राचीन आचार्यों ने कहा भी है—

"सोऽयं भणितिवैचित्र्यात्समस्तो वस्तुविस्तरः ।
नटवद्वर्णिकायोगादन्यथात्वमिवाच्छंति ॥"

"जैसे, एक ही नट विविध प्रकार के वेश-विन्यास से अनेक पात्रों की भूमिका में अवतीर्ण होकर भिन्न-भिन्न रूप में दीखता है, उसी प्रकार काव्य में समस्त अर्थविस्तार,

१. 'अन्ध' शब्द दृष्टिहीन का वाचक है ; किन्तु यहाँ उसका प्रयोग प्रकाशहीन या मलिन अर्थ में किया गया है। यह अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यध्वनि है। वाल्मीकिरामायण का यह पद्य ध्वन्यालोक में भी उद्धृत किया गया है।

२. द्रे० कालिदास : रघुवंश, सर्ग ७।

उक्ति की विचित्रता से विविध रूप धारण करके सहृदय-हृदयों में आह्लाद और चमत्कार उत्पन्न करता है।

अथ तुल्यदेहितुल्यस्य भिदाः।

अब तुल्यदेहितुल्य अर्थहरण के भेद कहे जाते हैं। इसके आठ भेद होते हैं—१. विषयपरिवर्त्त, २. द्वन्द्वविच्छित्ति, ३. रत्नमाला, ४. संख्योल्लेख, ५. चूलिका, ६. विधानापहार, ७. माणिक्यपुंज और ८. कन्द। यह अपहरण भी कवियों के लिए ग्राह्य है।

तस्यैव वस्तुनो विषयान्तरयोजनादन्यरूपापत्तिर्विषयपरिवर्त्तः।

एक ही वस्तु की दूसरे विषय से योजना करने पर दूसरे रूप की प्राप्ति होना विषयपरिवर्त्त है।

यथा—

"ये सीमन्तितगात्रभस्मरजसो ये कुम्भकद्वेषिणो
ये लीढाः श्रवणाश्रयेण फणिना ये चन्द्रशैत्यद्रुहः।
ते कुप्यद्गिरिजाविभक्तवपुषश्चित्तव्यथासाक्षिणः
स्थाणोर्दक्षिणनासिकापुटभुवः श्वासानिलाः पान्तु वः॥"

जैसे—

"प्रणय-कुपित पार्वती से विभक्त अर्धशरीरवाले अर्धनारीश्वर शंकर की दाहिनी नासिका से निकलनेवाले वे निःश्वास, आपकी रक्षा करें, जो वेग से निकलने के कारण अंग में पुते हुए भस्म के बीच सीमन्तरेख-सी बनाते हैं, जो कुम्भक नामक प्राणायाम के विरोधी हैं, जो कानों में लटकते हुए सर्पों द्वारा पान किये जा रहे हैं, जो चन्द्रमा की शीतलता के विरोधी हैं और जो हृदय की विरह-व्यथा के साक्षी हैं।[1] तात्पर्य यह है कि शिवजी के वामांग से प्रणयकुपिता पार्वती रूठकर पृथक् हो गई हैं और दक्षिणाङ्ग शिवजी, उनकी विरह-व्यथा में उष्ण निःश्वास छोड़ रहे है।"[2]

अत्रार्थे—

"ये कीर्णक्वथितोदराब्जमधवो ये म्लापितोरःस्रजो
ये तापात्तरलेन तल्पफणिना पीतप्रतीपोज्झिताः।
ते राधास्मृतिसाक्षिणः कमलया सासूयमाकर्णिता
गाढान्तर्दवथोः प्रतप्तसरलाः श्वासा हरेः पान्तु वः॥"

---

१. श्वास को रोकना कुम्भक प्राणायाम की क्रिया है। यहाँ पार्वती के कुपित होने के कारण शिवजी के श्वास-प्रश्वास व्याकुलता के कारण शीघ्रता से चल रहे हैं। अतः, उन्हें कुम्भक का विरोधी कहा गया है। सर्प, वायुभक्षी होते हैं, इसलिए शिवजी के उन प्रचुर मात्रा में निकलनेवाले निःश्वास-वात का पान कर रहे हैं। श्वासों के उष्ण और ऊर्ध्वगामी होने के कारण मस्तक-स्थित चन्द्रमा भी उष्ण हो रहा है।

२. द्र० राजशेखर : बालभारत-नाटक, १-२।

इसी अर्थ का परिवर्त्तित दूसरा उदाहरण—

"राधा के विरहजन्य प्रगाढ संताप को हृदय में दबाये हुए भगवान् कृष्ण के वे उष्ण और दीर्घ निःश्वास आपकी रक्षा करें, जो हाथ में लिये हुए कमलों के भीतर प्रविष्ट होकर मकरन्द को उछालकर इधर-उधर बिखेर रहे हैं, जो गले में पड़ी हुई वनमाला को म्लान कर रहे हैं, जिन्हें शय्याभूत शेषनाग पान करने के अनन्तर उष्णता के कारण पुनः बाहर फेंक रहा है, जो राधा की स्मृति की साक्षी बन रहे हैं और जिनके ऊँचे शब्द को लक्ष्मी ईर्ष्या के साथ सुन रही है। कारण यह कि उनकी सपत्नी राधा के लिए भगवान् विरह-व्यथित हो रहे हैं।"

पूर्वरचना में वर्णित शिव-पार्वती के विरह से सम्बद्ध विषय को दूसरी रचना में राधा-कृष्ण के विरह में परिवर्त्तित कर दिया गया है। अतः, यह 'विषयपरिवर्त्त' नाम का तुल्यदेहितुल्य हरण है।

द्विरूपस्य वस्तुनोऽन्यतमरूपोपादानं द्वन्द्वविच्छित्तिः।

दो रूपों में वर्णित किसी विषय को एक निश्चित रूप दे देना द्वन्द्वविच्छित्ति है।

यथा—

"उत्क्लेशं केशबन्धः कुसुमशररिपोः कल्मषं वः स मुष्या-
द्यत्रेन्दुं वीक्ष्य गङ्गाजलभरलुलितं बालभावादभूताम्।
क्रौञ्चारातिश्च फाण्टस्फुरितशफरिकामोहलोलेक्षणश्रीः
सद्यः प्रोद्यन्मृणालीग्रहणरसलसत्पुष्करश्च द्विपास्यः॥"

जैसे—

"कामारि शिव का वह जटाजूट, आपके क्लेशकारक पापों का हरण करे, जिसमें बहते हुए गंगाजल के प्रवाह से हिलती हुई चन्द्रकला को देखकर, कार्त्तिकेय, अनायास फुदकती हुई मछली के मोह में बाल-सुलभ स्वभाव से चंचल दृष्टि गड़ाये हुए हैं और गजानन, उसे अभिनव-विकसित मृणाल का अंकुर समझकर भक्षण करने की धुन में सूँड़ को हिला रहे हैं।"

अत्रार्थे—

"दिश्याद्धूर्जटिजूटकोटिसरिति ज्योत्स्नालवोद्भासिनी
शाशाङ्की कलिका जलभ्रमिवशाद्द्राग्दृष्टनष्टा सुखम्।
यां चञ्चत्शफरीभ्रमेण मुकुलीकुर्वन्फणालीं मुहु-
र्मुह्यल्लक्ष्यमहिर्जिघृक्षतितमामाकुञ्चनप्राञ्चनैः॥"

इसी अर्थ में दूसरा उदाहरण—

"शिव-जटाजूट में घूमती हुई गंगा के जल में चाँदनी के कारण चमकती हुई

और जल-लहरियों में कभी छिपती और कभी प्रकट होती हुई चन्द्रमा की वह कला, आपको सुखी करे, जिसे शिवजी का सर्प, फुदकती हुई मछली समझकर लक्ष्य पर मुग्ध होकर अपने फणों को बार-बार मुकुलित करता हुआ तथा सिकोड़ता एवं फैलाता हुआ लक्ष्य (शिकार) बनाने की धुन में मग्न है।"

यहाँ पूर्वश्लोक में शिव-जटाजूट-स्थित चन्द्रकला को शफरी और मृणाली—इन दो रूपों में चित्रित किया गया था और उत्तरश्लोक में, उसे शफरी का निश्चित रूप दे दिया गया। इसलिए, यह 'द्वन्द्वविच्छित्ति' है। द्वन्द्व=सन्देह, विच्छित्ति=विनाश, अर्थात् जहाँ सन्देह का नाश होकर निश्चय हो जाता है।

पूर्वार्थानामर्थान्तरैरन्तरणं रत्नमाला।

पहले किसी कवि के द्वारा वर्णित अर्थ को दूसरे अर्थों से व्यवहित कर देना रत्नमाला है।

यथा च—

"कपाले मार्जारः पय इति करांल्लेढि शशिनः
तरुच्छिद्रप्रोतान्बिसमिति करेणुः कलयति।
रतान्ते तल्पस्थान्हरति वनिताप्यंशुकमिति
प्रभामत्तश्चन्द्रो जगदिदमहो विभ्रमयति ॥"[1]

जैसे—

"प्रभा (चाँदनी) से उन्मत्त चन्द्रमा, सारे जगत् को भ्रान्त बना रहा है—यह अत्यन्त आश्चर्य की बात है। क्योंकि बिल्ली, श्वेत कपाल में पड़ी हुई चाँदनी को दूध समझकर चाट रही है। हथिनी, वृक्षों के पत्तों से छनकर नीचे आती हुई दण्डायमान उन चन्द्रकिरणों को मृणाल समझकर सूँड़ से पकड़ रही है, और रति के अनन्तर सुन्दरी, पलंग पर पड़ती हुई उस चाँदनी को वस्त्र समझकर समेटना चाहती है।"

अत्रार्थे—

"ज्योत्स्नार्चिर्दुग्धबुद्ध्या कवलितमसकृद्भाजने राजहंसैः
स्वांसे कर्पूरपांसुच्छुरणरभसतः सम्भृतं सुन्दरीभिः।
पुम्भिर्व्यस्तं स्तनान्तात्सिचयमिति रहःसम्भ्रमे वल्लभानां
लीढं द्राक्सिन्धुवारेष्वभिनवसुमनोलम्पटैः षट्पदैश्च ॥"

इसी अर्थ का दूसरा उदाहरण—

"राजहंस, चन्द्रमा की किरणों को पात्र में रखा हुआ दूध समझकर बार-बार पीने के लिए चोंच चला रहे थे। सुन्दरियाँ, अपने कन्धों पर पड़ती हुई चाँदनी को कर्पूर

1. शार्ङ्गधरपद्धति और सुभाषितावली में यह पद्य भास के नाम से उद्धृत है, किन्तु उनके किसी उपलब्ध प्रबन्ध में नहीं मिलता।

समझकर हाथों से शरीर पर उसका लेपन कर रही थी ; प्रियतमाओं के एकान्त संयोग के अवसर पर पुरुष, उनके खुले स्तनों पर पड़ी हुई चाँदनी को वस्त्र समझकर हटा रहे थे और अभिनव-कुसुम-लोलुप भौंरें, सिन्धुवार-वृक्षों को नवविकसित पुष्पों के भ्रम से जल्दी-जल्दी चाट रहे थे।"

यहाँ प्रथम पद्य के अर्थों को दूसरे पद्य में नवीन अर्थों द्वारा व्यवहित कर दिया गया है। अतः, यह 'रत्नमाला' नामक तीसरा तुल्यदेहितुल्य अपहरण है।

सङ्ख्यावैषम्येणार्थप्रणयनं सङ्ख्योल्लेखः ।

एक रचना में जो संख्या कही गई है, उसकी अपेक्षा विपरीत संख्याओं का वर्णन करना संख्योल्लेख है।

यथा—

"नमन्नारायणच्छायाच्छुरिताः पादयोर्नखाः ।
त्वच्चन्द्रमिव सेवन्ते रुद्र रुद्रेन्दवो दश ॥"

जैसे—

"हे रुद्र ! पैरों पर झुककर प्रणाम करते हुए नारायण की छाया से अंकित तुम्हारे दसों नख ऐसे प्रतीत होते हैं कि मानों तुम्हारे मस्तक-स्थित चन्द्रमा की सेवा के लिए अन्य दस रुद्रों के मस्तक-चन्द्र एकत्र हुए हों।"

अत्रार्थे—

"उमैकपादाम्बुरुहे स्फुरन्नखे
कृतागसो यस्य शिरःसमागमे ।
षडात्मतामाश्रयतीव चन्द्रमाः
स नीलकण्ठः प्रियमातनोतु वः ॥"

इसी अर्थ में दूसरा उदाहरण—

उमा के "चमकते हुए नखोंवाले एक चरण-कमल पर, जिन अपराधी शिव के मस्तक का समागम होने से, मस्तकस्थित चन्द्रमा, छह रूपों में विभक्त हो जाता है, वे शिव आपका कल्याण-विस्तार करें।"

यहाँ पूर्व पद्य में वर्णित, शिवमस्तक-स्थित चन्द्रमा के साथ, दस चन्द्रों के वर्णन का विपरीत उल्लेख किया गया है, अर्थात् वह पार्वती के पाँच नखों में प्रतिबिम्बित होकर स्वयं छह प्रकार का हो गया।[1]

---

१. तात्पर्य यह कि नारायण ने शिव के चरणों में प्रणाम किया, तो उनका मुखचन्द्र उनके दस नखों में चमककर दस रूप में दीख रहा था। उससे ऐसा प्रतीत होता था कि मानों दस रुद्रों के चन्द्र, शिव के मस्तक-स्थित एक प्रधान चन्द्रमा की सेवा के लिए शिव के दस नखों के रूप में एकत्र हो गये हैं; किन्तु जब शिव प्रणयकुपिता पार्वती के चरणों में प्रणाम कर रहे थे, तब वही शिवमस्तक-स्थित

सममभिधायाधिकस्योपन्यासश्चूलिका । द्विधा च सा संवादिनी विसंवादिनी च ।

चूलिका, तुल्य अर्थ को कहकर पुनः उसकी अपेक्षा विशेष अर्थ का उल्लेख करना चूलिका है। वह दो प्रकार की होती है--संवादिनी और विसंवादिनी। अर्थात्, समान और असमान।

तयोः प्रथमा यथा—

> **"अङ्गणे शशिमरीचिलेपने**
> **सुप्तमिन्दुकरपुञ्जसन्निभम् ।**
> **राजहंसमसमीक्ष्य कातरा**
> **रौति हंसवनिताश्रुगद्गदम् ॥"[२]**

संवादिनी चूलिका का उदाहरण—

"चन्द्रकिरणों से लिपे-पुते शुभ्र आँगन में, चन्द्रकिरणों के समूह के समान सिमटकर सोये हुए राजहंस को न देखकर, हंसिनी अश्रुगद्गद रुदन करती है।"

अत्रार्थे—

> **"चन्द्रप्रभाप्रसरहासिनि सौधपृष्ठे**
> **दुर्लक्षपक्षतिपुटां न विवेद जायाम् ।**
> **मूढश्रुतिर्मुखरनूपुरनिःस्वनेन**
> **व्याहारिणीमपि पुरो गृहराजहंसः ॥"**

इसी अर्थ में दूसरा उदाहरण—

"चन्द्रिका के प्रसार से हँसते हुए प्रासाद-पृष्ठ पर, गृह-सुन्दरियों के बजते हुए नूपुर की ध्वनि से बहरे राजहंस ने, चाँदनी सी श्वेत पंखोंवाली और सामने से पुकारती हुई हंसिनी को भी नहीं पहचाना।"

दूसरे पद्य में, प्रथम पद्य के अर्थ को समान रूप से कहते हुए भी, कवि ने, नूपुर-ध्वनि के कारण शब्द को भी न सुनने का विशेष उल्लेख किया है। यह संवादिनी चूलिका है।

द्वितीया तत्रैवार्थे यथा---

> **"ज्योत्स्नाजलस्नायिनि सौधपृष्ठे**
> **विविक्तमुक्ताफलपुञ्जगौरम् ।**

चन्द्रमा, स्वयं पार्वती के चरणनखों में पाँच रूपों में प्रकाशित हो रहा था। जिस चन्द्र की सेवा दस चन्द्र कर रहे थे, वह स्वयं छह रूपों में विभक्त हो गया है। यह अर्धनारी के रूप का वर्णन है।

२. दे० कुमारदास : जानकीहरण, ८-८५।

विवेद हंसी दयितं कथञ्चि-
च्चलत्तुलाकोटिकलैर्निनादैः ॥"

उसी अर्थ में विसंवादिनी चूलिका का उदाहरण—

हंसिनी ने, चाँदनी-रूपी जल से धुले भवन की छत पर बैठे हुए, विशुभ्र मोतियों के पुंज के समान श्वेत प्रियहंस को, नूपुरों की ध्वनि के समान उसके मधुर शब्दों से, किसी प्रकार पहचाना।

इसका अर्थ पूर्वपद्यों से विपरीत है। अतः, यह 'विसंवादिनी चूलिका' है।

निषेधस्य विधिना निबन्धो विधानापहारः।

निषेध का विधान-रूप से उल्लेख करना विधानापहार है।

यथा—

"कुरवक कुचाघातक्रीडारसेन वियुज्यसे
बकुलविटपिन् स्मर्त्तव्यं ते मुखासवसेचनम्।
चरणघटनाशून्यो यास्यस्यशोक सशोकता-
मिति निजपुरत्यागे यस्य द्विषां जगदुः स्त्रियः॥"[१]

जैसे—

"जिस राजा की शत्रु-रमणियाँ, नगर-परित्याग कर भागने के समय, अपने उद्यान के प्रिय-वृक्षों को सम्बोधित करके इस प्रकार कहती थीं कि हे कुरवक! अब तुम हमारे कुचों के आघात का आनन्द न पा सकोगे। हे बकुलवृक्ष! तुम्हारे लिए हमारे मुखों से आसव का सिंचन अब स्मरण की वस्तु बन जायगा और हे अशोक! हमारे चरण-संयोग से विरहित होकर तुम सशोक हो जाओगे।"

तात्पर्य यह है कि कुरवक, बकुल और अशोक, क्रमशः युवती-रमणियों के आलिंगन, मुखासव-सिंचन और पदाघात से शीघ्र विकसित होते हैं। अब उनके पलायन कर जाने पर ये दोहद उन्हें प्राप्त न हो सकेंगे। यह निषेध रूप में दोहद-रूप अर्थ का वर्णन है।

अत्रार्थे—

"मुखमदिरया पादन्यासैर्विलासविलोकितै-
र्बकुलविटपी रक्ताशोकस्तथा तिलकद्रुमः।
जलनिधितटीकान्ताराणां क्रमात्ककुभां जये
झगिति गमिता यद्वर्गाभिर्विकासमहोत्सवम्॥"

---

१. 'सुभाषितावली' में यह श्लोक रत्नाकर के नाम से उद्धृत है। दे० श्लोक २५६४।

दूसरा विधान-रूप उदाहरण—

"समुद्रतट-स्थित वन-प्रदेश के राजाओं का क्रमशः विजय करने पर, जिस राजा की सेना में स्थित युवतियों ने, मुख-मदिरा से, पदाघातों से और स-कटाक्ष निरीक्षणों से बकुल, रक्ताशोक तथा तिलक वृक्षों का विकास-महोत्सव संपादित किया।"

पूर्वपद्य में, जो विषय निषेध-रूप से चित्रित किया गया था, वह दूसरे पद्य में विधिरूप से अंकित किया गया है। अर्थात्, प्रथम पद्य में, विजित रमणियों द्वारा जिन वृक्षों को दोहद न मिलने का वर्णन किया है; दूसरे पद्य में, विजेता की रमणियों द्वारा उन्हीं वृक्षों के दोहद का विधान किया गया। अतः, यह 'विधानापहार' है।

बहूनामर्थानामेकत्रोपसंहारो माणिक्यपुञ्जः।

बहुत से अर्थों का एक स्थान पर उपसंहार करना माणिक्य-पुंज है।

यथा—

"शैलच्छलेन स्वं दीर्घं भुजमुत्तम्य भूवधूः।
निशासख्याः करोतीव शशाङ्कतिलकं मुखे॥"

जैसे—

"पृथ्वी-रूपी वधू, ऊँचे पर्वतों के व्याज से, मानों अपने लम्बे हाथों को ऊपर उठाकर, निशा-सखी के मस्तक पर चन्द्रमा-रूपी तिलक लगा रही है।'

यथा च—

"फुल्लातिमुक्तकुसुमस्तबकाभिराम-
दूरोल्लसत्किरणकेसरमिन्दुसिंहम्।
दृष्ट्वोदयाद्रिशिखरस्थितमन्धकार-
दुर्वारवारणघटा व्यघटन्त सद्यः॥"

दूसरा उदाहरण—

"विकसित वासन्ती-लता के पुष्पगुच्छ के समान सुन्दर एवं दूसरे से चमकती हुई किरण-रूपी सटावाले चन्द्र-रूपी सिंह को, उदयाचल के शिखर पर चढ़े हुए देखकर, अन्धकार-रूपी दुर्वार हाथियों का झुण्ड, शीघ्र ही विघटित हो गया।

यथा च—

"संविधातुमभिषेकमुदासे
मन्मथस्य लसदंशुजलौघः।
यामिनीवनितया ततचिह्नः
सोत्पलो रजतकुम्भ इवेन्दुः॥"

तीसरा उदाहरण—

"चन्द्रमा, कामदेव के अभिषेक करने के लिए चमकते हुए किरण-जल से भरे हुए और यामिनी-रमणी द्वारा चिह्न किये हुए एवं कमलसहित रजत-कलश के समान, शोभित हो रहा है।"

यथा च—

"उदयति पश्य कृशोदरि दलितत्वक्क्षीरकरणिभिः किरणैः।
उदयाचलचूडामणिरेष पुरो रोहिणीरमणः॥"

चौथा उदाहरण—

"हे कृशोदरि! देखो, तुरन्त विदलित की गई वृक्ष-त्वचा से निकले हुए दूध के समान शुभ्र किरणों से शोभित रोहिणीरमण चन्द्रमा, उदयाचल की चूडामणि के समान उदित हो रहा है।".

यथा च—

"उदयति नवनीतपिण्डपाण्डुः कुमुदवनान्यवघट्टयन्कराग्रैः।
उदयगिरितटस्फुटाट्टहासो रजनिवधूमुखदर्पणः शशाङ्कः॥"

पाँचवाँ उदाहरण—

"नवनीत-पिंड के समान गौर, किरणों से कुमुद-वनों को विकसित करता हुआ, उदयगिरि के तट पर विकसित होते हुए अट्टहास के समान और रजनी-वधू के मुख के शुभ्र दर्पण के सदृश चमकता हुआ चन्द्रमा उदित हो रहा है।"

यथा च—

"प्रोषितैकेन्दुहंसेऽस्मिन्सस्नाविव तमोऽम्बुभिः।
नभस्तडागे मदनस्ताराकुमुदहासिनि॥"

और भी—

"कामदेव, एकमात्र चन्द्र—हंस से विरहित और नक्षत्र-रूपी विकसित कुमुदों से हँसते हुए, आकाश-सरोवर में, अन्धकार-रूपी जल से मानों स्नान कर रहा है।"

अत्रार्थे—

"रजनिपुरन्ध्रिरोध्रतिलकस्तिमिरद्विपयूथकेसरी
रजतमयोऽभिषेककलशः कुसुमायुधमेदिनीपतेः।
अयमुदयाचलैकचूडामणिरभिनवदर्पणो दिश-
मुदयति गगनसरसि हंसस्य हसन्निव विभ्रमं शशी॥"

प्रायः इन छहों रूपकालंकारवाले अर्थों का एक उदाहरण—

"रजनी-रमणी के मस्तक का लोध्र (लाल) तिलक, तिमिर रूपी हाथियों के लिए सिंह, काम-नरपति का रजतमय अभिषेक-कलश, उदयाचल का एकमात्र चूडामणि, दिग्वधुओं का अभिनव दर्पण और गगन-सरोवर में हंस के विलास को हँसता हुआ-सा यह चन्द्रमा उदित हो रहा है।"

अन्तिम रचना में, पूर्वोक्त सभी रचनाओं के अर्थों का एक साथ उपसंहार कर दिया गया है। अतः, यह माणिक्यों के समूह के समान सभी कल्पनाओं को एकत्र कर देने के कारण 'माणिक्यपुंज' नामक सातवाँ तुल्यदेहितुल्य अपहरण है।

कन्दभूतोऽर्थः कन्दलायमानैर्विशेषैरभिधीयत इति कन्दः।

कन्दभूत एक अर्थ को उसके अंकुर-रूप विशेष प्रकारों से चित्रित करना 'कन्द' है।

यथा—

"विशिखामुखेषु विसरति पुञ्जीभवतीव सौधशिखरेषु।
कुमुदाकरेषु विकसति शशिकलशपरिस्रुता ज्योत्स्ना॥"

जैसे—

"चन्द्र-रूपी कलश से निकलती हुई चाँदनी, गलियों के मुहानों पर मानों फैल रही है, मानों प्रासाद-शिखरों पर एकत्र हो रही है और कुमुदों से भरे सरोवरों पर मानों विकसित हो रही है।"

अत्रार्थे—

"वियति विसर्पतीव कुमुदेषु बहूभवतीव योषितां
प्रतिफलतीव जरठशरकाण्डपाण्डुषु गण्डभित्तिषु।
अम्भसि विकसतीव लसतीव सुधाधवलेषु धामसु
ध्वजपटपल्लवेषु लसतीव समीरचलेषु चन्द्रिका॥"

इसी कन्दभूत अर्थ का विशेष प्रकार से विस्तार, जैसे—

"चन्द्रिका, आकाश में फैल-सी रही है, कुमुदों में घनीभूत-सी हो रही है, ललनाओं के सूखे सरकंडों के समान पाण्डुर कपोलों की भीत पर दूनी-सी हो रही है, जल में विकसित-सी हो रही है, चूने से पुते हुए शुभ्र भवनों में चमक-सी रही है और वायु से हिलते हुए ध्वजों के (श्वेत) पल्लवों पर खेलती-सी प्रतीत हो रही है।"

दूसरा उदाहरण—

"स्फटिकमणिघट इवेन्दुस्तस्यामपिधानमाननमिवाङ्कः।
क्षरति चिरं तेन यथा ज्योत्स्ना घनसारधूलिरिव॥"

"शरत्पूर्णिमा के दिन, स्वच्छ आकाश में चमकता हुआ चन्द्रमा, स्फटिक-

मणि के कलश के समान प्रतीत होता है उसका श्याम-कलंक, कलश के खुले हुए मुख-सा प्रतीत हो रहा है और जैसे उसके मध्य से कर्पूर-चूर्ण के समान मानों लम्बे समय से शुभ्र चाँदनी झर रही है।"

और भी —

"सितमणिकलशादिन्दोर्हरिणहरित्तृणपिधानतो गलितैः।
रजनिभुजिष्या सिञ्चति नभोऽङ्गणं चन्द्रिकाम्भोभिः॥"

"रजनी-दासी स्फटिक-मणि के कलश के समान चन्द्रमा के हरिण-रूपी हरी घास की पत्तियों से ढके मुख से निकलते हुए चन्द्रिका-जल को, गगन-आँगन में छिड़क रही है।"

"संविधातुमभिषेकमुदासे
मन्मथस्य लसदंशुजलौघः।
यामिनीवनितया ततचिह्नः
सोत्पलो रजतकुम्भ इवेन्दुः॥"

इसी प्रकार के 'संविधातुमिव' इस श्लोक का अर्थ पृ० १८४ पर माणिक्यपुञ्ज के उदाहरण में दिया गया है।

इन उपर्युक्त रचनाओं में, प्रथम पद्य के अर्थ को विविध प्रकार से विस्तृत करके विशेषरूपेण चित्रित किया गया है। अतः, यह 'कन्द' है और उसके अंकुर के समान अनेक अर्थों का चित्रण किया गया है।

ता इमास्तुल्यदेहितुल्यस्य परिसंख्याः। 'सोऽयमुल्लेखवाननुग्राह्यो मार्गः' इति सुरानन्दः।

इस प्रकार, तुल्यदेहितुल्य नामक अपहरण के आठ अवान्तर भेद कहे गये हैं। सुरानन्द का मत है कि यह प्रतिभा-प्रसूत 'तुल्यदेहितुल्य' काव्यमार्ग कवियों के लिए स्वीकार्य है।

तदाह—

"सरस्वती सा जयति प्रकामं
देवी श्रुतिःस्वस्त्ययनं कवीनाम्।
अनर्घतामानयति स्वभङ्ग्या
योल्लिख्य यत्किञ्चिदिहार्थरत्नम्॥"

जैसा कि कहा है--

"उस वेदमयी देवी एवं कवियों तथा कवयित्रियों के लिए अत्यन्त मंगलदायिनी सरस्वती देवी की सर्वदा जय हो, जो किसी भी साधारण पदार्थरूपी-रत्न का अपनी

प्रतिभा से उल्लेखन (घर्षण) करके अमूल्य और उज्ज्वल बना देती है। अर्थात्, यह प्रतिभा का ही प्रसाद है कि सर्वजनसाधारण शब्द और अर्थ उनके प्रभाव से अलौकिक एवं अवर्णनीय आनन्द प्रदान करते हैं।"[1]

अथ परपुरप्रवेशसदृशस्य भिदाः।

अब 'पर-पुरप्रवेश-सदृश' अपहरण के भेद बताये जाते हैं। इसके भी आठ अवान्तर भेद हैं—१. हुडुयुद्ध, २. प्रतिकंचुक, ३. वस्तुसंचार, ४. धातुवाद, ५. सत्कार, ६. जीवंजीवक, ७. भावमुद्रा और ८. तद्विरोधी।

उपनिबद्धस्य वस्तुनो युक्तिमती परिवृत्तिर्हुडुयुद्धम्।

किसी प्राचीन कवि की अर्थरचना का युक्तिपूर्वक परिवर्त्तन करना—'हुडुयुद्ध' कहा जाता है।

यथा—

"कथमसौ न भजत्यशरीरतां
हतविवेकपदो हतमन्मथः।
प्रहरतः कदलीदलकोमले
भवति यस्य दया न वधूजने॥"

जैसे—

वह अविवेकी दुष्ट कामदेव, अनंग या अशरीर क्यों न हो, जिसे केले के कोमल पत्तों के समान मृदुल वधूजनों पर प्रहार करते हुए तनिक भी दया नहीं आती।

अत्रार्थे—

"कथमसौ मदनो न नमस्यतां
स्थितविवेकपदो मकरध्वजः।
मृगदृशां कदलीललितं वपु-
र्यदभिहन्ति शरैः कुसुमोद्भवैः॥"

इसी रचना के युक्तिपूर्ण परिवर्त्तन का उदाहरण —

"परमविवेकी कामदेव को नमस्कार क्यों न किया जाय, जो कदली-दल के समान कोमल-मृगनयनियों के शरीर पर कुसुम-बाणों से प्रहार करता है।"

पूर्व पद्य में, जिस कार्य के हिंसक कहकर कामदेव की निन्दा की गई थी; दूसरे पद्य में, उसके उसी कार्य को युक्ति से उपयुक्त बताकर उसकी प्रशंसा की गई है।

१. सुरानन्द के इस पद्य की आचार्य आनन्द के इस पद्य से तुलना कीजिए—
"सरस्वती स्वादु तदर्थवस्तु निष्यन्दमाना महतां कवीनाम्।
अलोकसामान्यमभिव्यनक्ति प्रतिस्फुरन्तं प्रतिभाविशेषम्॥"—ध्वन्यालोक, ५–६

प्रकारान्तरेण विसदृशं यद्वस्तु तस्य निबन्धः प्रतिकञ्चुकम् ।

किसी कवि की रचना में, एक प्रकार से वर्णित वस्तु को, अन्य प्रकार से वर्णन करना 'प्रतिकंचुक' है।

यथा—

"माद्यच्चकोरेक्षणतुल्यधाम्नो
धारां दधाना मधुनः पतन्तीम् ।
चञ्च्वग्रदष्टोत्पलनालहृद्या
हंसीव रेजे शशिरत्नपारी ॥"

जैसे—

"मद्यपान-गोष्ठी में, उन्मत्त चकोर की आँखों की भाँति रक्तवर्ण एवं गिरती हुई मद्यधारा का धारण करती हुई, चन्द्रकान्तमणि-निर्मित झारी (सुराही), ऐसी प्रतीत होती है, जैसे चोंच में लटकती हुई लम्बी कमल-नाल लिये सुन्दर लग रही हंसी हो।"

तात्पर्य यह है कि झारी, चन्द्रकान्तमणि-निर्मित होने के कारण, हंसी के समान, उसकी नलिका (टोंटी) चोंच के समान तथा उससे निकलती हुई मधुधारा चोंच में पकड़े हुए मृणाल के समान प्रतीत हो रही है।

अत्रार्थे—

"मसारपारेण बभौ ददाना
काचित्सुरां विद्रुमनालकेन ।
वल्लूरवल्लीं दधतेव चञ्च्वा
केलीशुकेनाञ्जलिना धृतेन ॥"

इसी अर्थ में दूसरा उदाहरण—

"कोई रमणी. विद्रुम-मणि की नाल (टोंटी) वाली मरकतमणि-निर्मित झारी (सुराही) से पानपत्र में मद्यधारा को गिराती हुई. ऐसी शोभित हो रही है, मानों सूखे मांस के टुकड़े को चोंच में लटकाये हुए केलिशुक को अंजलि में बैठाये हुए है।"

अर्थात्, झारी का रंग, हरे सुग्गे के समान, उसकी विद्रुम-नाल (टोंटी), चोंच के समान और मद्यधारा, मुख में लटकते हुए मांस की शुष्क कली के समान, प्रतीत होती थी।

यहाँ दोनों पद्यों में, मुख्यतः वर्णनीय वस्तु, मद्य ढालने की झारी या करवा है। प्रथम पद्य में वह चन्द्रकान्तमणि-निर्मित होने के कारण, हंसी के समान कही गई है और दूसरे में, मरकतमणि-निर्मित होने के कारण, शुक के समान कही गई है—यही भेद है। इसका नाम प्रतिकञ्चुक अर्थात् दूसरे रंग की चोली पहना देना है।

उपमानस्योपमानान्तरपरिवृत्तिर्वस्तुसञ्चारः ।

किसी कवि द्वारा उपमान-रूप में वर्णित वस्तु को दूसरे उपमानों से परिवर्त्तित कर देना 'वस्तुसंचार' कहा जाता है।

यथा—

"अविरलमिव दाम्ना पौण्डरीकेण बद्धः
स्नपित इव च दुग्धस्रोतसा निर्भरेण ।
कवलित इव कृत्स्नश्चक्षुषा स्फारितेन
प्रसभममृतमेघेनेव सान्द्रेण सिक्तः ॥"[१]

जैसे—

नायक की मित्र के प्रति उक्ति—"मेरे प्रति उस नायिका के दृष्टिपात करने पर, मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि मैं कमलों की रस्सी से जकड़कर बाँध दिया जा रहा हूँ, या निरन्तर बहते हुए दूध के झरने से नहलाया जा रहा हूँ, या उसके विस्फारित नेत्रों का ग्रास बनता जा रहा हूँ, अथवा घने अमृत-मेघ की वर्षा से हठात् सींचा जा रहा हूँ।"

अत्रार्थे—

"मुक्तानामिव रज्जवो हिमरुचेर्मालाः कलानामिव
क्षीराब्धेरिव वीचयः क्लमभुषः पीयूषधारा इव ।
दीर्घापाङ्गनदीं विलङ्घ्य सहसा लीलानुभावाञ्चिताः
सद्यः प्रेमभरोल्लसा मृगदृशो मामभ्यषिञ्चन्दृशः ॥"

इसी अर्थ में दूसरा उदाहरण—

"मुक्तालता की रस्सियों के समान, चन्द्रमा की किरणों की मालाओं के समान, क्षीर-समुद्र की लहरियों के समान एवं श्रम हरण करनेवाली अमृत-धारा के समान, उस मृगलोचनी की, प्रेम से सद्यः उल्लसित एवं लीला के अनुभाव से युक्त दृष्टियाँ (चितवनें), लम्बी कटाक्ष-नदी को पार कर, मुझे आनन्द-सिंचित करने लगीं।"

दोनों उदाहरणों में, उपमेय आँखें हैं; किन्तु प्रथम पद्य में, उसके उपमान कमल आदि हैं और दूसरे में मुक्ता आदि हैं। अतः, यह उपमानरूप वस्तु का संचार है।

शब्दालङ्कारस्यार्थालङ्कारेणान्यथात्वं धातुवादः ।

शब्दालंकार को अर्थालंकार के रूप में बदल देना 'धातुवाद' है।

यथा—

"जयन्ति बाणासुरमौलिलालिताः
दशास्यचूडामणिचक्रचुम्बिनः ।

१, दे० भवभूति : मालतीमाधव, अङ्क ३।

सुरासुराधीशशिखान्तशायिनो
भवच्छिदस्त्र्यम्बकपादपांसवः ॥"[1]

जैसे—

"वाणासुर के मस्तक से लालित, रावण के मस्तकों में चमकते हुए मणि-मंडल को चूननेवाली, सुराधीशों और असुराधीशों के मस्तकों पर सदा छाई रहनेवाली एवं भवताप-हरण करनेवाली, शंकर की चरण-रेणुओं की जय हो।"

अत्रार्थे—

"सन्मार्गालोकनप्रौढिनिरजीकृतजन्तवः ।
जयन्त्यपूर्वव्यापाराः पुरारेः पादपांसवः ॥"

इसी अर्थ में दूसरा उदाहरण—

"सन्मार्ग-प्रदर्शन करने की प्रौढता के कारण प्राणियों को रजोगुण से रहित करती हुई, अतएव अपूर्व व्यापार में समर्थ, शिवजी की चरण-रेणुओं की जय हो।"

पूर्वश्लोक में, लकार, चकार और सकार का वृत्त्यनुप्रास नामक शब्दालंकार है और दूसरे उदाहरण में, काव्यलिंग नामक अर्थालंकार है। वर्णनीय शिव की चरण-रेणु दोनों में एक समान है। अतः, इस रचना का नाम 'धातुवाद' है।

तस्यैव वस्तुन उत्कर्षेणान्यथाकरणं सत्कारः। यथा—

किसी के द्वारा वर्णित सामान्य वस्तु को विशेष रचना द्वारा वर्णन करना 'सत्कार' है। जैसे—

"स्नानार्द्रार्द्रैर्विधुतकबरीबन्धलोलैरिदानीं
श्रोणीभारः कृतपरिचयः पल्लवैः कुन्तलानाम् ।
अप्येतेभ्यो नभसि पततः पङ्क्तिशो वारिबिन्दून्
स्थित्वोद्ग्रीवं कुवलयदृशां केलिहंसाः पिबन्ति ॥"

'स्नानार्द्रार्द्रैः' का अनुवाद पृ० १६८ में ही किया गया है।

अत्रार्थे—

"लक्ष्म्याः क्षीरनिधेरुदक्तवपुषो वेणीलताग्रच्युता
ये मुक्ताग्रथनामसूत्रसुभगाः प्राप्ताः पयोबिन्दवः
ते वः पान्तु विशेषसस्पृहदृशा दृष्टाश्चिरं शार्ङ्गिणा
हेलोद्ग्रीवजलेशहंसवनितालीढाः सुधास्वादवः ॥"

---

१. दे० बाणभट्ट : कादम्बरी, श्लो० २।

इस अर्थ में दूसरा उदाहरण—

"क्षीर-समुद्र से सद्यः आविर्भूत, अतएव आर्द्रशरीर लक्ष्मी देवी के केशपाश से टपकते हुए, विना गुँथे मोतियों की माला के समान प्रतीत होते हुए, भगवान् विष्णु द्वारा प्रेमाभिलाष के साथ देखे गये और समुद्र-तट की हंसिनियों द्वारा ग्रीवा को विशेष भंगी से उठाकर चंचुओं से पान किये गये, सुधा-स्वादु जलबिन्दु आपकी रक्षा करें।"

प्रथम पद्य में, सद्यःस्नाता रमणियों के केशों से टपकते हुए जलबिन्दुओं का क्रीडा-हंसों द्वारा पान करना सामान्य रूप से अंकित किया गया है; किन्तु दूसरी रचना में, लक्ष्मी और नारायण के सम्बन्ध से उसे और भी अधिक उत्कृष्ट रूप देकर, उस अर्थ का सत्कार किया गया है। अतः यह 'सत्कार' नामक हरण है।

पूर्वं सदृशः पश्चाद्भिन्नो जीवञ्जीवकः।

आरम्भ में समान और उपसंहार में भिन्न रूप से किसी अर्थ का वर्णन करना 'जीवञ्जीवक' कहा जाता है।

यथा—

"नयनोदरयोः कपोलभागे
रुचिमद्रत्नगणेषु भूषणेषु।
सकलप्रतिबिम्बितेन्दुबिम्बा
शतचन्द्राभरणेव काचिदासीत्॥"

जैसे—

"नेत्रों में, वक्षःस्थल में, कपोलस्थल में तथा दीप्तिमान् रत्नों से जटित समस्त आभूषणों में, प्रतिबिम्बित चन्द्र-बिम्ब के कारण कोई रमणी सैकड़ों चन्द्रों से आभूषित सी लगती थी।"

अत्रार्थे—

"भास्वत्कपोलतलकुण्डलपारिहार्य-
सन्मेखलामणिगणप्रतिबिम्बितेन
चन्द्रेण भाति रमणी रमणीयवक्त्र-
शोभाभिभूतवपुषेव निषेव्यमाणा॥"

इसी अर्थ में दूसरा उदाहरण—

"चमकते हुए कपोलस्थल में, कुंडलों में, कंकणों में और सुन्दर मेखला (करधनी) में जड़े हुए समस्त रत्नों में, प्रतिबिम्बित चन्द्रमा, मानों रमणी की रमणीय मुख-शोभा से पराजित होकर, उसके शरीर की सर्वात्मना सेवा कर रहा था।"

उक्त दोनों पद्यों में, प्रारम्भ का वर्णन समान ही है; किन्तु दूसरे कवि ने, अन्त में 'चन्द्रबिम्ब का नायिका की मुखशोभा से निर्जित होने के कारण उसकी सेवा करना'—

इस नवीन अर्थ की उत्प्रेक्षा करते हुए उसमें नवीन जीवन की सृष्टि कर दी है। अतः, यह 'जीवंजीवक' है।

प्राक्तनवाक्याभिप्रायनिबन्धो भावमुद्रा।

जिस रचना में. प्राचीन कवियों के वाक्य या अभिप्राय को चित्रित किया जाय, वह 'भावमुद्रा' नामक हरण है।

यथा—

"ताम्बूलवल्लीपरिणद्धपूगा-
स्वेलालतालिङ्गितचन्दनासु।
तमालपत्रास्तरणासु रन्तुं
प्रसीद शश्वन्मलयस्थलीषु॥"[१]

जैसे—

"हे इन्दुमति! तुम दक्षिण देश के राजा से विवाह कर, पान की लताओं से वेष्टित पूग (सुपारी)-वृक्षों से शोभित, एला-लताओं से आलिंगित,, चन्दन-वृक्षों से सुरभित और तमाल-पत्रों के आस्तरणवाली, मलयाचल की सुरम्य स्थलियों में, सदा विहार करने के लिए प्रसन्न हो जाओ। अर्थात्, इस राजा का वरण करो।"

अत्रार्थे—

"निश्चेतनानामपि युक्तयोगदो
नूनं स एनं मदनोऽधितिष्ठति।
एला यदाश्लिष्टवतीह चन्दनं
पूगद्रुमं नागलताधिरोहति॥"

इसी अर्थ में दूसरा उदाहरण—

"एला-लता की चन्दन-वृक्षों के साथ और ताम्बूल-लता की पूग (सुपारी) -वृक्षों के साथ आलिंगन-क्रिया को देखते हुए, यह निश्चय होता है कि वसन्त ऋतु में, जड पदार्थों के भीतर भी प्रेम की प्रेरणा करनेवाले कामदेव का निवास होता है।"

यहाँ दूसरे पद्य में, महाकवि कालिदास के प्रथम पद्यगत भाव का सुन्दर और उपपत्ति-युक्त चित्रण हुआ है। अतः, यह 'भावमुद्रा' नामक हरण है।

पूर्वार्थपरिपन्थिनी वस्तुरचना तद्विरोधी।

इसी प्रकार, पूर्वकवि के भाव के विरुद्ध रचना करना उसका (भाव-मुद्रा का) विरोधी है।

१, दे० कालिदास : रघुवंश, ६—६४।

यथा—

"हारो वक्षसि दन्तपत्रविशदं कर्णे दलं कौमुदं
माला मूर्ध्नि दुकूलिनी तनुलता कर्पूरशुक्लौ स्तनौ ।
वक्त्रे चन्दनबिन्दुरिन्दुधवलं बालं मृणालं करे
वेषः किं सित एष सुन्दरि शरच्चन्द्रात्त्वया शिक्षितः ॥"

जैसे—

शुक्लाभिसारिका का वर्णन—"हे सुन्दरी ! वक्षःस्थल पर (शुभ्र) मोतियों का हार, कानों में हाथी-दाँत के पत्र के समान श्वेत-कुमुद का दल, मस्तक पर (श्वेत पुष्पों की) माला, शरीर पर शुभ्र चादर, कर्पूर-चूर्ण से धवलित दोनों स्तन, ललाट पर (श्वेत) चन्दन का तिलक और कलाइयों में चन्द्र-धवल कोमल मृणाल—यह वेष-विन्यास तुमने शरद्-ऋतु के चन्द्र से सीखा है क्या ?"

अत्रार्थे—

"मूर्त्तिर्नीलदुकूलिनी मृगमदैः प्रत्यङ्गपत्रक्रिया
बाहू मेचकरत्नकङ्कणभृतौ कण्ठे मसारावली ।
व्यालम्बालकवल्लरीकमलिकं कान्ताभिसारोत्सवे
यत्सत्यं तमसा मृगाक्षि विहितं वेषे तवाचार्यकम् ॥"

इसी अर्थ में विरोधी उदाहरण—

कृष्णाभिसारिका का वर्णन—'हे मृगलोचने ! नीले रंग की साड़ी और चादर, प्रत्येक अंग में कस्तूरी की पत्र-रचना, हाथों में नील-रत्न-जडित कंकण, गले में इन्द्र-नील मणि की माला और भाल पर झूलते हुए लम्बे काले घुँघराले बाल—तुम्हारे इस वेष-विन्यास में, सचमुच अन्धकार ने आचार्यता की है।"

प्रथम पद्य में, शुक्लाभिसारिका का वर्णन है और दूसरे में कृष्णाभिसारिका का। अतः, यह 'भावमुद्रा' का विरोधी है।

इत्यर्थहरणोपाया द्वात्रिंशदुपदर्शिताः ।
हानोपादानविज्ञाने कवित्वं तत्र मां प्रति ॥

इस प्रकार, अर्थ-हरण के बत्तीस भेद या उपाय बताये गये हैं। मेरे मत से इनमें से त्याज्य और स्वीकार्य अर्थों को जो जानता है, वह सिद्ध कवि है। अर्थात्, उसका काव्य सिद्ध होता है।

किं चैते हरणोपाया ज्ञेयाः सप्रतियोगिनः ।
अर्थस्य वैपरीत्येन विज्ञेया प्रतियोगिता ॥

अर्थहरण के ये सभी उपाय स-विरोधी हैं। अर्थात्, अर्थ को विपरीत कर देने से इनका विरोध हो जाता है।

किञ्च—

शब्दार्थशासनविदः कति नो कवन्ते
यद्वाङ्मयं श्रुतिधनस्य चकास्ति चक्षुः ।
किन्त्वस्ति यद्वचसि वस्तु नवं सदुक्ति-
सन्दर्भिणां स धुरि तस्य गिरः पवित्राः ॥

॥ इति राजशेखरकृतौ काव्यमीमांसायां कविरहस्ये प्रथमेऽधिकरणे अर्थहरणे-ष्वालेख्यप्रख्यादिभेदास्त्रयोदशोऽध्यायः ॥

शब्द और अर्थ को जाननेवाले कितने वैयाकरण, मीमांसक और नैयायिक आदि कविता नहीं करते हैं ; किन्तु जिस अध्ययनशील शास्त्रधन का वाङ्मय लोचन बनता है और जिसके वचन में नवीन वस्तु और नवीन उक्ति की अलौकिक छटा होती है, वही कवि, कवियों में अग्रणी कहा जाता है, और उसी के वचन पूजित (सम्मानित) होते हैं। अर्थात्, शास्त्र का ज्ञान ही पर्याप्त नहीं होता है, प्रत्युत उसके द्वारा वस्तुओं का सम्यक् परिचय प्राप्त करके वचनविदग्धता और नवीनता प्राप्त की जाती है, तभी कोई वास्तविक कवि हो सकता है।

त्रयोदश अध्याय समाप्त

चतुर्दशोऽध्यायः जातिद्रव्यक्रियासमयस्थापना

चतुर्दश अध्याय : जाति, द्रव्य, क्रिया और समय की स्थापना

इस अध्याय में तथा अगले पन्द्रहवें अध्याय में कवि-समय का वर्णन किया जायगा। कवि-समय का अर्थ है—कवियों का आचार या सिद्धान्त। यह कवियों का एक पारिभाषिक शब्द है। इसका तात्पर्य है—कवियों की प्रचलित परम्परा या सम्प्रदाय। जैसे मकर आदि जलचर नदियों में भी होते हैं; किन्तु कवि-परम्परा में उनका वर्णन प्रायः समुद्र में ही किया जाता है। कोयल ग्रीष्म ऋतु में भी बोलती है; किन्तु कवियों की परम्परा में केवल वसन्त में ही उसके कूजन का वर्णन किया जाता है।

अशास्त्रीयमलौकिकं च परम्परायातं यमर्थमुपनिबध्नन्ति कवयः स कविसमयः।

अ-शास्त्रीय (शास्त्रसे बहिर्भूत), अ-लौकिक (लोक-व्यवहार से बहिर्भूत), केवल परम्परा-प्रचलित, जिस अर्थ का कविजन उल्लेख करते हैं—वह कविसमय[1] है।

'नन्वेष दोषः कथङ्कारं पुनरुपनिबन्धनार्हः ?' इति आचार्याः। 'कविमार्गानुग्राही कथमेष दोषः ?' इति यायावरीयः। 'निमित्तं तर्हि वाच्यम्' इति आचार्याः। 'इदमभिधीयते' इति यायावरीयः।

आचार्य कहते हैं कि 'शास्त्र और लोक, दोनों से रहित मनमानी बातों का उल्लेख करना तो दोष है। फिर, ऐसी दोषयुक्त वस्तु का उल्लेख कैसे उचित हो सकता है?' यायावरीय राजशेखर कहते हैं कि 'इसके द्वारा कवियों का उपकार होता है या यह काव्य-मार्ग का प्रदर्शक है। अतः, यह दोष कैसे हो सकता है?' आचार्य कहते हैं कि 'यदि ऐसा है, तो इसका कारण बताइए।' यायावरीय कहते हैं—'यह कहा जा रहा है।'

---

१. कविसमय की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है। महाकवि कालिदास ने अपनी रचनाओं में इसका अधिक उपयोग किया है। भामह, उद्भट, दण्डी आदि आलङ्कारिक आचार्यों ने इस विषय पर विवेचन नहीं किया है; प्रत्युत लोक और शास्त्रविरुद्ध विषयों के वर्णन को काव्यदोष माना है। राजशेखर ने इस विषय पर सर्वप्रथम और विस्तृत विमर्श किया है तथा इसे एक व्यवस्थित रूप दे दिया है। इसका कारण यह प्रतीत होता है कि कुछ लोगों ने कविसमय के नाम पर मनमानी प्रारम्भ कर दी थी। अतः, उसकी विवेचना भी आवश्यक हो गई थी। राजशेखर ने ऐसी मनमानी करनेवाले कवियों को 'धूर्त' कहा है। वामन ने कविशिक्षा नामक प्रकरण में इस विषय की चर्चा की है।

"पूर्वे हि विद्वांसः सहस्रशाखं साङ्गं च वेदमवगाह्य, शास्त्राणि चावबुध्य, देशान्तराणि द्वीपान्तराणि च परिभ्रम्य, यानर्थानुपलभ्य प्रणीतवन्तस्तेषां देशकालान्तरवशेन अन्यथात्वेऽपि तथात्वेनोपनिबन्धो यः स कविसमयः। कविसमयशब्दश्चायं मूलमपश्यद्भिः प्रयोगमात्रदर्शिभिः प्रयुक्तो रूढश्च।"

"प्राचीन विद्वानों ने, सहस्रों शाखावाले वेदों का अंगों-सहित अध्ययन करके, शास्त्रों का तत्त्वज्ञान करके देशान्तरों और द्वीपान्तरों का परिभ्रमण करके, जिन वस्तुओं को देख-सुन और समझकर उल्लिखित किया है, उन पदार्थों का, देश और काल के कारण भेद होने पर या विपरीत हो जाने पर भी, उसी प्राक्तन-अविकृत रूप में वर्णन करना कविसमय है। इस कविसमय शब्द का प्रयोग उसके मूलतत्त्व को न जाननेवाले कुछ लोगों ने, केवल प्रयोग को देखकर ही प्रचलित कर दिया और वह रूढ हो गया है, अर्थात् निश्चित अर्थ में प्रसिद्ध हो गया है।"

"तत्र कश्चिदाद्यत्वेन व्यवस्थितः कविसमयेनार्थः, कश्चित्परस्परो[1]-पक्रमार्थं स्वार्थाय धूर्त्तैः प्रवर्त्तितः।"

'इनमें कुछ बातें ऐसी हैं, जो प्रारम्भ से वस्तुतः कविसमय के नाम से प्रसिद्ध हैं और कुछ बातें धूर्तों ने परस्पर प्रतिस्पर्धा या स्वार्थ-साधन के लिए प्रसिद्ध कर दी हैं।"

"स च त्रिधा स्वर्ग्यो भौमः पातालीयश्च। स्वर्गपातालीययोर्भौमः प्रधानः। स हि महाविषयः। स च चतुर्द्धा जातिद्रव्यगुणक्रियारूपार्थतया। तेऽपि प्रत्येकं त्रिधा, असतो निबन्धनात्, सतोऽप्यनिबन्धनात्, नियमतश्च।"

"और वह कविसमय तीन प्रकार का है—१. स्वर्ग्य, २. भौम और ३. पातालीय। स्वर्ग्य और पातालीय दोनों की अपेक्षा भौम कविसमय प्रधान है; क्योंकि उसका क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है। भौम, कविसमय चार प्रकार का है—१. जातिरूप, २. द्रव्यरूप, ३. गुणरूप और ४. क्रियारूप। (शब्दार्थ के चार प्रकार होने के कारण कविसमय भी चार प्रकार का होता है।) इन चारों प्रकार के अर्थों में प्रत्येक के तीन-तीन भेद होते हैं—१. असत् का उल्लेख, २. सत् का भी अनुल्लेख और ३. नियम।"

जो पदार्थ शास्त्र और लोक में देखा या सुना न गया हो, काव्य-रचना में उसका उल्लेख करना असत् का निबन्धन है। दूसरा, शास्त्र या लोक दोनों में वर्णित पदार्थ का उल्लेख न करना, सत् का अनिबन्धन है तथा शास्त्र और लोक के नियमों से नियंत्रित एवं बहुधा व्यवहृत पदार्थ का उल्लेख करना नियम है।

---

१. यहाँ 'परस्पर' के स्थान में 'परम्परोपक्रमार्थम्' पाठ अधिक उचित दीखता है। संभव है, लिखावट में 'म्' के स्थान में 'स्' का आभा रूप लिख गया हो। तब वह अर्थ होगा कि 'परम्परा के उपक्रम (आरम्भ) के नाम पर कुछ लोगों ने स्वार्थवश किसी अर्थ को चला दिया।'

तत्र सामान्यस्याऽसतो निबन्धनं यथा। नदीषु पद्मोत्पलादीनि, जलाशयमात्रेऽपि हंसादयो, यत्र तत्र पर्वतेषु सुवर्णरत्नादिकं च।

जातिगत अर्थ में असत् का निबन्धन। जैसे—नदियों में कमल, कुमुद आदि का वर्णन; सभी जलाशयों में हंस, सारस आदि पक्षियों का वर्णन; सभी पर्वतों में सुवर्ण, रत्न आदि की खानों का वर्णन। नदियों में कमल आदि असत् हैं; किन्तु कविसमय के अनुसार उनका वर्णन किया जाता है।

सभी जलाशयों में हंस आदि पक्षी नहीं होते और न सभी पर्वतों में सुवर्ण और रत्नों की खानें ही होती हैं; किन्तु कवि-समयानुसार उनमें उनका वर्णन आवश्यक होता है।

नदीपद्मानि तथा—

"दीर्घीकुर्वन्पटुमदकलं कूजितं सारसानां
प्रत्यूषेषु स्फुटितकमलामोदमैत्रीकषायः।
यत्र स्त्रीणां हरति सुरतग्लानिमङ्गानुकूलः
शिप्रावातः प्रियतम इव प्रार्थनाचाटुकारः॥"[1]

नदी में पद्म आदि के वर्णन का उदाहरण—

"जिस उज्जयिनी नगरी में, उषःकाल के समय, मन्द, मनोहर और श्रवण-मधुर शब्द करते हुए सारसों की ध्वनि को बढ़ाती हुई, प्रस्फुटित कमलों के उत्कट सौरभ मिलने के कारण कसैली एवं शरीर को सुख देनेवाली शिप्रा नदी की वायु, अनुनय-चतुर नायक की भाँति रमणियों के सुरत-जनित श्रम का अपहरण करती है।"

यहाँ शिप्रा नदी में, असत् सारस, कमल आदि का वर्णन, केवल कविसमय-सिद्धान्त के अनुसार किया गया है। प्रवाहयुक्त नदियों में सारस, कमल आदि का होना सम्भव नहीं है।

नदीनीलोत्पलानि—

"गगनगमनलीलालम्भितान्स्वेदबिन्दून्
मृदुभिरनिलवारैः खेचराणां हरन्तीम्।
कुवलयवनकान्त्या जाह्नवीं सोऽभ्यपश्यत्
दिनपतिसुतयेव व्यक्तदन्ताङ्कपालीम्॥"

नदी में नील-कमल आदि का वर्णन—

"उस राजा ने शीतल मधुर वायु के झकोरों से, आकाशचारियों के मार्ग से गगन में यात्रा करने की लालसा से उभरे हुए स्वेद-बिन्दुओं का हरण करती हुई और

१. द्र० कालिदास : मेघत, १—३०।

नीले कमलवनों की कान्ति के व्याज से मानों यमुना के द्वारा स्पष्ट रूप से गोद में खिलाई जाती हुई गंगा को सामने देखा।"

यहाँ गंगा के प्रवाह में असत् नीलकमल-वन का वर्णन भी असत् का निबन्धन है।

एवं नदीकुमुदाद्यपि।

इसी प्रकार, नदियों में कुमुद आदि का वर्णन भी होता है।

सलिलमात्रे हंसा यथा—

"आसीदस्ति भविष्यतीह स जनो धन्यो धनी धार्मिकः
यः श्रीकेशववत्करिष्यति पुनः श्रीमत्कुडुङ्गेश्वरम्।
हेलान्दोलितहंससारसकुलक्रेङ्कारसम्मूर्च्छितै-
रित्याघोषयतीव तन्नवनदी यच्चेष्टितं वारिभिः॥"

जलाशय-मात्र में हंसों का वर्णन—

"लहरियों में हिलते हुए हंसों और सारसों की सामूहिक क्रेङ्कार-ध्वनि से शब्दायमान जल के द्वारा मानों यह नवीन नदी इस प्रकार घोषणा करती है कि वह धनी, धन्य और धार्मिक था, और रहेगा भी, जो कुडुंग[1] देश के श्रीमान् अधीश्वर को श्रीकृष्ण के समान बना देगा।"

यहाँ एक साधारण-सी वर्षा-नदी में हंस, सारस आदि का वर्णन किया गया है।

पर्वतमात्रे सुवर्णं यथा—

"नागावासश्चित्रपोताभिरामः
स्वर्णस्फीतिव्याप्तदिक्चक्रवालः।
साम्यात्सख्यं जग्मिवानम्बुराशे-
रेष ख्यातस्तेन जीमूतभर्त्ता॥"

पर्वतमात्र में सुवर्ण का वर्णन—

"यह सामने दृश्यमान इस जीमूतभर्त्ता नामक पर्वत ने, समानता के कारण समुद्र की मित्रता प्राप्त कर ली है। समुद्र, जीमूतों—मेघों को जलदान करने के कारण उनका भर्त्ता है और यह पर्वत, उनको अपने शिखरों पर धारण करने के कारण उनका भर्त्ता है। समुद्र नागों या जलगजों का आवासस्थान है और यह पर्वत, नागों एवं हाथियों का वासस्थान है। समुद्र, विविध प्रकार के जलयानों से सुन्दर है और पर्वत, नाना प्रकार के पशुपोतों (बच्चों) से सुन्दर है। समुद्र, विशाल जलराशि के विस्तार से चारों दिशाओं में व्याप्त है

---

१. यह कुडुङ्गेश्वर उज्जयिनी का राजा या धनिक था। प्रबन्धचिन्तामणि के सिद्धसेन-प्रबन्ध में इसकी चर्चा है।

और यह पर्वत, स्वर्ण के विस्तार से समस्त दिशाओं में प्रसिद्ध है। इसी कारण इस पर्वत का जीमूतभर्त्ता यह नाम सार्थक है।"

रत्नानि यथा—

"नीलाश्मरश्मिपटलानि महेभमुक्त-
सूत्कारसीकरविसृञ्जि तटान्तरेषु।
आलोकयन्ति सरलीकृतकण्ठनालाः
सानन्दमम्बुदधियाऽत्र मयूरनार्यः॥"

पर्वतों में रत्नों का वर्णन—

"इस इन्द्रनील पर्वत के तटों पर मयूरियाँ लम्बी ग्रीवाओं को सीधे ऊपर उठाकर, विशाल हाथियों की सूँड़ों से सूत्कार के साथ आकाश में निकले हुए जल-बिन्दुओं को छोड़ते हुए नील-मणियों के किरण-जाल को, मेघ समझकर आनन्द के साथ देख रही हैं।"

उक्त दोनों उदाहरणों में, सामान्य पर्वत पर स्वर्ण और रत्नों की उत्पत्ति का असत् उल्लेख किया गया है। सभी पर्वतों में ये नहीं उत्पन्न होते।

एवमन्यदपि।

इसी प्रकार जातिगत असत् निबन्धन के अन्यान्य उदाहरण भी काव्यों में देखे जा सकते हैं।

सतोऽप्यनिबन्धनं। तद्यथा न मालती वसन्ते, न पुष्पफलं चन्दन-द्रुमेषु, न फलमशोकेषु।

अब जातिगत सत् के अ-निबन्धन के उदाहरण दिये जाते हैं। जैसे—वसन्त में मालती के होने पर भी उसका वर्णन न करना, चन्दन के वृक्षों में पुष्प और फल का वर्णन न करना तथा अशोक के फलों का वर्णन न करना—आदि-आदि।

तत्र प्रथमः—

"मालतीविमुखश्चैत्रो विकासी पुष्पसम्पदाम्।
आश्चर्यं जातिहीनस्य कथं सुमनसः प्रियाः॥"

उसमें प्रथम मालती का वसन्त में अ-वर्णन—

"समस्त पुष्प-सम्पदा को विकसित करनेवाला (चैत्र) मालती से विमुख रहता है। अर्थात्, वसन्त में मालती विकसित नहीं होती। आश्चर्य है कि इस जाति (मालती)-विहीन (म्लेच्छ) वसन्त को सुमनस्, अर्थात् पुष्प और देवता कैसे प्रिय लगते हैं। तात्पर्य यह है कि जाति-विहीन (जाति से हीन म्लेच्छ) देवताओं से कैसे

प्रेम करता है ? और, जाति (मालती)-विहीन वसन्त मालती को छोड़कर अन्य पुष्पों से कैसे प्रेम करता है ? यह आश्चर्य का कारण है।[१]"

द्वितीयः—

"यद्यपि चन्दनविटपी विधिना फलकुसुमवर्जितो विहितः।
निजवपुषैव परेषां तथापि सन्तापमपहरति ॥"[२]

दूसरा उदाहरण—

"यद्यपि दैव ने, चन्दन-वृक्ष को फल-फूलों से रहित बनाया, तथापि वह अपने शरीर से ही दूसरों का सन्ताप-हरण करता है।"

तृतीयः—

"दैवायत्ते हि फले किं क्रियतामेतदत्र तु वदामः।
नाशोकस्य किसलयैर्वृक्षान्तरपल्लवास्तुल्याः ॥"

तीसरा उदाहरण—

"क्योंकि फल दैवाधीन है, अतः इस विषय में क्या किया जा सकता है ; किन्तु यह तो निर्विवाद कहा जा सकता है कि अशोक के समान दूसरे वृक्षों के पल्लव नहीं होते।"

ये जातिगत सत् के अ-निबन्धन के उदाहरण हुए।

अनेकत्र प्रवृत्तवृत्तीनामेकत्राचरणं नियमस्तद्यथा। समुद्रेष्वेव मकराः, ताम्रपर्ण्यामेव मौक्तिकानि।

जातिगत नियम का अर्थ है, अनेक स्थानों में प्रचलित व्यवहारों का एक स्थान में प्रयोग करना। जैसे, मकर आदि का समुद्र में ही वर्णन करना, ताम्रपर्णी नदी में ही मोतियों का वर्णन आदि।

तयोः प्रथमः—

"गोत्राग्रहारं नयतो गृहत्वं
स्वनाममुद्राङ्कितमम्बुराशिम्।
दायादवर्गेषु परिस्फुरत्सु
दंष्ट्रावलेपो मकरस्य वन्द्यः ॥"

उन दोनों में से पहला : समुद्र में मकर-वर्णन—

"इस विशाल पृथ्वी को घेरे हुए और अपने नाम—मकरालय से ही प्रसिद्ध होनेवाले समुद्र को अपना घर बनानेवाला मकर, फुरफुर करते हुए अपने बन्धु-वर्ग में यदि अपने दाँतों पर गर्व प्रकट करता है, तो यह प्रशंसनीय ही है। कारण यह कि इतना विशाल

१. यहाँ 'जाति' और 'सुमनस्' शब्दों के दो-दो अर्थ हैं। जाति नाम मालती का और ब्राह्मण आदि जाति का या जन्म का भी है। 'सुमनस' नाम देवता का और पुष्पों का भी है।

२. यह सुभाषित आदित्यभट्ट कवि का है।

समुद्र, केवल उसी मकर के आलय के नाम से विख्यात है। अतः, उसका गर्व करना, अनन्त जीवों और रत्नों का आलय होनेपर भी, उचित ही है।"

द्वितीयः—

"कामं भवन्तु सरितो भुवि सप्रतिष्ठाः
स्वादूनि सन्तु सलिलानि च शुक्तयश्च।
एतां विहाय वरवर्णिनी ताम्रपर्णी
नान्यत्र सम्भवति मौक्तिककामधेनुः॥"

ताम्रपर्णी में मौक्तिक का वर्णन—

"हे सुन्दरि! संसार में बड़ी-बड़ी प्रतिष्ठायुक्त नदियाँ भले ही हों और उनमें मधुर से मधुर जल एवं प्रचुर शुक्तियाँ (सीपें) भी भले ही हों; किन्तु इस ताम्रपर्णी को छोड़कर दूसरी नदी मोतियों के लिए कामधेनु नहीं है। अर्थात्, मोती इसी में उत्पन्न होते हैं।"

असतोऽपि द्रव्यस्य निबन्धनं तद्यथा। मुष्टिग्राह्यत्वं सूचीभेद्यत्वं च तमसः, कुम्भापवाह्यत्वं च ज्योत्स्नायाः।

जातिगत नियम के उदाहरण प्रदर्शित करने के उपरान्त अव द्रव्यगत के तीन भेद कहे जाते हैं। उनमें असत् द्रव्य का उल्लेख—जैसे, अँधेरे का मुष्टि से ग्रहण करने योग्य या सूची से भेद न करने योग्य वर्णन करना तथा चाँदनी का घड़ों में भरा जाना आदि।

तत्र प्रथमम्—

"तनुलग्ना इव ककुभः भूवलयं चरणचारमात्रमिव।
दिवमिव चालिकदघ्नीं मुष्टिग्राह्यं तमः कुरुते॥"[1]

उनमें प्रथम तम (अँधेरे) के मुष्टिमेय होने का उदाहरण—

"मुट्ठी में पकड़ने योग्य प्रगाढ अन्धकार ने, दिशाओं को शरीर से चिपकी हुई-सी बना दिया, विशाल पृथ्वी-मंडल को पैरों से चलने के योग्य बना दिया और आकाश को मस्तक से छूता हुआ-सा बना दिया। अर्थात्, सबको समेटकर अति संकुचित कर दिया।"

यथा च—

"पिहिते कारागारे तमसि च सूचीमुखाग्रनिर्भेद्ये।
मयि च निमीलितनयने तथापि कान्ताननं व्यक्तम्॥"

---

१. दे० राजशेखर : विद्धशालमञ्जिका नाटिका, ३-६।

दूसरा उदाहरण—

"कारागार के चारों ओर से बन्द रहने पर भी, अँधेरे के सूचिभेद्य होनेपर भी और मेरी आँखों के मुकुलित रहने पर भी, प्रियतमा का मुख स्पष्ट दीख रहा है।"

द्वितीयम्—

"यन्त्रद्रावितकेतकोदरदलस्रोतःश्रियं बिभ्रती
येयं मौक्तिकदामगुम्फनविधेर्योग्यच्छविः प्रागभूत्।
उत्सेच्या कलशोभिरञ्जलिपुटैर्ग्राह्या मृणालाङ्कुरैः
पातव्या च शशिन्यमुग्धविभवे सा वर्त्तते चन्द्रिका॥"[1]

दूसरा चन्द्रिका का घड़ों में भरा जाना—

"जो चन्द्रिका, पहले यन्त्र से निचोड़े हुए केवड़े के मध्य दल के रस-स्रोत की शोभा धारण किये हुए थी; जो मोतियों की माला के गूँथने के योग्य प्रतीत होती थी; वह आज चन्द्रमा के पूर्ण होनेपर घड़ों से उड़ेलने योग्य, अंजलियों से ग्रहण करने योग्य एवं मृणाल की डंडियों से पीने के योग्य हो गई।"

द्रव्यस्य सतोऽनिबन्धनं तद्यथा। कृष्णपक्षे सत्या अपि ज्योत्स्नायाः, शुक्लपक्षे त्वन्धकारस्य।

कृष्णपक्ष में चाँदनी के होने पर भी उसका वर्णन न करना और उसी प्रकार शुक्लपक्ष में अन्धकार के होनेपर भी उसका वर्णन न करना—सत् द्रव्य का अनिबन्धन कहा जाता है।

तयोः प्रथमम्—

"ददृशाते जनैस्तत्र यात्रायां सकुतूहलैः।
बलभद्रप्रलम्बघ्नौ पक्षाविव सितासितौ॥"[2]

उन दोनों में से प्रथम—

"उस मथुरा की यात्रा में कुतूहल से भरी जनता ने बलभद्र और कृष्ण को शुक्ल एवं कृष्णपक्ष की भाँति देखा।"

द्वितीयम्—

"मासि मासि समा ज्योत्स्ना पक्षयोः शुक्लकृष्णयोः।
तत्रैकः शुक्लतां यातो यशः पुण्यैरवाप्यते॥"

---

१. दे० राजशेखर : विद्धशालभञ्जिका ३-१४। यहाँ 'यन्त्रद्रावित' शब्द के अनेक पाठभेद मिलते हैं। कहीं 'तन्त्रद्रावित' कहीं 'शङ्खद्रावित' और कहीं 'सद्योद्रावित' पाठ है। विद्धशालभञ्जिका के टीकाकार नारायण ने यन्त्र शब्द का अर्थ 'कोल्हू' किया है।

२. यहाँ मूल श्लोक में 'बलभद्रप्रलम्बघ्नौ' पाठ है, जो सर्वथा भ्रान्त है; क्योंकि 'प्रलम्बघ्न' बलदेव का ही पर्याय है, न कि कृष्ण का। अतः, यहाँ दूसरा पाठ होना चाहिए।

दूसरा उदाहरण—

"प्रत्येक मास के शुक्ल और कृष्णपक्ष में चाँदनी तो समान ही रहती है ; परन्तु उनमें एक ही पक्ष, शुक्लपक्ष कहा जाता है। ठीक है, यश बड़े ही पुण्यों से मिलता है।"

द्रव्यनियमस्तद्यथा। मलय एव चन्दनस्थानं, हिमवानेव भूर्जोत्पत्तिस्थानम्।

मलयाचल में ही चन्दन की उत्पत्ति और हिमालय में ही भूर्जपत्रों का होना, द्रव्यगत नियम है।

तत्र प्रथमः—

"तापापहारचतुरो नागावासः सुरप्रियः।
नाऽन्यत्र मलयादद्रेर्दृश्यते चन्दनद्रुमः॥"

उनमें से प्रथम उदाहरण—

"सन्ताप-हरण करने में प्रवीण नागों का आवासस्थान और देवताओं का प्रिय चन्दन-वृक्ष, मलयाचल के अतिरिक्त अन्यत्र नहीं दीखता।"

द्वितीयः—

"न्यस्ताक्षरा धातुरसेन यत्र
भूर्जत्वचः कुञ्जरबिन्दुशोणाः।
व्रजन्ति विद्याधरसुन्दरीणा-
मनङ्गलेखक्रिययोपयोगम्॥"[१]

दूसरा उदाहरण—

"जिस हिमालय में, हाथी के शरीर पर लगे हुए कुछ लाल बिन्दुओं के समान रंगवाले भूर्जपत्र, विद्याधर-सुन्दरियों के अनङ्गलेख (प्रेमपत्र) लिखने में उपयोगी होते हैं, अर्थात् उन भूर्जपत्रों पर सुन्दरियाँ, गेरू एवं मैनशिल आदि धातुओं से प्रेमपत्र लिखा करती हैं।"

उक्त उदाहरणों में मलयाचल में चन्दन और हिमाचल में भूर्जपत्रों का वर्णन लोकप्रसिद्ध व्यवहार के अनुकूल किया गया है। यद्यपि ये दोनों अन्य पर्वतों में भी होते हैं।

प्रकीर्णकद्रव्यकविसमयस्तु तद्यथा। क्षीरक्षारसमुद्रयोरैक्यं, सागरमहासमुद्रयोश्च।

कुछ प्रकीर्णक (फुटकर) द्रव्यों में भी कविसमय के सिद्धान्त लागू होते हैं। जैसे, क्षीर और क्षारसमुद्र एवं सागर और महासागर की एकता।

---

१. दे० कालिदास : कुमारसम्भव, १—६।

तयोः प्रथमः—

"शेतां हरिर्भवतु रत्नमनन्तमन्त-
र्लक्ष्मीप्रसूतिरिति नो विविदामहे हे।
हा दूरदूरसपया[1]स्तृषितस्य जन्तोः
किं त्वत्र कूपपयसः स मरोर्जघन्यः॥"

उन दोनों में से प्रथम : क्षीर और क्षार समुद्र की एकता—

"समुद्रतल में भगवान् विष्णु भले ही शयन करें और वहाँ भले ही अनन्त रत्न हों तथा वह लक्ष्मी का प्रसव करनेवाला भी हो—इसमें हमें तनिक भी विवाद नहीं; किन्तु, प्यास से व्याकुल प्राणी के लिए अत्यन्त दूषित स्वादयुक्त जलवाला यह समुद्र, कूप जल-वाली मरुभूमि से भी निकृष्टतम है।"

यद्यपि भगवान् का शयन एवं लक्ष्मी की उत्पत्ति क्षीर-समुद्र में प्रसिद्ध है, क्षार-समुद्र नहीं तथापि कविसमय के अनुसार यहाँ दोनों की एकता का उल्लेख किया गया है।

द्वितीयः—

"रङ्गत्तरङ्गभ्रूभङ्गैस्तर्जयन्तीमिवापगाः।
स ददर्श पुरो गङ्गां सप्तसागरवल्लभाम्॥"

दूसरा, सागर और महासागर की एकता—

"यात्रा करते हुए राजा ने चंचल तरङ्गरूपी भ्रू-भंग से दूसरी नदियों का तिरस्कार-सा करती हुई सप्तसागरों की प्रियतमा गंगा नदी को सामने देखा।"

गंगा का संगम, एक सागर से हुआ है; परन्तु यहाँ कवि ने सात समुद्रों की एकता का वर्णन, कवि-परम्परा के अनुसार किया है।

असतोऽपि क्रियार्थस्य निबन्धनं यथा। चक्रवाकमिथुनस्य निशि भिन्नतटाश्रयणं चकोराणां चन्द्रिकापानं च।

अब असत्-क्रियागत निबन्धन का अर्थ बताया जाता है। जैसे—रात्रि में चकवा-चकई का जलाशय के भिन्न-भिन्न तटोंपर पृथक् रहना और चकोरों का चन्द्रिका-पान करना आदि।

तत्र प्रथमः—

"संक्षिपता यामवतीस्तटिनीनां तनयता पयःपूरान्।
रथचरणाह्वयवयसां किं नोपकृतं निदाघेन॥"

---

१. 'दूरदूरसपयाः' का अर्थ है—दूरम् =अत्यन्तम, दूरसम् =नीरसम, पयः =जलम, यस्य सः, अर्थात् अत्यन्त विरस जलवाला।

उनमें से प्रथम का उदाहरण—

"रात्रियों को संकुचित करते हुए एवं नदियों के जलप्रवाह को सुखाकर छोटा करते हुए ग्रीष्मकाल ने चक्रवाक पक्षियों का कौन-सा उपकार नहीं किया?"

द्वितीयः—

"एतास्ता मलयोपकण्ठसरितामेणाक्षि रोधोभुव-
श्चापाभ्यासनिकेतनं भगवतः प्रेयो मनोजन्मनः।
यासु श्यामनिशासु पीततमसो मुक्तामयीश्चन्द्रिकाः
पीयन्ते विवृतोर्ध्वचञ्चु विचलत्कण्ठं चकोराङ्गनाः॥"

द्वितीय का उदाहरण—

"हे मृगलोचने, मलयाचल की उपत्यका में बहनेवाली नदियों के ये वे तटस्थल हैं; जो कामदेव के धनुर्विद्याभ्यास करने के प्रिय स्थान हैं। जिन तटस्थलियों में काली रातों में अन्धकार को पी लेनेवाली मोतियों जैसी चाँदनी को चकोरांगनाएँ, खुले चंचुओं को ऊपर उठाकर एवं अपनी गरदनों को विचलित कर पिया करती हैं।"

उक्त उदाहरणों में, रात्रि में चक्रवाक-मिथुन की वियोग-क्रिया और चकोरियों की चन्द्रिकापान-क्रिया असत् है। किन्तु, कवि-समय के सिद्धान्तानुसार इस प्रकार वर्णन अनिवार्य है।

सतोऽपि क्रियार्थस्यानिबन्धनं तद्यथा। दिवा नीलोत्पलानामविकासो, निशानिमित्तश्च शेफालिकाकुसुमानामविस्रंसः।

क्रियारूप अर्थ में सत् का अनिबन्धन। जैसे—

दिन में नीलकमलों का विकास न होना और रात्रि में शेफालिका के कुसुमों का डाल से न गिरना। अर्थात, दिन में नीलकमल का विकास होता है और रात्रि में शेफालिका के कुसुमों का भ्रंश भी होता है; किन्तु कविसमय के सिद्धान्तानुसार ऐसा उल्लेख नहीं किया जाता।

तत्र प्रथमः—

"आलिख्य पत्रमसितागुरुणाभिरामं
रामामुखे क्षणसभाजितचन्द्रबिम्बे।
जातः पुनर्विकसनावसरोऽयमस्ये-
त्युक्त्वा सखी कुवलयं श्रवणे चकार॥"

उनमें से प्रथम का उदाहरण—

"सायंकाल, नायिका की सखी ने, उसका शृंगार करते हुए क्षण-भर चन्द्रबिम्ब की प्रतिष्ठा पानेवाले रमणी-मुख पर काले अगरु से सुन्दर पत्र-रचना करके, कानों में नीले

कमल को सजाते हुए कहा कि 'अब इसके विकास का समय आ गया है'। अर्थात्, रात्रि में इसके मुखचन्द्र से कुमुद का विकास होगा।

द्वितीयः—

"त्वद्विप्रयोगे किरणैस्तथोग्रै-
र्दग्धाऽस्मि कृत्स्नं दिवसं सवित्रा।
इतीव दुःखं शशिने गदन्ती
शेफालिका रोदिति पुष्पबाष्पैः॥"

द्वितीय उदाहरण—

"तुम्हारे वियोग में, सूर्य ने अपनी तीखी किरणों से मुझे सारा दिन तपाया है; इस प्रकार अपने प्रिय चन्द्रमा को दुखड़ा सुनाती हुई शेफालिका, पुष्परूपी आँसुओं से मानों रो रही है।"

नियमस्तु तद्यथा। ग्रीष्मादौ सम्भवतोऽपि कोकिलानां विरुतस्य वसन्त एव, मयूराणां वर्षास्वेव विरुतस्य नृत्तस्य च निबन्धः।

ग्रीष्म और वर्षा में भी होनेवाले कोकिल-शब्द का केवल वसन्त में ही वर्णन और प्रायः सभी ऋतुओं में होनेवाले मयूर-नृत्य एवं मयूर के शब्द का केवल वर्षा में ही वर्णन करना नियम है।

तयोः प्रथमः—

"वसन्ते शीतभीतेन कोकिलेन वने रुतम्।
अन्तर्जलगताः पद्माः[1] श्रोतुकामा इवोत्थिताः॥"

उन दोनों में प्रथम—वसन्त में कोकिल की गान-क्रिया का उदाहरण—

"वसन्त में शीत से भीत कोकिल ने वनों में जब कूकना प्रारम्भ किया, तब जल के मध्य में छिपे हुए कमल, उसे सुनने के लिए, मानों, सिर बाहर निकालने लगे।"

द्वितीयः—

"मण्डलीकृत्य बर्हाणि कण्ठैर्मधुरगीतिभिः।
कलापिनः प्रनृत्यन्ति काले जीमूतमालिनि॥"[2]

वर्षा में मयूरों की नृत्य-क्रिया का दूसरा उदाहरण—

"वर्षाकाल में, मयूर, लम्बे पंखों को मण्डलाकार बनाकर गीति-मधुर कंठों से बोलते हुए अच्छी तरह नाचते हैं।"

---

१. 'पद्म' शब्द का प्रायः नपुंसक में ही प्रयोग होता है, यद्यपि कोषकार (अमरसिंह) के मत से वह पंल्लिङ्ग भी है। अतः, यहाँ पुंलिङ्ग प्रयोग खटकता हुआ भी अशास्त्रीय नहीं है।

२. यह पद्य दण्डी के काव्यादर्श का है। दे० काव्यादर्श, १-७०।

कवीनां समयः सोऽयं जातिद्रव्यक्रियागतः ।
गुणस्थैष[१] ततः स्वर्ग्यः पातालीयश्च कथ्यते ॥

॥ इति राजशेखरकृतौ काव्यमीमांसायां कविरहस्ये प्रथमेऽधिकरणे
जातिद्रव्यक्रियासमयस्थापना चतुर्दशोऽध्यायः ॥

इस प्रकार इस अध्याय में जातिगत, द्रव्यगत और क्रियागत कविसमय का वर्णन किया गया है। अब अगले अध्यायों में गुणगत एवं स्वर्ग्य और पातालीय कवि-समय का वर्णन किया जायगा।

चतुर्दश अध्याय समाप्त

१. 'गुणस्थैस' यह पाठ अशुद्ध है। 'गुणस्थैप' पाठ अधिक उचित और शुद्ध है।

पञ्चदशोऽध्यायः गुणसमयस्थापना

पंचदश अध्याय : गुणगत कविसमय की स्थापना

असतो गुणस्य निबन्धनं यथा, यशोहासप्रभृतेः शौक्ल्यम्, अयशसः पापप्रभृतेश्च कार्ष्ण्यं, क्रोधानुरागप्रभृतेश्च रक्तत्वम् ।

असत् (लोक में अविद्यमान) गुणों—शुक्ल, नील, पीत आदि—का निबन्धन कविसमय के अनुसार है। जैसे, यश और हास्य का संसार में कोई भी रूप नहीं है; परन्तु कविसमय के अनुसार उनका श्वेत रूप में वर्णन किया जाता है। इसी प्रकार, अयश, पाप आदि का कृष्ण रूप है। क्रोध और अनुराग आदि का वर्ण रक्त है।

तत्र यशःशौक्ल्यम्—

"स्तेमः स्तोकोऽपि नाङ्गे श्वसितमविकलं चक्षुषां सैव वृत्ति-
र्मध्येक्षीराब्धि मग्नाः स्फुटमथ च वयं कोऽयमीदृक्प्रकारः ।
इत्थं दिग्भित्तिरोधःक्षतविसरतया मांसलैस्त्वद्यशोभिः
स्तोकावस्थानदुःस्थैस्त्रिजगति धवले विस्मयन्ते मृगाक्ष्यः ॥"

उनमें यश की शुक्लता—

इस श्लोक का अर्थ पृष्ठ ६३ में किया गया है। भावार्थ यह है कि हे राजन्! तुम्हारे यश की धवलता से तीनों लोकों की सुन्दरियाँ आश्चर्ययुक्त हो रही हैं।

हासशौक्ल्यम्—

"अट्टहासच्छलेनास्याद्यस्य फेनौघपाण्डुराः ।
जगत्क्षय इवापीताः क्षरन्ति क्षीरसागराः ॥"

हास की शुक्लता—

"प्रलयकाल में पान किये हुए क्षीरसागर, फेन की प्रचुरता से अधिक श्वेत होकर, शिवजी के अट्टहास के व्याज से, मानों मुख से बाहर निकल रहे हैं।"

अयशःकृष्णत्वम्—

"प्रसरन्ति कीर्त्तयस्ते तव च रिपूणामकीर्त्तयो युगपत् ।
कुवलयदलसंवलिताः प्रतिदिनमिव मालतीमालाः ॥"

अयश की कृष्णता—

हे राजन्! नील कमलदलों के साथ गँथी गई मालती-कुसुमों की माला के समान तुम्हारा यश और शत्रुओं का अयश—दोनों एक साथ संसार में प्रतिदिन फैलते हैं।

यहाँ यश, मालती के समान श्वेत और अयश, नील कमल के समान कृष्ण रूप में वर्णित किया गया है।

पापकाष्ण्र्यम्—

"उत्खातनिर्मलमयूखकृपाणलेखा-
श्यामायिता तनुरभूद्धयकन्धरस्य।
सद्यःप्रकोपकृतकेशववंशनाश-
सङ्कल्पसंजनितपापमलीमसेव ॥"[1]

पाप की कृष्णता—

"हयग्रीव दैत्य का शरीर क्रोध से निकाली हुई एवं चमचमाती हुई खड्गधारा की छटा के समान श्यामवर्ण था; जो मानों तुरत अधिक क्रोध के कारण कृष्णवंश के नाश करने के संकल्प से उत्पन्न पाप से काला प्रतीत होता था।"

उक्त उदाहरण में, कविसमय के अनुसार खड्गधारा की कृष्णता से पाप की कृष्णता की तुलना की गई है।

क्रोधरक्तता—

"आस्थानकुट्टिमतलप्रतिबिम्बितेन
कोपप्रभाप्रसरपाटलविग्रहेण।
भौमेन[2] मूर्च्छितरसातलकुक्षिभाजा
भूमिश्चचाल चलतोदरवर्त्तिनेव ॥"

क्रोध की रक्तता—

"जठराग्नि के समान, मूर्च्छित रसातल की अग्नि के गर्भ में रहनेवाला, क्रोध की प्रभा के बढ़ जाने से रक्त शरीरवाला एवं सभामण्डप की रत्न-जटित भूमि में प्रतिबिम्बित भौमासुर, जब (युद्ध के लिए उठकर) चलने लगा, तब सारी पृथ्वी काँप उठी।"

अनुरागरक्तता यथा—

"गुणानुरागमिश्रेण यशसा तव सर्पता।
दिग्वधूनां मुखे जातमकस्मादर्द्धकुङ्कुमम् ॥"

अनुराग की रक्तता का उदाहरण-- यह श्लोक १०४ पृष्ठ में अनूदित है। यहाँ दिग्वधुओं के मुख पर अनुराग के कारण आधे लाल तिलक का वर्णन किया गया है।

सतोऽपि गुणस्यानिबन्धनम्। कुन्दकुड्मलानां कामिदन्तानां च रक्तत्वं, कमलमुकुलप्रभृतेश्च हरितत्वं, प्रियङ्गुपुष्पाणां च पीतत्वम्।

---

१. यह पद्य मेण्ठराज के हयग्रीववध का प्रतीत होता है।
२. भौम या नरकासुर कामरूप का पुराणप्रसिद्ध राजा था।

अत्र लोक में विद्यमान गुणों का, कविसमय के अनुसार वर्णन न करने के उदाहरण दिये जाते हैं। जैसे, कुन्दन की कलियों एवं कामियों के दाँतों का रक्तवर्ण, कमल-कलिकाओं का हरितवर्ण और प्रियंगु-पुष्पों का पीतवर्ण लोकप्रसिद्ध है। परन्तु, काव्यों में कविसमय के अनुसार उनका श्वेत एवं श्यामरंग में वर्णन किया गया है—

कुन्दकुड्मलाद्यरक्तता—

"द्योतितान्तःसभैः कुन्दकुड्मलाग्रदतः स्मितैः।
स्नपितेवाभवत्तस्य शुद्धवर्णा सरस्वती॥"[1]

कुन्द आदि की अरक्तता—

"कुन्द-कलिका के समान श्वेत दाँतोंवाले भगवान् कृष्ण के, सभा-मण्डप को दीप्त करनेवाली मुस्कराहटों से, मानों स्नान करने के कारण शुद्धवर्ण (शुक्लवर्ण और स्पष्ट अक्षर) वाली सरस्वती हो गई थी।" शुद्ध वर्ण का अर्थ, श्वेत रंग और शुद्ध अक्षर दोनों होता है।

पद्ममुकुलाहरितत्वम्—

"उद्दण्डोदरपुण्डरीकमुकुलभ्रान्तिस्पृशा दंष्ट्रया
मग्नां लावणसैन्धवेऽम्भसि महीमुद्यच्छतो हेलया।
तत्कालाकुलदेवदानवकुलैरुत्तालकोलाहलं
शौरेरादिवराहलीलमवतादभ्रंलिहाग्रं वपुः॥"

कमल-कलिका की श्वेतवर्णता—

"लवणसमुद्र के जल में डूबी हुई वसुन्धरा को, ऊपर उठी हुई नालवाले नाभिस्थ श्वेत कमल की कलिका की भ्रान्ति उत्पन्न करनेवाली दंष्ट्रा (दाढ़) से निरायास उठाकर, उस समय आकुल देव और दानवों के प्रचण्ड कोलाहल के साथ ऊपर की ओर आते हुए आदिवराह की लीला करनेवाले भगवान् कृष्ण का गगनचुंबी शरीर, हमारी रक्षा करे।"

यहाँ श्वेत दंष्ट्रा के उपमान में उल्लिखित कमल-कलिका का श्वेत वर्ण में निबन्धन किया गया है, हरितवर्ण में नहीं।

प्रियङ्गुपुष्पापीतत्वम्—

"प्रियङ्गुश्याममम्भोधिरान्ध्रीणां स्तनमण्डलम्।
अलङ्कर्तुमिव स्वच्छाः सूते मौक्तिकसम्पदः॥"

प्रियंगु-पुष्पों की श्यामलता—

दक्षिण समुद्र, आन्ध्र-रमणियों के प्रियंगु-पुष्प के समान श्याम-वर्ण स्तन-मंडल को मानों, अलंकृत करने के लिए, स्वच्छ मोतियों की सम्पदा को उत्पन्न करता है। यद्यपि प्रियंगु-पुष्प, पीला होता है; किन्तु यहाँ उसे श्यामवर्ण कहा गया है।

---

१. दे० माघ : शिशुपालवध, २-७।

गुणनियमस्तु तद्यथा, सामान्योपादाने माणिक्यानां शोणता, पुष्पाणां शुक्लता, मेघानां कृष्णता च।

अब गुणों का नियम कहा जाता है। जैसे -- साधारणतः काव्य-रचना में, माणिक्य का वर्ण लाल, पुष्पों का श्वेत तथा मेघों का कृष्ण वर्णन किया जाता है।

तत्र प्रथमः—

"सांयात्रिकैरविरतोपहृतानि कूटैः
श्यामासु तीरघनराजिषु सम्भृतानि।
रत्नानि ते दधति कच्चिदिहायताक्षि
मेघोदरोदितदिनाधिपबिम्बशङ्काम् ॥"

माणिक्य की रक्तता—

"हे विशालनयने! जहाजी व्यापारियों द्वारा सामूहिक रूप में निरन्तर लाये हुए और समुद्रतट की काली घनी पंक्तियों में एकत्र किये हुए ये रत्न (माणिक्य), क्या तुम्हें मेघों के मध्य उदित हो रहे सूर्यबिम्ब की शंका उत्पन्न करते हैं?"

पुष्पशुक्लता—

"पुष्पं प्रवालोपहितं यदि स्या-
न्मुक्ताफलं वा स्फुटविद्रुमस्थम्।
ततोऽनुकुर्याद्विशदस्य तस्या-
स्ताम्रौष्ठपर्यस्तरुचः स्मितस्य ॥"[1]

पुष्पों की शुक्लता—

"पुष्प, यदि नवपल्लव के ऊपर स्थित हों, और मोती, यदि मूँगों की लताओं में फलते हों, तो उससे लाल होठों पर फैलती छटावाले, पार्वती के स्वच्छ एवं शुभ्र स्मित की उपमा दी जा सके।"

यहाँ स्मित के उपमान-स्वरूप पुष्पों को श्वेत रूप में वर्णित किया गया है, यद्यपि वे अनेक रंगों के होते हैं।

मेघकार्ष्ण्यम्—

"मेघश्यामेन रामेण पूतवेदिर्विमानराट्।
मध्ये महेन्द्रनीलेन रत्नराशिरिवाबभौ ॥"

मेघों की कृष्णवर्णता—

मेघ-श्याम राम के मध्य में बैठने से स्वच्छ सिंहासन-युक्त पुष्पक विमान, ऐसा

---

१. दे० कालिदास : कुमारसम्भव, १-४४।

शोभित हो रहा था, जैसे उज्ज्वल रत्नराशि के मध्य इन्द्रनील-मणि का विशाल खंड रखा हो।

कृष्णनीलयोः, कृष्णहरितयोः, कृष्णश्यामयोः, पीतरक्तयोः, शुक्लगौरयोरेकत्वेन निबन्धनं च कविसमयः।

कृष्ण और नील का, कृष्ण और हरित का, कृष्ण और श्याम का, पीत और रक्त का एवं शुक्ल और गौर का समान रूप से वर्णन करना भी कविसमय है।

कृष्णनीलयोरैक्यम्—

"नदीं तूर्णं कर्णोऽप्यनुसृतपुलिनां दाक्षिणात्यङ्गनाभिः
समुत्तीर्णो वर्णामुभयतटवलावद्धवानीरहाराम्।
तटे सह्यस्योच्चैः स्वसलिलनिवहो भाति नीलः स यस्याः
प्रियस्यांशे पीने लुलित इव घनः केशपाशः सुकेश्याः॥"

कृष्ण और नील की एकता—

"कर्ण नामक राजा ने भी दाक्षिणात्य स्त्रियों से भरे हुए पुलिनवाली एवं तट के दोनों ओर उगे बेंतों का हार धारण करनेवाली उस 'वर्णा' नाम नदी को तुरत पार कर लिया, जिस वर्णा नदी का सह्य पर्वत की अधित्यका से गिरता हुआ नीला जलसमूह, ऐसा प्रतीत होता था, जैसे प्रियतम के पीन कंधों पर बिखरा हुआ सुकेशी प्रियतमा का काला और घना केशपाश!"

यहाँ नीले जल की कामिनी के कृष्ण केशों से उपमा देकर दोनों वर्णों की एकता वर्णित की गई है।

कृष्णहरितयोरैक्यम्—

"मरकतसदृशं च यामुनं
स्फटिकशिलाविमलं च जाह्नवम्।
तदुभयमुदकं पुनातु वो
हरिहरयोरिव सङ्गतं वपुः॥"

कृष्ण और हरित की एकता—

"मरकत (हरित) मणि के समान यमुना का जल और स्फटिक-शिला के समान निर्मल गंगा का शुभ्र जल—ये दोनों परस्पर मिले हुए हरि-हर के शरीर के समान आपको पवित्र करें।"

यहाँ मरकत के समान हरितवर्ण यमुना-जल की और कृष्णवर्ण हरि की एकता वर्णित की गई है।

कृष्णश्यामलयोरैक्यम्—

"एतत्सुन्दरि नन्दनं शशिमणिस्निग्धालवालद्रुमं
मन्दाकिन्यभिषिक्तमौक्तिकशिले मेरोस्तटे नन्दति ।
यत्र श्यामनिशासु मुञ्चति मिलन्मन्दप्रदोषानिला-
मुद्दामामरयोषितामभिरतं कल्पद्रुमश्चन्द्रिकाम् ॥"

कृष्ण और श्याम की एकता—

"हे सुन्दरि ! चन्द्रकान्त-मणियों के घने (स्निग्ध) आलवालों (जड़ के चारों ओर बँधे थल्लों) से युक्त वृक्षोंवाला यह नन्दनवन, मन्दाकिनी से धुली हुई मोतियों की शिलाओं से युक्त सुमेरु पर्वत के तट पर विराजमान है, जहाँ श्यामल रात्रियों में कल्पवृक्ष, स्वच्छन्द देव-ललनाओं को उनकी रुचि के अनुकूल सायंकालीन मन्द वायु के साथ मिली चन्द्रिका प्रदान करता है ।"

यद्यपि रात्रि का काला होना प्रत्यक्ष सिद्ध है, तथापि यहाँ कवि ने, समयानुसार श्याम निशा का प्रयोग कर दोनों की एकता वर्णित की है ।

पीतरक्तयोरैक्यम्—

"लेखया विमलविद्रुमभासा सन्ततं तिमिरमिन्दुरुदासे ।
दंष्ट्रया कनकभङ्गपिशङ्ग्या मण्डलं भुव इवादिवराहः ॥"[1]

पीत और रक्त की एकता—

"चन्द्रमा ने, विमल प्रवाल के समान चमकती हुई कला से, फैले हुए अन्धकार को इस प्रकार ऊपर फेंक दिया, जिस प्रकार भगवान् आदिवराह ने, स्वर्णखंड-से चमकते पीले दाढ़ से, भूमंडल को जल से ऊपर निकाल दिया था ।"

यहाँ तरुण चन्द्रकला के समान दंष्ट्रा के रक्त होने पर भी दोनों वर्णों की एकता के कारण सुवर्ण (पीतवर्ण) से उपमा दी गई ।

शुक्लगौरयोरैक्यम्—

"कैलासगौरं वृषमारुरुक्षोः
पादार्पणानुग्रहपूतपृष्ठम् ।
अवेहि मां किङ्करमष्टमूर्त्तेः
कुम्भोदरं नाम निकुम्भपुत्रम् ॥"[2]

शुक्ल और गौर की एकता—

राजा दिलीप के प्रति सिंह की उक्ति—"हे राजन् ! जब भगवान् शंकर, कैलास के समान गौरवर्ण वृषभ पर चढ़ने की इच्छा करते हैं, तब पहले कृपापूर्वक मेरी पीठ पर

१. दे० भारवि : किरातार्जुनीय, ९-२२ ।

२. दे० कालिदास : रघुवंश, २-३५ । रघुवंश में 'निकुम्भमित्रम्' पाठ है ।

पैर रखकर उसे पवित्र करते हैं। आप समझ लें कि वही मैं निकुम्भ का पुत्र कुम्भोदर नामक शंकर का गण हूँ।

शिव का वृषभ श्वेत है। यहाँ उसे गौर कहकर शुक्ल और गौर की एकता का परिचय दिया गया है।

एवं वर्णान्तरेष्वपि। चक्षुरादेरनेकवर्णोपवर्णनम्।

इसी प्रकार, मिश्रित आदि वर्णों में भी एकता समझनी चाहिए। आँखों का भी कवियों ने अनेक रङ्गों में वर्णन किया है। वह सब कविसमय-सिद्धान्त के अनुसार समुचित और स्वीकार्य है। आँखों के वर्णन में श्वेत, श्याम, कृष्ण और मिश्र वर्णों का वर्णन मिलता है।

तत्र चक्षुषः शुक्लता—

"तिष्ठन्त्या जनसङ्कुलेऽपि सुदृशा सायं गृहप्राङ्गणे
तद्द्वारं मयि निःसहालसतनौ वीक्ष्यामृदु प्रेङ्खति।
ह्रीनम्राननयैव लोलसरलं निःश्वस्य तत्रान्तरे
प्रेमार्द्राः शशिखण्डपाण्डिमसुषो मुक्ताः कटाक्षच्छटाः॥"

नेत्रों की शुक्लता के वर्णन का उदाहरण—

"सायंकाल के समय, घर के लोगों से भरे हुए आँगन में, वह सुनयना खड़ी थी। मुझे थके और अलसाये अंगों से उसकी ओर संकेत करके अपने गृह (कमरे) में जाते हुए देखकर, उसने संकोच और विवशता से मुँह को नीचे किये हुए ही सीधी एवं लम्बी साँस लेते हुए, मुझपर प्रेम से भींगे तथा चन्द्रखण्ड के उजलेपन को चुरानेवाली शुभ्र कटाक्षच्छटा का प्रक्षेप किया।"

यहाँ नेत्रों के एक अवयव-रूप—कटाक्ष का श्वेत रूप में वर्णन किया गया है। अतः, उसके कारणभूत नेत्रों का भी श्वेतवर्ण होना सिद्ध है। क्योंकि, कार्य में कारण के गुणों का संक्रमण होता है।

श्यामता—

"अथ पथि गमयित्वा रम्यक्लृप्तोपकार्ये
कतिचिदवनिपालः शर्वरीः शर्वकल्पः।
पुनरविशदयोध्यां मैथिलीदर्शिनीनां
कुवलयितगवाक्षां लोचनैरङ्गनानाम्॥"[1]

नेत्रों की श्यामता का वर्णन—

"सीता-परिणय के अनन्तर, पुत्रों और पुत्रवधुओं को साथ लेकर शिव-सदृश

---

१ द्रे० कालिदास : रघुवंश, ६-६३। रघुवंश में 'क्लृप्तरम्योपकार्ये' और 'पुनः' के स्थान पर 'पुरम्' पाठ है।

राजा दशरथ ने, मार्ग में कुछ रात्रियाँ सुन्दरता से बने उपकार्य (बँगलों) में व्यतीत करके मैथिली को देखने के लिए उत्सुक पौर रमणियों के नेत्रों से, कुवलय के समान दीखते हुए झरोखोंवाली अयोध्या नगरी में प्रवेश किया।"

यहाँ कुवलयों (नील कमलों) से नेत्रों की उपमा देते हुए महाकवि कालिदास ने उनके श्यामवर्ण का उल्लेख किया है।

कृष्णता—

"पादन्यासक्वणितरशनास्तत्र लीलावधूतै
रत्नच्छायाखचितवलिभिश्चामरैः क्लान्तहस्ताः।
वेश्यास्त्वत्तो नखपदसुखान्प्राप्य वर्षाग्रविन्दू-
नामोच्यन्ते त्वयि मधुकरश्रेणिदीर्घान्कटाक्षान् ॥"[१]

नेत्रों की कृष्णता का वर्णन—

"हे मेघ! उज्जयिनी के महाकाल-मन्दिर के प्रांगण में नृत्य करती हुई, चरण-संचालन से कमर की करधनी को बजाती हुई और रत्नजटित मूठोंवाले चँवरों को विशेष भंगी से डुलाने के कारण श्रान्त हाथोंवाली वेश्याएँ नखों को शान्ति प्रदान करनेवाली वर्षा की प्रथम बूँदों से प्रसन्न होकर, तुमपर भ्रमर-पंक्ति के समान काले और लम्बे कटाक्षों का प्रक्षेप करेंगी।"

यहाँ भी भ्रमर-पंक्ति से कटाक्षों की तुलना करते हुए महाकवि कालिदास ने नेत्रों की कृष्णवर्णता का निबन्धन किया है। अतः, यह भी कविसमय-सिद्धान्त से स्वीकार्य है।

मिश्रवर्णता—

"तामुत्तीर्य व्रज परिचितभ्रूलताविभ्रमाणां
पक्ष्मोत्क्षेपादुपरि विलसत्कृष्णशारप्रभाणाम्।
कुन्दक्षेपानुगमधुकरश्रीमुषामात्मबिम्बं
पात्रीकुर्वन्दशपुरवधूनेत्रकौतूहलानाम् ॥"[२]

॥ इति राजशेखरकृतौ काव्यमीमांसायां कविरहस्ये प्रथमेऽधिकरणे गुणसमयस्थापना पञ्चदशोऽध्यायः ॥

नेत्रों की मिश्रवर्णता—

"हे मेघ! उस चर्मण्वती नदी को पार करके तू अपने-आपको दशपुर की वधुओं के नेत्र-कौतूहलों का पात्र बनाते हुए आगे की ओर चलना। उनके नेत्र, भ्रू-संचालन

---

१. दे० कालिदास : मेघदूत, १-३६।
२. दे० कालिदास : मेघदूत, १-४७।

की चतुरता से परिचित हैं, पलकों के ऊपर उठे रहने से उनकी काली पुतलियों की शबल कान्ति (किरणें) ऊपर की ओर उठती हुई प्रतीत होती हैं और वे हिलते हुए कुन्द-कुसुम के इर्द-गिर्द मँडराते हुए भ्रमरों की शोभा को चुरानेवाले हैं।"

यहाँ महाकवि कालिदास ने, हिलते हुए कुन्द-कुसुम का अनुसरण करनेवाले भ्रमरों के साथ नेत्रों की उपमा देते हुए उनके रंग में मिश्रता का उल्लेख किया है। अतः, महाकवि-सम्प्रदाय-सिद्ध वस्तु होने के कारण नेत्रों का यह मिश्रवर्ण भी कवियों के लिए उपादेय है।

पंचदश अध्याय समाप्त

षोडशोऽध्यायः स्वर्ग्यपातालीयकविरहस्यस्थापना

षोडश अध्याय : स्वर्ग्यपातालीय कविरहस्य[1]-स्थापना

भौमवत्स्वर्ग्योऽपि कविसमयः । विशेषस्तु चन्द्रमसि शशहरिणयोरैक्यम् ।

पिछले दो अध्यायों में, जिस प्रकार भौम, अर्थात् पार्थिव कविसमय कहा गया है, उसी प्रकार स्वर्गीय कविसमय भी है । विशेषता जैसे, चन्द्रमा में खरगोश और हरिण की एकता ।

यथा—

"मा भैः शशाङ्क मम सीधुनि नास्ति राहुः
खे रोहिणी वसति कातर किं बिभेषि ।
प्रायो विदग्धवनितानवसङ्गमेषु
पुंसां मनः प्रचलतीति किमत्र चित्रम् ॥"[2]

शश (खरगोश) और हरिण की एकता का उदाहरण—

मधुपान करती हुई नायिका, मधुपात्र में काँपते हुए चन्द्रबिम्ब को देखकर कहती है—"हे शशक को अंक में लिये हुए चन्द्र ! डरो मत । मेरे मधु में राहु नहीं है (यह तो मेरा केशपुंज है) । हे कातर ! डरता क्यों है ? इसमें रोहिणी भी नहीं है, वह तो आकाश में है । प्रायः देखा जाता है कि चतुर ललनाओं के साथ नवसंगमों में पुरुषों का मन विचलित (भयकम्पित) हो जाया करता है, इसलिए तुम्हें भी भय होना आश्चर्यजनक नहीं है । अर्थात्, स्वाभाविक ही है ।"

मद्यपान करनेवाले प्रायः मद्यपात्र में चन्द्रमा को प्रतिबिम्बित करते हैं— ऐसी प्रथा है । तदनुसार, अपने पानपात्र में चन्द्रमा का चंचल प्रतिबिम्ब ग्रहण करती हुई कोई प्रौढा नायिका चन्द्रमा से कह रही है कि तुम निर्भय होकर मेरे इस पानपात्र में आ जाओ। यहाँ भय का कोई कारण नहीं है । तात्पर्य यह कि तुम्हारे भय का एक कारण तो राहु है, जो तुम्हें ग्रस लेता है और दूसरा भय, अपनी पत्नी रोहिणी से हो सकता है कि वह तुम्हें परस्त्री से समागम करते देखकर रूठ न जाय । यहाँ वे दोनों भय नहीं हैं । तब भी तुम्हारे विचलित होने का कारण यह मालूम होता है कि पुरुष, प्रौढ रमणियों से नव समागम करने में प्रायः हिचकिचाते हैं । अतः, तुम्हारा विचलित या चंचल होना आश्चर्यजनक नहीं है ।

इस रचना में कवि ने, चन्द्रमा के कलंक का शशक के रूप में उल्लेख किया है ।

---

१. यहाँ 'कविसमय' के स्थान पर 'कविरहस्य' शब्द का प्रयोग हुआ है । पूर्वप्रकरणों के अनुसार यहाँ भी 'समय' का प्रयोग ही समीचीन है ।

२. इस पद्य को वामन ने अन्यच्छायायोनि में उद्धृत किया है ।—काव्या० ३-२-८ ।

यथा च—

"अङ्काधिरोपितमृगश्चन्द्रमा मृगलाञ्छनः।
केसरी निष्ठुराक्षिप्तमृगयूथो मृगाधिपः॥"[1]

शिशुपालवध महाकाव्य में चन्द्रमा के कलंक को हरिण के रूप में चित्रित किया गया है। जैसे—

"मृग को अपनी गोद में बैठानेवाला चन्द्रमा, मृगलांछन कहा जाता है और निष्ठुरता के साथ मृगों के झुण्डों का नाश करनेवाला सिंह मृगराज कहलाता है।"

कामकेतने मकरमत्स्ययोरैक्यं यथा—

इसी प्रकार, कामदेव के ध्वजचिह्न को कहीं मकर और कहीं मत्स्य के रूप में वर्णित किया गया है। परन्तु, कवि को दोनों का ऐक्य समझना चाहिए।

"चापं पुष्पमयं गृहाण मकरः केतुः समुच्छ्रीयतां
चेतोलक्ष्यभिदश्च पञ्च विशिखाः पाणौ पुनः सन्तु ते।
दग्धा कापि तवाकृतेः प्रतिकृतिः कामोऽसि किं गूहसे
रूपं दर्शय नाऽत्र शङ्करभयं सर्वे वयं वैष्णवाः॥"

मकरचिह्न का उल्लेख—

'हे कामदेव! अपने पुष्पमय धनुष को उठाओ, मकर की पताका को फहरा दो, चित्तरूपी लक्ष्य का भेदन करनेवाले पाँचों बाणों को पुनः हाथ में ले लो। महादेव ने तुम्हारे शरीर से मिलते-जुलते किसी अन्य शरीर को भस्म किया होगा, तुम तो काम हो, क्यों छिप रहे हो, अपना रूप प्रकट करो, यहाँ शंकर का भय नहीं है। हम सब तो वैष्णवजन हैं।"

इस रचना में कामदेव को मकरकेतन कहा गया है।

यथा च—

"मीनध्वजस्त्वमसि नो न च पुष्पधन्वा
केलिप्रकाश तव मन्मथता तथापि।
इत्थं त्वया विरहितस्य मयोपलब्धाः
कान्ताजनस्य जननाथ चिरं विलापाः॥"

मीनकेतन का उदाहरण—

"हे जननाथ! मैंने तुम्हारे विरह में ललनाओं के इस प्रकार के दीर्घकालीन विलाप सुने—'हे स्मर! यद्यपि तुम न तो मीनध्वज हो और न पुष्पधन्वा हो, तथापि हे केलि-कला में प्रकट होनेवाले, तुम मन्मथ अवश्य हो'।"

इस रचना में काम को मत्स्यध्वज या मीनध्वज कहा गया है।

१, दे० माघ : शिशुपालवध, २-२३।

यथा वा—

"आपातमारुतविलोडितसिन्धुनाथो
हात्कारभीतपरिवर्त्तितमत्स्यचिह्नाम् ।
उल्लङ्घ्य यादवमहोदधिभीमवेलां
द्रोणाचलं पवनसूनुरिवोद्धरामि ॥"

"जैसे, पवनसुत हनुमान्, ओषधियों के लिए जलजन्तुओं से भरे और भीषण तट से घिरे समुद्र को लाँघकर द्रोणाचल को उठा लाये थे, उसी प्रकार मैं भी अपने उत्पतन-वायु से सिन्धुनाथ (जयद्रथ) समुद्र को उत्तरंगित करता हुआ, हाहाकार से डरकर मत्स्य के चिह्न को परिवर्त्तित करनेवाली यादव-महासमुद्र की भीम (भयंकर) वेला (तट) को पारकर, द्रोणाचार्य-रूपी पर्वत को उठा लाता हूँ।"

यह श्लेष रचना है। सिन्धुनाथ, यादव, भीम, द्रोणाचल आदि पद क्रमशः जयद्रथ, कृष्ण, भीमसेन और द्रोण का संकेत करते हैं। यहाँ भी मत्स्यचिह्न का उल्लेख किया गया है। यहाँ मत्स्यचिह्न का परिवर्त्तन कामावतार प्रद्युम्न की ओर लक्ष्य करता है।

अत्रिनेत्रसमुद्रोत्पन्नचन्द्रयोरैक्यम्—

पुराणों में चन्द्रमा की उत्पत्ति कहीं अत्रि ऋषि के नेत्र से और कहीं समुद्र से लिखी गई है। परन्तु, वे दोनों एक ही हैं। अतः, कवि को वर्णन-प्रसंग में उन्हें पृथक् न समझना चाहिए—

"वन्द्या विश्वसृजो युगादिगुरवः स्वायम्भुवाः सप्त ये
तत्रात्रिर्दिवि सन्दधे नयनजं ज्योतिः स चन्द्रोऽभवत् ।
एका यस्य शिखण्डमण्डनमणिर्देवस्य शम्भोः कला
शेषाभ्योऽमृतमाप्नुवन्ति च सदा स्वाहास्वधाजीविनः ॥"

अत्रिनेत्र से उत्पत्ति का उदाहरण—

"सृष्टि के आदि पितामह, ब्रह्मा की इच्छा से उत्पन्न होनेवाले और समस्त विश्व की सृष्टि करनेवाले वे सप्तर्षि वन्दनीय हैं। उनमें एक अत्रि ऋषि ने, अपनी नेत्र-ज्योति का आकाश में सन्धान किया, जो चन्द्रमा के नाम से प्रसिद्ध है। इस चन्द्रमा की एक कला, भगवान् शम्भु की जटा का भूषण बन गई और शेष कलाओं से स्वाहाजीवी देव तथा स्वधाजीवी पितृगण सदा अमृत प्राप्त करते हैं।

बहुकालजन्मनोरपि शिवचन्द्रमसोर्बालत्वम् । यथा—

इसी प्रकार, अनन्तकाल से उत्पन्न शिव के मस्तक का चन्द्रमा, सदा बालक के रूप में ही वर्णित किया जाता है। उदाहरण—

"मालायमानामरसिन्धुहंसः
कोटीरवल्लीकुसुमं भवस्य ।
दाक्षायणीविभ्रमदर्पणश्रि
बालेन्दुखण्डं भवतः पुनीतात् ॥"

"शिव की जटा में माला के समान दीखती हुई मन्दाकिनी के तटपर विहार करनेवाला हंस, शिवजी की जटा-वल्ली का श्वेत कुसुम और पार्वती के शृंगार के लिए दर्पण की शोभा धारण करनेवाला बालचन्द्र का खण्ड, आपको पवित्र करे।"

कामस्य मूर्त्तत्वं च यथा—

कवियों ने अनंग काम का मूर्त्त रूप से वर्णन किया है—

"अयं स भुवनत्रयप्रथितसंयमः शङ्करो
बिभर्त्ति वपुषाधुना विरहकातरः कामिनीम् ।
अनेन किल निर्जिता वयमिति प्रियायाः करं
करेण परिताडयन् जयति जातहासः स्मरः ॥"[1]

"यह वह शंकर है, जिसका संयम तीनों लोकों में प्रसिद्ध है। आज वही विरह से कातर हो आधे शरीर में कामिनी को लेकर बैठा है। इसने हमें क्या कभी जीत लिया था ? अर्थात्, ऐसा यह हमें क्या जीतेगा—इस प्रकार कहते हुए और अपने हाथ को अपनी प्रियतमा (रति) के हाथ पर पटककर हँसते हुए कामदेव की जय हो।"

इसी प्रकार, अमूर्त्त काम का वर्णन भी कवियों ने किया है।

यथा च—

"धनुर्माला मौर्वी क्वणदलिकुलं लक्ष्यमबला
मनोभेद्यं शब्दप्रभृति य इमे पञ्च विशिखाः ।
इयान् जेतुं यस्य त्रिभुवनमनङ्गस्य विभवः
स वः कामः कामान्दिशतु दयितापाङ्गवसतिः ॥"[2]

जैसे—

"पुष्पों की माला जिसका धनुष है, गुंजन करती भ्रमरावली जिसकी प्रत्यंचा है, अबलाएँ जिसका लक्ष्य हैं, मन को भेदनेवाले शब्द आदि पाँच विषय जिसके बाण हैं। इस प्रकार, तीनों लोकों को जीतने के लिए जिसके समीप इतना साधन है, प्रिय ललनाओं के कटाक्ष में रहनेवाला वह अनङ्ग कामदेव, आप लोगों की कामनाओं को सफल करे।"

---

१. यह पद्य 'प्रबन्धचिन्तामणि' (१-२४) में उद्धृत है।
२. वह पद्य 'सुभाषितावली' में कुछ पाठभेद के साथ 'घण्टक' के नाम से उद्धृत है।

द्वादशानामप्यादित्यानामैक्यम्—

पुराणों में बारह आदित्य या सूर्य कहे गये हैं; परन्तु कवि-रचनाओं में उन्हें एक ही समझना चाहिए। जैसा कि मयूर के 'सूर्यशतक' में कहा गया है—

"यस्याधोऽधस्तथोपर्युपरि निरवधि भ्राम्यतो विश्वमश्वै-
रावृत्तालातलीलां रचयति रयतो मण्डलं चण्डधाम्नः।
सोऽव्यादुत्तप्तकार्त्तस्वरसरलशरस्पर्द्धिभिर्द्धामदण्डै-
रुद्दण्डैः प्रापयन्वः प्रचुरतमतमःस्तोममस्तं समस्तम्॥"[1]

"इस असीम विश्व में घोड़ों के द्वारा नीचे और ऊपर वेग से घूमता हुआ जो प्रचण्डकिरण सूर्यमंडल, आकाश में जलती और वेग से घूमती हुई आग की चरखी के समान मालूम होता है, वह सूर्यमंडल तपाये हुए सोने के लम्बे छड़ों के समान चमकते हुए किरणरूपी उद्दण्ड दण्डों से सम्पूर्ण घने राशीभूत अन्धकार का नाश करता हुआ आप लोगों की रक्षा करे।"

इसमें समस्त विश्व में एक ही सूर्य का वर्णन किया गया है।

नारायणमाधवयोश्च यथा—

"येन ध्वस्तमनोभवेन बलिजित्कायः पुरास्त्रीकृतो
यो गङ्गां च दधेऽन्धकक्षयकरो यो बर्हिपत्रप्रियः।
यस्याहुः शशिमच्छिरोहर इति स्तुत्यं च नामामराः
सोऽव्यादिष्टभुजङ्गहारवलयस्त्वां सर्वदो माधवः॥"

इसी प्रकार नारायण और माधव की एकता भी कविसमयानुसार है। जैसे—

इस श्लोक में माधव-विष्णु तथा उमा-धव शिव, दोनों का श्लेष से वर्णन किया गया है। माधव-पक्ष में—"जिस अजन्मा विष्णु ने शकटासुर का नाश किया, जिसने बलि के विजय करनेवाले वामन-शरीर को स्त्री (मोहिनी) रूप में परिवर्त्तित किया, जिसने कृष्णरूप से गोवर्धन पर्वत और कूर्मरूप से पृथ्वी को धारण किया, जिसने अन्धक (यादव)-वंश का विनाश किया, जिसे मयूरपंख प्रिय है, जिसे 'चन्द्रमा के शत्रु (राहु) का शिर काटनेवाला' इस स्तुत्य नाम से देवगण पुकारते हैं, वह उद्दण्ड कालिय नाग का दर्प-दलन करनेवाला, सब कुछ देनेवाला माधव तुम्हारी रक्षा करे।"

शिव-पक्ष में—

"कामदेव का नाश करनेवाले जिस शिव ने, त्रिपुरासुर-वध के समय नारायण के शरीर को अस्त्र बनाया था, जो गंगा का धारण करता है, जो अंधकासुर का नाशक है, जो कार्त्तिकेय को प्रिय है, जिसका मस्तक चन्द्रमा से युक्त है, देवता जिसका प्रशंसनीय

१. यह पद्य 'सदुक्तिकर्णामृत' और 'कवीन्द्रवचनसमुच्चय' में राजशेखर के नाम से तथा 'सुभाषितावली' में चन्द्रक के नाम से उद्धृत है।

नाम 'हर' कहते हैं, वह सर्पों के हार और कंकणों को प्यार से धारण करनेवाला उमापति, तुम्हारी सर्वदा रक्षा करे।"

इस पद्य में कृष्ण, कूर्म, वामन, मोहिनी आदि अवतार धारण करनेवाले माधव और नारायण की एकता का वर्णन किया गया है। साथ ही, श्लेषमुखेन माधव और उमाधव (शिव) की एकता का भी चित्रण किया गया है।

एवं दामोदरशेषकूर्मादिः कमलासम्पदोश्च। यथा—

इसी प्रकार दामोदर, शेष, कूर्म आदि में तथा कमला और सम्पदा में भी एकता समझनी चाहिए। कमला और सम्पत्ति की एकता का उदाहरण—

"दोर्मन्दीरित[1]मन्दरेण जलधेरुत्थापिता या स्वयं
यां भूत्वा कमठः पुराणककुदन्यस्तामुदस्तम्भयत्।
तां लक्ष्मीं पुरुषोत्तमः पुनरसौ लीलाञ्चितभ्रूलता-
निर्देशैः समवीविशत्प्रणयिनां गेहेषु दोष्णि क्षितिम्॥"

"भगवान् विष्णु ने, अपने हाथों से मन्दराचल के द्वारा धीरे-धीरे मंथन करके स्वयं जिस लक्ष्मी को समुद्र से निकाला और जिसे (भूमि के रूप में) कूर्म बनकर अपनी पुरानी पीठ पर धारण कर स्थिर किया, फिर उसी पुरुषोत्तम ने उस लक्ष्मी की लीला-संचालित भ्रूलता के इंगित से ही उसे अपने भक्तों के गृहों में स्थापित कर दिया और पृथ्वी को अपनी बाहुओं पर धारण कर लिया।"

यहाँ विष्णु का समुद्र से स्वयं उद्धृत की गई लक्ष्मी या सम्पत्ति का भक्तों के घर में स्थापित करना वर्णित किया गया है, जो लक्ष्मी और सम्पत्ति की एकता का द्योतक है।

भौमस्वर्ग्यवत्पातालीयोऽपि कविसमयः।

भौम और स्वर्ग्य के समान पातालीय कविसमय भी है। जैसे, सर्पों और नागों की एकता। तात्पर्य यह कि पाताल में रहनेवाले नाग और सर्प दोनों भिन्न जाति के हैं, नागराज शेष और सर्पराज वासुकि हैं। किन्तु, कविसमय के अनुरोध से प्राचीन कविगण, दोनों का एक ही रूप में वर्णन करते आये हैं।

तत्र नागसर्पयोरैक्यम्—

"हे नागराज बहुमस्य नितम्बभागं
भोगेन गाढमभिवेष्टय मन्दराद्रेः।
सोढाविषह्यवृषवाहनयोगलीला
पर्यङ्कबन्धनविधेस्तव कोऽतिभारः॥"

---

१. यहाँ 'मन्दीरित' पाठ ठीक नहीं है। इसका कोई अर्थ नहीं होता। यहाँ 'मन्देरित' (=धीरे-धीरे संचालित) पाठ समीचीन है।

नाग और सर्प की एकता का उदाहरण—

समुद्र-मंथन के समय मंदराचल को मंथन-दण्ड और वासुकि को रस्सी बनाया गया था। उस समय का वर्णन करते हुए कवि वासुकि से कहता है—"हे नागराज! अपने शरीर से,-इस मन्दराचल के विशाल नितम्ब को भली भाँति कसकर जकड़ लो। शिवजी की योग-साधना में, असह्य पर्यंक नामक आसन के बन्धन की विधि को सह सकनेवाले तुम्हारे लिए, यह मन्दराचल कौन-सा भार है। अर्थात्, उस समय तुम्हें त्रैलोक्य का भार उठाना पड़ता है।"

यहाँ सर्पराज वासुकि को नागराज कहकर दोनों की एकता बतलाई गई है।

दैत्यदानवासुराणामैक्यम्, यथा तत्र हिरण्याक्षहिरण्यकशिपुप्रह्लाद-विरोचनबलिबाणादयो दैत्याः, विप्रचित्तिशम्बरनमुचिपुलोमप्रभृतयो दानवाः बलवृत्रविक्षुरस्त[1] वृषपर्वादयोऽसुराः।

इसी प्रकार, पाताल में रहनेवाले दैत्य, दानव और असुर तीनों भिन्न-भिन्न जाति के हैं। जैसे हिरण्याक्ष, हिरण्यकशिपु, प्रह्लाद, विरोचन, बली, बाण आदि दैत्य हैं। विप्रचित्ति, शंबर, नमुचि, पुलोम आदि दानव हैं और बल, वृत्र, वृषपर्वा आदि असुर हैं। महाकवि बाणभट्ट ने कादम्बरी के मंगलाचरण में तीनों का एक ही रूप में वर्णन किया है।

तेषामैक्यं यथा—

"जयन्ति बाणासुरमौलिलालिता
दशास्यचूडामणिचक्रचुम्बिनः।
सुरासुराधीशशिखान्तशायिनो
भवच्छिदस्त्र्यम्बकपादपांसवः॥"[2]

दैत्य, दानव और असुरों की एकता का उदाहरण—

"बाणासुर के मस्तक से लालित, रावण की मुकुट-मणियों के मंडल को चूमनेवाली एवं सुरों तथा असुरों के अधीशों के मस्तकों पर स्थान प्राप्त करनेवाली भगवान् शंकर की भवनाशक चरणरज की जय हो।"

यथा च—

"तं शम्बरासुरशराशनिशल्यसारं
केयूररत्नकिरणारुणबाहुदण्डम्।
पीनांसलग्नदयिताकुचपत्रभङ्गं
मीनध्वजं जितजगत्त्रितयं जयेत्कः॥"

---

१. 'विक्षुरस्त' अपपाठ प्रतीत होता है। वस्तुतः 'विक्षुरप्रहस्त' वा 'विक्षुरप्रहस्त' समीचीन पाठ है।
२. दे० बाणभट्ट : कादम्बरी, २।

दूसरा उदाहरण—

"शम्बरासुर के बाणवज्र के फलक के समान बली, केयूर-जटित रत्नप्रभा से रक्त भुजदण्डवाले, प्रियतमा रति के कुच पर की हुई पत्ररचना से अंकित विशाल वक्षःस्थल-वाले और तीनों लोकों की विजय करनेवाले कामदेव को कौन जीत सकता है?"

यहाँ शंबर को, जो वस्तुतः दानव है, असुर कहा गया है।

यथा च—

"अस्ति दैत्यो हयग्रीवः सुहृद्वेश्मसु यस्य ताः।
प्रथयन्ति बलं बाह्वोः सितच्छत्रस्मिताः श्रियः॥"[1]

इसी प्रकार भर्तृमेण्ठ के हयग्रीववध-महाकाव्य के प्रारम्भ में—

"हयग्रीव नाम का वह दैत्य है, जिसके मित्रों के घरों में श्वेत छत्र की शुभ्र शोभा से मानों स्मित करती हुई लक्ष्मी उसके बाहुबल का परिचय देती है।"

यहाँ हयग्रीव को दैत्य कहा गया है।

यथा च हयग्रीवं प्रति—

"दानवाधिपते भूयो भुजोऽयं किं न नीयते।
सहायतां कृतान्तस्य क्षयाभिप्रायसिद्धिषु॥"

उसी काव्य में आगे चलकर उसी हयग्रीव को दानव भी कहा गया है। जैसे—

"हे दानवराज! तुम अपनी भुजाओं को संहार-कार्य की अभिप्रेत-सिद्धि के लिए पुनः काल का सहायक क्यों नहीं बनाते? अर्थात्, शत्रुओं का संहार क्यों नहीं करते?"

यथा च—

"महासुरसमाजेऽस्मिन् न चैकोऽप्यस्ति सोऽसुरः।
यस्य नाशनिनिष्पेषनीराजितमुरःस्थलम्॥"

इसी प्रकार अन्य उदाहरण—

"इस महासुरों के समाज में ऐसा एक भी असुर नहीं है, जिसकी छाती इन्द्रवज्र के प्रहार-जन्य व्रणों से शोभित नहीं है।"

यहाँ सभी दैत्यों और दानवों को असुर कहा गया है।

एवमन्येऽपि भेदाः।

इसी प्रकार, अन्य भेदों की कल्पना कवियों को स्वयं कर लेनी चाहिए।

---

१. भर्तृमेण्ठ के 'हयग्रीववध' का प्रथम श्लोक।

सोऽयं कवीनां समयः काव्ये सुप्त इव स्थितः ।
स साम्प्रतमिहास्माभिर्यथाबुद्धिविबोधितः ।।

इति राजशेखरकृतौ काव्यमीमांसायां कविरहस्ये प्रथमेऽधिकरणे
स्वर्ग्यपातालीयकविरहस्यस्थापना षोडशोऽध्यायः ।

इस प्रकार, यह कविसमय[1], जो काव्यों में सो रहा था, अर्थात् विस्मृत हो गया था, उसे हमने अपनी बुद्धि के अनुसार पुनः जागरित कर दिया है।

षोडश अध्याय समाप्त

१. राजशेखर के कविसमय से वामन के कविसमय में भेद है। इसकी वामनीय काव्यलंकार के अधि० ५, अ० १ से तुलना कोजिए। किन्तु, परवर्ती जिनसेन, अमर, देवेश्वर आदि आलंकारिकों ने राजशेखर का अनुगमन किया है। —द्रे० अल० चि०, पृ० ७-८; का० क० वृत्ति, द्वि० प्रतान, पृ० ३०-३१; कवि० क० ल०, पृ० ४१—४३।

सप्तदशोऽध्यायः देशविभागः

सप्तदश अध्याय : देश-विभाग

देशं कालं च विभजमानः कविर्नार्थदर्शनदिशि दरिद्राति ।

देश और काल का विभाग करनेवाला कवि, अर्थों के दर्शन की दिशा में दरिद्र नहीं रहता। तात्पर्य यह है कि जिस कवि को देश और काल का ज्ञान रहता है, उसे वर्णनीय पदार्थों की न्यूनता नहीं होती। दूसरे, यदि कवि को देश और काल का ज्ञान न हो, तो वह भिन्न-भिन्न देशों की प्राकृतिक स्थिति, उन-उन देशों के सामान्य और विशेष लोक-व्यवहार, उन-उन ऋतुओं, महीनों आदि में उत्पन्न होनेवाली वस्तुओं तथा आचार-व्यवहार आदि का वर्णन करने में विमूढ रहता है। उसकी रचना हास्यास्पद और निकृष्ट होती है। अतः, देश और काल के ज्ञान के लिए अन्तिम दो अध्यायों में मार्ग-प्रदर्शन किया गया है। इस सप्तदश अध्याय में देश-विभाग कहा जायगा।

जगज्जगदेकदेशाश्च देशः । द्यावापृथिव्यात्मकमेकं जगदित्येके ।

जगत्, अर्थात् लोक का और जगत् के एक देश का भी नाम देश है। कुछ लोगों का मत है कि 'द्यावापृथ्वीरूप[1] एक ही जगत् या लोक है'।

तदाहुः—

"हलमगु बलस्यैकोऽनड्वान्हरस्य न लाङ्गलं
क्रमपरिमिता भूमिर्विष्णोर्नगौर्न च लाङ्गलम् ।
प्रवहति कृषिर्नाद्याप्येषां द्वितीयगवं विना
जगति सकले नेदृग्दृष्टं दरिद्रकुटुम्बकम् ॥"

जैसा कहा गया है—

"हलधर बलभद्रजी के पास एक हल है, किन्तु गो से रहित है, अर्थात् बैल नहीं है। शिवजी के पास एक बैल है, किन्तु हल नहीं है। विष्णु के पास भिक्षा से प्राप्त एक पग में नापी हुई भूमि है, किन्तु बैल और हल दोनों नहीं हैं। यदि ये तीनों मिलकर कृषि करना चाहें, तो भी दूसरे बैल के विना असम्भव है। अतः, ऐसा दरिद्र-परिवार सारे जगत् में न देखा गया और न सुना गया।"

इस रचना में 'सकल जगत् में' ऐसा कहकर एक ही जगत् का निर्देश किया गया है।

'दिवस्पृथिव्यौ द्वे जगती' इत्यपरे ।

दूसरों का मत है कि द्यावापृथिवी (स्वर्ग और मर्त्य) ये दो जगत् हैं।

---

1. 'द्यावापृथिवी' का अर्थ भूमि और अन्तरिक्ष अथवा मर्त्य या स्वर्गलोक है।

तदाहुः—

"रुणद्धि रोदसी[1] वास्य यावत्कीर्त्तिरनश्वरी ।
तावत्किलायमध्यास्ते सुकृती वैबुधं पदम् ॥"

वे अपने मत की पुष्टि में उदाहरण देते हैं—

"जबतक कवि की अविनाशिनी कीर्त्ति, स्वर्ग और मर्त्यलोक में व्याप्त रहती है, तबतक वह पुण्यशाली कवि, अवश्य देवलोक में निवास करता है।"

यहाँ स्वर्गलोक और मर्त्यलोक इस प्रकार दो जगत् का वर्णन किया गया है।

'स्वर्ग्यमर्त्त्यपातालभेदास्त्रीणि जगन्ति' इत्येके ।

तीसरा मत यह है कि 'स्वर्ग, मर्त्य और पाताल—ये तीन लोक हैं'।

यदाहुः—

"त्वमेव देव पातालमाशानां त्वं निबन्धनम् ।
त्वं चामरमरुद्भूमिरेको लोकत्रयायसे ॥"[2]

जैसे—

"हे राजन्! तुम्हीं पाताल हो, तुम्हीं आशाओं (दिशाओं) के आधार हो, अर्थात् भू-लोक हो; क्योंकि दिशाओं का व्यवहार केवल भू-लोक में ही होता है, और तुम्हीं देवताओं तथा मरुद्गणों (वायु-समूहों) की भूमि, अर्थात् स्वर्गलोक हो। इस प्रकार, तुम अकेले ही त्रिभुवन-स्वरूप हो।" यह अर्थ राजा को विष्णु-स्वरूप मानकर किया गया है।

राजा के पक्ष में इस पद्य का दूसरा अर्थ है कि तुम 'अलं पाता'—समर्थ रक्षक याचकों की आशाओं के आधार और चँवर डुलाये जाने योग्य हो।

यहाँ तीन लोकों का पृथक्-पृथक् निर्देश है।

'तान्येव भूर्भुवःस्वः' इत्यन्ये ।

कुछ लोगों का मत है कि 'ये तीनों लोक, भूर्, भुवर् और स्वर्—त्रिभुवन कहे जाते हैं'।

तदाहुः—

"नमस्त्रिभुवनाभोगभृतिखेदभरादिव ।
नागनाथाङ्गपर्यङ्कशायिने शार्ङ्गधन्वने ॥"

---

१. 'रोदसी' शब्द का अर्थ भी 'द्यावापृथिवी' के समान है। मर्त्य और स्वर्ग दोनों का मिलाकर नाम है। यह पद्य भामह के 'काव्यालङ्कार' (१-७) में उद्धृत है।

२. यहाँ 'पातालं', 'आशा' और 'चामरमरुद्भूमि'—ये तीनों शब्द श्लिष्ट हैं। पाता अलम्—इस प्रकार पदच्छेद करने पर 'समर्थ रक्षक' अर्थ होता है। 'आशा' नाम दिशाओं का भी है। 'चामरमरुद्भूमि' का अर्थ है—चँवर की वायु से सेवित। यदि 'च' को अलग कर दिया जाय तो 'अमरमरुद्भूमि' शब्द देवताओं के निवासस्थान स्वर्ग का वाचक हो जाता है। यह पद्य 'सरस्वतीकण्ठाभरण' में वर्णश्लेप के उदाहरण में आया है।

उदाहरण—

"विशाल त्रिभुवन के भार को धारण करने की भ्रान्ति को मिटाने के लिए, मानों, नागनाथ शेष के शरीर-रूपी पलंग पर सोये हुए तथा शार्ङ्ग धनुष को धारण करनेवाले विष्णु भगवान् को नमस्कार है।"

'महर्जनस्तपः सत्यमित्येतैः सह सप्त' इत्यपरे।

कुछ लोगों का कथन है कि 'इन तीनोंको मिलाकर महर्, जनस्, तपस् और सत्य—ये चार लोक और हैं। इस प्रकार, कुल सात लोक हैं'।

तदाहुः—

"संस्तम्भिनी पृथुनितम्बतटैर्धरित्र्याः
संवाहिनी जलमुचां चलकेतुहस्तैः।
हर्षस्य सप्तभुवनप्रथितोरुकीर्त्तेः
प्रासादपङ्क्तिरियमुच्छिखरा विभाति॥"

उदाहरण—

"विपुल नितम्ब (आधारशिला) के तटों से पृथ्वी को रोक रखनेवाली, हिलते हुए ध्वजा-रूपी हाथों से मेघों का परामर्श करनेवाली एवं ऊँचे उठे हुए शिखरोंवाली, सातों भुवनों में विख्यात कीर्त्तिवाले राजा हर्ष[1] की यह प्रासाद-पंक्ति, सामने शोभित हो रही है।"

'तानि सप्तभिर्वायुस्कन्धैः सह चतुर्दश' इति केचित्।

दूसरा मत है कि 'ये सातों लोक, सात वायु-स्कन्धों[2] को मिलाकर चौदह हो जाते हैं'।

तदाहुः—

"निरवधि च निराश्रयं च यस्य
स्थितमनुवर्त्तितकौतुकप्रपञ्चम्।
प्रथम इह भवान्स कूर्ममूर्त्ति-
र्जयति चतुर्दशलोकवल्लिकन्दः॥"

उदाहरण—

"जिसकी स्थिति निराधार और काल की सीमा से रहित—निःसीम है और जो

---

१. यहाँ 'हर्ष' का तात्पर्य बाणभट्ट के आश्रयदाता सम्राट् हर्षवर्द्धन से है।

२. सप्त वायुस्कन्धों का वर्णन, किसी पुराण आदि में नहीं मिलता; किन्तु भागवत में प्रवह, निवह आदि वायु के स्थान अन्तरिक्ष में लिखे हैं—'ततोऽधस्ताद् यक्षरक्षःपिशाचप्रेतगणानां विहाराजिरमन्तरिक्षं यावद् वायुः प्रवाति यावन् मेघा उपलभ्यन्ते' इति। कदाचित् राजशेखर का अभिप्रायं इन्हीं सात वायुस्कन्धों से हो। स्कन्ध शब्द का अर्थ समूह है।

अद्भुत कौतूहल की सृष्टि करनेवाले हैं, ऐसे चतुर्दश भुवन-रूपी लता के कन्द (मूल)-रूप भगवान् आदिकूर्म की जय हो।"[1]

'तानि सप्तभिः पातालैः सहैकविंशति' इति केचित्।

'ये चौदह भुवन, सात[2] पातालों को मिलाने से इक्कीस हो जाते हैं'—कुछ लोगों का ऐसा मत है।

तदाहुः—

"हरहासहरावासहरहारनिभप्रभाः ।
कीर्त्तयस्तव लिम्पन्तु भुवनान्येकविंशतिम् ॥"

उदाहरण—

"हे राजन्! हर के अट्टहास, हर के निवास (कैलास) और हर के हार (वासुकि) के समान शुभ्र तुम्हारी कीर्त्तियाँ इक्कीस भुवनों को धवलित करें।"

'सर्वमुपपन्नम्' इति यायावरीयः। अविशेषविवक्षा यदेकयति, विशेषविवक्षात्वनेकयति। तेषु भूर्लोकः पृथिवी। तत्र सप्त महाद्वीपाः। यथा—

यायावरीय का सिद्धान्त है कि 'ऊपर कहे हुए सभी मत उचित हैं'। सामान्य रूप से कहने की इच्छा वस्तु को एक बनाती है और विशेष रूप से कहने की इच्छा वस्तु को अनेक। एक से इक्कीस तक की यह लोक-संख्या, अपनी इच्छा के अधीन है। कवि, सबका एक रूप में या दो, तीन, सात, चौदह या इक्कीस किसी भी इच्छा से, अनेक रूपों में वर्णन करता है। इन लोकों में पृथ्वी भू-लोक है और उसमें सात महाद्वीप हैं। जैसे—

"जम्बूद्वीपः सर्वमध्ये ततश्च प्लक्षो नाम्ना शाल्मलोऽतः कुशोऽतः।
क्रौञ्चः शाकः पुष्करश्चेत्यथैषां बाह्या बाह्या संस्थितिर्मण्डलीभिः॥

"सब द्वीपों के मध्य में जम्बूद्वीप[3] है, उसके अनन्तर क्रमशः प्लक्ष, शाल्मली, कुश, क्रौंच, शाक और पुष्करद्वीप हैं। द्वीपों की यह स्थिति बाहर-बाहर मंडली (गोलाई) के रूप में है।

लावणो रसमयः सुरोदकः सार्पिषो दधिजलः पयःपयाः।
स्वादुवारिरुदधिश्च सप्तमस्तान्परीत्य त इमे व्यवस्थिताः॥"

लवणजल, इक्षुरस, सुरा, घृत, दधि, दूध और मधुर जल के सात समुद्र—इन सातों महाद्वीपों को घेरे हुए हैं।"

---

१. वामन ने उपमा-रूपक में इसको उद्धृत किया है। वहाँ दूसरे चरण में 'स्थितमनिर्वर्तित' पाठ है। (काव्या० ४।३।३२।)

२. पुराणों में सात पातालों के नाम ये हैं—अतल, वितल, सुतल, तलातल, महातल, रसातल और पाताल।

३. महाभारत के सभापर्व में मेरु के दक्षिण जम्बूद्वीप का वर्णन है। इस द्वीप में जम्बू (जामुन) का विशाल वृक्ष है। इसमें जम्बू नामक पर्वत और जम्बू नाम की नदी भी है। इन्हीं कारणों से इसका नाम जम्बूद्वीप है। यह लवणसमुद्र से घिरा है।

'एक एवायं लावणः समुद्रः' इत्येके ।

कुछ लोगों का मत है कि 'लवण-जलमय एक ही समुद्र है' ।

तदाहुः—

"द्वीपान्यष्टादशात्र क्षितिरपि नवभिर्विस्तृता स्वाङ्गखण्डै-
रेकोऽम्भोधिर्दिगन्तप्रविसृतसलिलः प्राज्यमेतत्सुराज्यम् ।
कस्मिन्नप्याजिकेलिव्यतिकरविजयोपार्जिते वीरवर्ये
चक्रे पुञ्जेन दातुं तदिदमिति धिया वेधसे यश्चुकोप ॥"

जैसे कि—

"इस भू-लोक में अट्ठारह द्वीप हैं, पृथ्वी भी अपने नौ अंग— खण्डों में विस्तृत है, दिगन्तों तक जल को फैलाये एक समुद्र है और यह समृद्धिशाली विस्तृत एक सुन्दर राज्य है— युद्धक्रीडा से प्राप्त, विजय से उपार्जित यह सब अप्रतिम साहसवाले किसी दानी को दान करने के लिए भी पर्याप्त नहीं हैं । इसलिए, परशुराम को ब्रह्मा के प्रति क्रोध उत्पन्न हुआ ।" अर्थात्, यह सब कुछ ब्राह्मणों को दान करने के लिए अत्यल्प है । ब्रह्मा ने इसे इतना छोटा क्यों बनाया ?—यह क्रोध का कारण है ।

इस रचना में एक लवणसमुद्र का वर्णन किया गया है ।

'त्रयः' इत्यन्ये ।

कुछ लोगों का मत है कि 'तीन समुद्र हैं' ।

तदाहुः—

"आकम्पितक्षितिभृता महता निकामं
हेलाभिभूतजलधित्रितयेन यस्य ।
वीर्येण संहतिभिदा विहतोन्नतेन
कल्पान्तकालविसृतः पवनोऽनुचक्रे ॥"

जैसा कि कहा है—

"जिस राजा के, शत्रुओं के संगठन को तोड़नेवाले उद्धृत वीर्य (पराक्रम) ने, प्रवहमाण प्रलयकालीन पवन का अनुकरण किया और राजाओं तथा पर्वतों को कँपा दिया तथा तीनों समुद्रों को अनायास ही अस्तव्यस्त कर दिया ।"

यहाँ तीन समुद्रों का वर्णन किया गया है ।

यथा वा—

"मातङ्गानामभावे मदमलिनमुखैः प्राप्तमाशाकरीन्द्रैः
जाते रत्नापहारे दिशि दिशि ततयो भान्ति चिन्तामणीनाम् ।
छिन्नेपूद्यानवापीतरुषु विरचिताः कल्पवृक्षा रिपूणां
यस्योदञ्चत्त्रिवेलावलयफलभुजां मानसी सिद्धिरासीत् ॥"

दूसरा उदाहरण—

(क) "जिस राजा के, तीनों समुद्रतटों का उपभोग करनेवाले शत्रुओं को मानसिक सिद्धि प्राप्त हुई। युद्ध में मारे जाने पर उनके हाथी तो नष्ट हो गये; किन्तु स्वर्ग में जाकर उन्हें दिग्गज प्राप्त हुए। राजा के द्वारा उनके रत्नों का अपहरण हो जाने पर प्रत्येक दिशा में उन्हें चिन्तामणि रत्न की प्राप्ति हुई और राजा के आक्रमणों से उनके उद्यान की वापी के तटवृक्षों के नष्ट कर दिये जाने पर उन्हें स्वर्ग में कल्पवृक्षों की प्राप्ति हुई।"

(ख) इसका दूसरा अर्थ यह है कि "भागकर और तीन समुद्रों के तटों पर फल खाकर रहनेवाले शत्रुओं को मानसिक संकल्प की ही सिद्धि थी। हाथियों का स्थान आशा के गजों ने ले लिया, मणियों के अभाव में चिन्ता की मणियों से काम लेते हैं और उद्यान-वृक्षों के नष्ट हो जानेपर कल्पना के वृक्षों का आनन्द लेते हैं।"

इस उदाहरण में भी तीन समुद्रों का उल्लेख किया गया है।

'चत्वारः' इत्यपरे।

कुछ लोगों के मत से 'चार समुद्र हैं'।

तदाहुः—

"चतुःसमुद्रवेलोर्मिरचितैकावलीलतम्।
मेरुमप्यद्रिमुल्लङ्घ्य यस्य क्वापि गतं यशः॥"

जैसे—

"जिस राजा का यश, चारों समुद्रों की, तट-लहरियों की एक माला बनाकर और सुमेरु पर्वत को भी लाँघकर न जाने कहाँ चला गया।"

यहाँ चार समुद्रों का उल्लेख किया गया है।

'भिन्नाभिप्रायतया सर्वमुपपन्नम्' इति यायावरीयः। सप्तसमुद्री-वादिनस्तु शास्त्रादनपेता एव।

यायावरीय राजशेखर का मत है कि कवियों के भिन्न-भिन्न अभिप्राय या आशय के कारण सभी मत उचित ही हैं। सात समुद्रों के माननेवाले भी अ-शास्त्रीय नहीं कहे जा सकते। उन्हें भी शास्त्र का आधार प्राप्त है।

तदाहुः—

"अगस्त्यचुलुकोच्छिष्टसप्तवारिधिवारिणि।
मुहूर्तं केशवेनाऽपि तदन्तः पूतरायितम्॥

जैसा कि कहा है—

"अगस्त्य के आचमन से उच्छिष्ट सात समुद्रों के जल में, केशव (विष्णु) भी घड़ी-भर के लिए तैरते हुए तृण के समान प्रतीत होते थे।"

इस उदाहरण में सात समुद्रों का वर्णन किया गया है।

मध्ये जम्बूद्वीपमाद्यो गिरीणां
मेरुर्नाम्ना काञ्चनः शैलराजः।

योमूर्त्तानामौषधीनां निधानं
यश्चावासः सर्ववृन्दारकाणाम् ॥

जम्बूद्वीप के मध्य में पर्वतों का प्रथम राजा सुवर्णमय मेरु पर्वत है, जो मूर्त्तिमान् ओषधियों का आकर और समस्त देवताओं का आवासस्थान है।

तमेनमवधीकृत्य देवेनाम्बुजजन्मना ।
तिर्यगूर्ध्वमधस्ताच्च विश्वस्य रचना कृता ॥

इसी सुमेरु पर्वत को अवधि (केन्द्र) मानकर ब्रह्मा ने उसके तिरछे, ऊपर और नीचे विश्व की रचना की है।

स भगवान्मेरुराद्यो वर्षपर्वतः । तस्य चतुर्दिशमिलावृतं वर्षम् । तस्योत्तरेण त्रयो वर्षगिरयः, नीलः श्वेतः शृङ्गवांश्च । रम्यकं, हिरण्मयम्, उत्तराः कुरव इति च क्रमेण त्रीणि तेषां वर्षाणि । दक्षिणेनापि त्रय एव निषधो हेमकूटो हिमवांश्च । हरिवर्षं, किम्पुरुषं, भारतमिति च त्रीणि वर्षाणि । तत्रेदं भारतं वर्षमस्य च नव भेदाः । इन्द्रद्वीपः, कसेरुमान्, ताम्रपर्णो, गभस्तिमान्, नागद्वीपः, सौम्यो, गन्धर्वो, वरुणः, कुमारीद्वीपश्चायं नवमः ।

वह भगवान् सुमेरु सबसे प्रथम और प्रधान वर्ष-पर्वत (देशविभाजन का मर्यादाकारी पर्वत) है। उसके चारों ओर इलावृत वर्ष है। जम्बूद्वीप से उत्तर क्रमशः नील, श्वेत और शृंगवान् नाम के तीन वर्ष-पर्वत और रम्यक, हिरण्मय तथा उत्तर-कुरु देश हैं। उनके दक्षिण और निषध, हेमकूट और हिमवान् नामक तीन वर्ष-पर्वत और हरिवर्ष, किंपुरुष तथा भारत—ये तीन वर्ष हैं। उनमें यह भारतवर्ष है। उसके नौ भेद[1] हैं—

१ इन्द्रद्वीप, २ कसेरुमान्, ३. ताम्रपर्ण, ४. गभस्तिमान्, ५. नागद्वीप, ६. सौम्य, ७ गन्धर्व, ८ वरुणद्वीप और ९. कुमारीद्वीप।

पञ्चशतानि जलं, पञ्च स्थलमिति विभागेन प्रत्येकं योजनसहस्रावधयो दक्षिणात्समुद्रादद्रिराजं हिमवन्तं यावत्परस्परमगम्यास्ते ।

इन नौ द्वीपों का पाँच सौ भाग जल और पाँच भाग स्थल है। इस प्रकार, प्रत्येक द्वीप की सीमा एक सहस्र योजन है। वे दक्षिण समुद्र से हिमालय तक फैले हुए हैं और परस्पर अगम्य हैं।

तान्येतानि यो जयति स सम्राडित्युच्यते । कुमारीपुरात्प्रभृति

---

१. भारतवर्ष के ये नो भेद वायु और विष्णुपुराणों के आधार पर लिखे गये हैं। दे० वायुपुराण, अ० ४५, श्लो० ७८-८५। विष्णुपुराण में नवम की गिनती में सागरसम्भव का नाम आया है, कुमारीद्वीप का नहीं।

बिन्दुसरोऽवधि योजनानां दशशती चक्रवर्त्तिक्षेत्रम् । तां विजयमानश्चक्रवर्त्ती भवति ।

इन सभी द्वीपों पर जो विजय प्राप्त करता है, वह सम्राट्[1] कहा जाता है। कुमारीद्वीप से बिन्दुसर तक एक सहस्र योजन का भाग चक्रवर्त्तिक्षेत्र[2] कहा जाता है। इस समूचे क्षेत्र पर विजय करनेवाला राजा चक्रवर्त्ती कहा जाता है। यह वह बिन्दुसर[3] है, जहाँ भगीरथ ने गंगावतरण के लिए तप किया था।

चक्रवर्त्तिचिह्नानि तु—

"चक्रं रथो मणिर्भार्या निधिरश्वो गजस्तथा ।
प्रोक्तानि सप्त रत्नानि सर्वेषां चक्रवर्त्तिनाम् ॥"[4]

चक्रवर्त्ती के चिह्न ये हैं -

"चक्र, रथ, मणि, भार्या, निधि, अश्व और गज—ये चक्रवर्त्तियों के सात चिह्न कहे जाते हैं।"

अत्र च कुमारीद्वीपे—

"विन्ध्यश्च पारियात्रश्च शुक्तिमानृक्षपर्वतः ।
महेन्द्रसह्यमलयाः सप्तैते कुलपर्वताः ॥"

"इस कुमारीद्वीप में सात कुलपर्वत हैं—१. विन्ध्य, २. पारियात्र, ३. शुक्तिमान्, ४. ऋक्ष, ५. महेन्द्र, ६. सह्य और ७. मलय।"

तत्र विन्ध्यादयः प्रतीतस्वरूपा मलयविशेषास्तु चत्वारः ।

इनमें विन्ध्य आदि छह पर्वतों के स्वरूप तो प्रसिद्ध ही हैं। मलयपर्वत के चार भेद हैं।

तेषु प्रथमः—

"आ मूलयष्टेः फणिवेष्टितानां
सचन्दनानां जननन्दनानाम् ।

---

१. 'कृत्स्नं जयति यो ह्येनं स सम्राडिति कथ्यते ।'—वायुपुराण, अ० ४५ । भारतवर्ष के इन नौ द्वीपों में वर्त्तमान लङ्का, सिलोन, मलाया, जावा, सुमात्रा, वर्मा आदि सम्मिलित थे ।

२. कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में चक्रवर्त्तिक्षेत्र की यही सीमा लिखी है—
"देशः पृथिवी, तस्यां हिमवत्समुद्रान्तरितमुदीचीनं योजनसहस्रपरिमाणमतिर्यक् चक्रवर्त्तिक्षेत्रम् ।" = "देश पृथिवी है, उसमें हिमवान् और समुद्र के मध्य का उदीचीन (उत्तरीय) एक हजार योजन परिमाण का सीधा भाग चक्रवर्त्ती-क्षेत्र है ।"

३. यह बिन्दुसर, प्रसिद्ध गंगोत्री स्थान से दो मील ऊपर है।

४. दे० वायुपुराण, अ० ४५, श्लो० ८८ और विष्णुपुराण, २-३ ।

ककोलकैलामरिचैर्युतानां
जातीतरूणां च स जन्मभूमिः ॥"

प्रथम मलय का उदाहरण—

"यह मलय पर्वत जड़ से शाखाओं तक सर्पों से लिपटे हुए एवं जनानन्ददायी चन्दनवृक्षों एवं कंकोल, इलायची, कालीमिर्च तथा जायफल के वृक्षों की जन्मभूमि है।"

द्वितीयः—

"यस्योत्तमां मौक्तिककामधेनुरुपत्यकामर्चति ताम्रपर्णी ।
रत्नेश्वरो रत्नमहानिधानं कुम्भोद्भवस्तं मलयं पुनाति ॥
तत्र द्रुमा विद्रुमनामधेया वंशेषु मुक्ताफलजन्म तत्र ।
मदोत्कटैः केसरिकण्ठनादैः स्फुटन्ति तस्मिन्घनसारवृक्षाः ॥"

दूसरे मलय का स्वरूप—

"इस मलयपर्वत की उपत्यका में, मुक्ता-कामधेनु (मोतियों को उत्पन्न करनेवाली) ताम्रपर्णी नदी प्रवाहित होती है। यह रत्नों का महान् आकर है और इसे अगस्त्य ऋषि पवित्र करते हैं, अर्थात् यहाँ अगस्त्य मुनि का आश्रम है। ऐसे इस मलय में विद्रुम नाम के वृक्ष उत्पन्न होते हैं। यहाँ उत्पन्न होनेवाले बाँसों में मोती उत्पन्न होते हैं और जब सिंह मदोन्मत्त होकर गर्जना करते हैं, तब यहाँ के कर्पूरवृक्ष फूट पड़ते या विकसित होते हैं।"

तृतीयः—

"विलासभूमिः सकलामराणां
पदं नृणां गौर्मुनिपुङ्गवस्य ।
सदाफलैः पुष्पलताप्रवालै-
राश्चर्यमूलं मलयः स तत्र ॥"

तीसरे मलय का स्वरूप—

"यह मलय, समस्त देवताओं की विलास-भूमि है। यह मनुष्यों का पवित्र स्थान और अगस्त्य का निवासस्थान है। वृक्ष, इसमें सदा फल प्रसव करते हैं और लताएं पुष्पों एवं पल्लवों से भरी रहती हैं।"

चतुर्थः—

"सा तत्र चामीकररत्नचित्रैः
प्रासादमालावलभीविटङ्कैः ।
द्वारार्गलाबद्धसुरेश्वराङ्का
लङ्केति या रावणराजधानी ॥"

चौथे मलय का स्वरूप—

"इस मलय पर रत्नजटित सुवर्णमय प्रासाद-पंक्तियों की वलभियों (धरनों) पर स्थित कपोतपालिकाओं (कबूतरखानों) से चमकती हुई रावण की लंका नामक राजधानी है, जिसके द्वार की अर्गला में बँधा देवराज इन्द्र का चिह्न विद्यमान है।"

प्रवर्त्तते कोकिलनादहेतुः
पुष्पप्रसूः पञ्चमजन्मदायी ।
तेभ्यश्चतुर्भ्योऽपि वसन्तमित्र-
मुदङ्मुखो दक्षिणमातरिश्वा ।

इन चारों मलय पर्वतों से कोकिल को मधुर ध्वनि प्रदान करनेवाला, अभिनव कुसुमों का प्रसव करनेवाला, पंचमध्वनि का जन्मदाता एवं वसन्त का मित्र दक्षिण पवन (मलयानिल) उत्तर की ओर प्रवर्त्तित होता है।

पूर्वापरयोः समुद्रयोर्हिमवद्विन्ध्ययोश्चान्तरमार्यावर्त्तः। तस्मिंश्चातुर्वर्ण्यं चातुराश्रम्यं च। तन्मूलश्च सदाचारः। तत्रत्यो व्यवहारः प्रायेण कवीनाम्।

पूर्व और पश्चिम समुद्र के तथा हिमालय और विन्ध्य के मध्य में वर्त्तमान देश का नाम आर्यावर्त्त[1] है। इसी आर्यावर्त्त में चार वर्णों और चार आश्रमों की व्यवस्था प्रचलित है। इन्हीं वर्णों और आश्रमों के आधार पर यहाँ सदाचार[2] का प्रचार है। प्रायः कवियों का व्यवहार आर्यावर्त्त की प्रथा के अनुकूल होता है।

तत्र वाराणस्याः पुरतः पूर्वदेशः[3]। यत्राङ्गवङ्गकलिङ्गकोसलतोसलोत्कलमगधमुद्गरविदेहनेपालपुण्ड्रप्राग्ज्योतिषतामलिप्तक[4]मलदमल्लवर्तकसुह्मब्रह्मोत्तरप्रभृतयो जनपदाः। बृहद्गृहलोहितगिरिचकोरदर्दुरनेपालकामरूपादयः पर्वताः। शोणलौहित्यौ नदौ। गङ्गाकरतोयाकपिशाद्याश्च नद्यः। लवलीग्रन्थिपर्णकागुरुद्राक्षाकस्तूरिकादीनामुत्पादः।

इस आर्यावर्त्त में वाराणसी से पूर्व दिशा की ओर पूर्व देश है, जिसमें अंग, वंग, कलिंग, कोसल, तोसल उत्कल, मगध, मुद्गर, विदेह, नेपाल, पुंड्र, प्राग्ज्योतिष,

---

१. तुल० आसमुद्रात्तु वै पूर्वादासमुद्रात्तु पश्चिमात्।
तयोरेवान्तरं गिर्योरार्यावर्त्तं विदुर्बुधाः॥—मनु० २-२२।

२. तुल० तस्मिन् देशे य आचारः पारम्पर्यक्रमागतः।
वर्णानां सान्तरालानां स सदाचार उच्यते॥—मनु० २।

३. राजशेखर ने भारत की चारों दिशाओं के जिन जनपदों की नामावली यहाँ दी है, उनका आधुनिक नामों के साथ विस्तृत परिचय परिशिष्ट प्रकरण में दिया गया है। वहीं देखिए।

४. ताम्रलिप्तक पाठ समीचीन है।

तामलिप्तक, मलद, मल्लवर्त्तक, सुह्म और ब्रह्मोत्तर आदि जनपद हैं। बृहद्गृह, लोहितगिरि, चकोर, ददुर, नेपाल, कामरूप आदि पर्वत हैं। शोण और लौहित्य नद हैं। गंगा, करतोया, कपिशा आदि नदियाँ हैं। लवली, ग्रन्थिपर्णक, अगुरु, द्राक्षा, कस्तूरी आदि उत्पन्न होते हैं।

माहिष्मत्याः परतो दक्षिणापथः। यत्र महाराष्ट्रमाहिषकाश्मकविदर्भकुन्तलक्रथकैशिकसूर्पारक[1]काञ्चीकेरलकावेरमुरलवानवासकसिंहलचोडदण्डकपाण्ड्यपल्लवगाङ्गनाशिक्य[2]कौङ्कणकोल्लगिरिवल्लरप्रभृतयो जनपदाः। विन्ध्यदक्षिणपादमहेन्द्रमलयमेकलपालमञ्जरसह्यश्रीपर्वतादयः पर्वताः। नर्मदातापीपयोष्णीगोदावरीकावेरीभैमरथीवेणाकृष्णवेणावञ्जुरातुङ्गभद्राताम्रपर्ण्युत्पलावतीरावणगङ्गाद्या नद्यः। तदुत्पत्तिर्मलयोत्पत्त्या व्याख्याता।

माहिष्मती के आगे दक्षिणापथ है, जिसमें महाराष्ट्र, माहिषक, अश्मक, विदर्भ, कुन्तल, क्रथकैशिक, सूर्पारक, कांची, केरल कावेर, मुरल, वानवासक, सिंहल, चोल, दंडक, पांड्य, पल्लव, गांग, नाशिक्य, कौंकण, कोल्लगिरि, वल्लर आदि जनपद हैं। विन्ध्य का दक्षिण भाग, महेन्द्र, मलय, मेकल, पाल मञ्जर, सह्य, श्रीपर्वत आदि पर्वत हैं। नर्मदा, तापी, पयोष्णी, गोदावरी, कावेरी, भीमरथी, वेणा, कृष्ण वेणा, वंजुरा, तुंगभद्रा, ताम्रपर्णी, उत्पलावती, रावणगंगा आदि नदियाँ हैं। मलय में उत्पन्न होनेवाली वस्तुएँ दक्षिणापथ में उत्पन्न होनेवाले पदार्थ ही हैं। जैसे चन्दन, इलायची, कालीमिर्च, कपूर, मोती आदि।

देवसभायाः परतः पश्चाद्देशः। तत्र देवसभसुराष्ट्रदशेरकत्रवणभृगुकच्छकच्छीयानर्त्तार्बुदब्राह्मणवाहयवनप्रभृतयो जनपदाः। गोवर्धनगिरिनगरदेवसभमाल्यशिखरार्बुदादयश्च पर्वताः। सरस्वतीश्वभ्रवतीवार्त्तघ्नीमहीहिडिम्बाद्या नद्यः। करीरपीलुगुग्गुलुखर्जूरकरभादीनामुत्पादः।

देवसभा (देवास) के आगे पश्चिम देश है। इसमें देवसभ, सुराष्ट्र, दशेरक, त्रवण भृगुकच्छ, कच्छीय, आनर्त्त, अबुद, ब्राह्मणवाह, यवन आदि जनपद हैं। गोवर्धन, गिरिनगर, देवसभ, माल्यशिखर, अबुद आदि पर्वत हैं। सरस्वती, श्वभ्रवती, वार्त्तघ्नी, मही, हिडिम्बा आदि नदियाँ हैं। करीर, पीलु, गुग्गुलु, खजूर, करभ (ऊँट) आदि— इस देश में उत्पन्न होनेवाली वस्तुएँ हैं।

पृथूदकात्परतः उत्तरापथः। यत्र शककेकयवोकाणहूणवाणायुजकाम्बोजवाह्लीकवह्लवलिम्पाककुलूतकीरतङ्गणतुषारतुरुष्कबर्बरहरहूरवहुहुकसहुड-

---

१ 'शूर्पारक' पाठ समीचीन है।

२. 'नासिक्य' पाठ समीचीन है।

हंसमार्गरमठकरकण्ठप्रभृतयो जनपदाः[1] । हिमालयकलिन्देन्द्रकीलचन्द्राचलादयः पर्वताः । गङ्गासिन्धुसरस्वतीशतद्रुचन्द्रभागायमुनेरावतीवितस्ताविपाशाकुहूदेविकाद्या नद्यः । सरलदेवदारुद्राक्षाकुङ्कुमचमराजिनसौवीरस्रोतोऽञ्जनसैन्धववैदूर्यतुरङ्गाणामुत्पादः ।

पृथूदक से आगे उत्तरापथ है, जिसमें शक, केकय, वोक्काण, हूण, वाणायुज, काम्बोज, वाहीक, वह्लव, लिपाक, कुलूत, कीर, तंगण, तुषार, तुरुष्क, बर्बर, हरहूरव, हुहुक, सहुड, हंसमार्ग, रमठ और करकण्ठ आदि जनपद हैं। हिमालय, कलिंद इन्द्रकील, चन्द्राचल आदि पर्वत हैं। गंगा, सिन्धु, सरस्वती, शतद्रु चन्द्रभागा, यमुना, इरावती, वितस्ता, विपाशा, कुहू, देविका आदि नदियाँ हैं। इन जनपदों में उत्पन्न होनेवाली वस्तुएँ ये हैं—सरल, देवदारु, द्राक्षा, कुंकुम, चमर, अजिन, सौवीर, स्रोतोऽञ्जन, सैन्धव, वैदूर्य और अश्व।

तेषां मध्ये मध्यदेश इति कविव्यवहारः । न चाऽयं नानुगन्ता शास्त्रार्थस्य ।

इन देशों के मध्य में मध्यदेश[2] है—यह कवियों का व्यवहार है। यह केवल कवियों का ही व्यवहार नहीं; किन्तु शास्त्रीय अर्थ के अनुकूल भी है।

यदाहुः—

"हिमवद्विन्ध्ययोर्मध्यं यत्प्राग्विनशनादपि ।
प्रत्यगेव प्रयागाच्च मध्यदेशः प्रकीर्त्तितः ॥"[3]

जैसा कि शास्त्रों में कहा है—

"हिमालय और विन्ध्यांचल के मध्य में, विनशन से पूर्व और प्रयाग से पश्चिम मध्यदेश कहा जाता है।"

तत्र च ये देशाः पर्वताः सरितो द्रव्याणामुत्पादश्च तत्प्रसिद्धिसिद्धमिति न निर्दिष्टम् ।

मध्यदेश में जो जनपद, पर्वत, नदियाँ और उत्पन्न होनेवाले पदार्थ हैं; वे प्रसिद्ध हैं। अतः, उनका नामनिर्देश नहीं किया गया।

---

१. आश्चर्य है, राजशेखर ने इन जनपदों में कश्मीर का कहीं भी नामोल्लेख नहीं किया है, जबकि उसके समय में वह प्रधान विद्याक्षेत्र था।

२. इस देशविभाग के अनुसार मध्यदेश की सीमा पूर्व में वाराणसी, दक्षिण में माहिष्मती, पश्चिम में देवसभा और उत्तर में पृथूदक होती है, जो उस समय की भौगोलिक स्थिति के अनुकूल दीखती है।

३. दे० मनुस्मृति, अध्याय २।

द्वीपान्तराणां ये देशाः पर्वताः सरितस्तथा।
नातिप्रयोज्याः कविभिरिति गाढं न चिन्तिताः॥

इनके अतिरिक्त दूसरे द्वीपों के जो देश (जनपद), पर्वत तथा नदियाँ हैं, उनका कवियों के लिए अधिक उपयोग न होने के कारण, उनपर विशेष विचार नहीं किया गया।

'विनशनप्रयागयोर्गङ्गायमुनयोश्चान्तरमन्तर्वेदी। तदपेक्षया दिशो विभजेत' इति आचार्याः। तत्रापि महोदयं मूलमवधीकृत्य इति यायावरीयः।

'विनशन और प्रयाग के एवं गंगा और यमुना के बीच का देश अन्तर्वेदी कहा जाता है। इसी अन्तर्वेदी से दिशाओं का विभाग करना चाहिए'—यह आचार्यों का मत है। यायावरीय का मत है कि अन्तर्वेदी में भी महोदय, अर्थात् कान्यकुब्ज (कन्नौज) को अवधि मानकर दिग्विभाग करना चाहिए।

'अनियतत्वाद्दिशामनिश्चितो दिग्विभाग' इत्येके। तथा हि यो वामनस्वामिनः पूर्वः ब्रह्मशिलायाः पश्चिमः, यो गाधिपुरस्य दक्षिणः स कालप्रियस्योत्तर इति।

कुछ लोगों का मत है कि दिशाएँ अनियत हैं। अतः, उनका विभाग भी अनिश्चित है। जैसे, जो देश वामनस्वामी से पूर्व है, वह ब्रह्मशिला से पश्चिम है और जो देश कन्नौज से दक्षिण है, वह कालप्रिय से उत्तर है।[1]

'अवधिनिबन्धनमिदं रूपमितरत्त्वनियतमेव' इति यायावरीयः।

यायावरीय राजशेखर का उत्तर है कि हमने जो ऊपर दिशाओं का विभाग किया है, वह किसी एक स्थान को अवधि मानकर मर्यादा-प्रदर्शन के लिए किया है। यों तो दिग्विभाग अनियत ही है।

'प्राच्यवाचीप्रतीच्युदीच्यः चतस्रो दिश' इत्येके।

'प्राची, अवाची, प्रतीची और उदीची ये चार दिशाएँ हैं'—ऐसा कुछ लोगों का मत है।

तदाहुः—

"चतसृष्वपि दिक्षु रणे द्विषतः प्रति येन चित्रचरितेन।
विहितमपूर्वमदक्षिणमपश्चिममनुत्तरं कर्म॥"

---

१. कालप्रिय, वामनस्वामी, ब्रह्मशिला और महोदय—ये चारों कन्नौज की चार सीमाएँ (चौहद्दी) हैं। इनका परिचय परिशिष्ट प्रकरण में देखिए।

जैसा कि कहा है—

"जिस विचित्र चरित्रशाली राजा ने, रणक्षेत्र में, चारों दिशाओं में शत्रुओं के प्रति ऐसा कर्म किया कि वह अ-पूर्व, अ-दक्षिण, अ-पश्चिम और अनुत्तर था।" यहाँ विरोध का आभास होता है। उसका परिहार इस प्रकार है—अ-पूर्व = जैसा पहले किसी ने नहीं किया था; अ-दक्षिण = सरलता से रहित, क्रूर; अ-पश्चिम = भविष्य में भी जिसे कोई न कर सके; और अनुत्तर, अर्थात् उत्तर-रहित (ला-जवाब)।

इस पद्य में चार दिशाओं का उल्लेख किया गया है।

'ऐन्द्री, आग्नेयी, याम्या, नैर्ऋती, वारुणी, वायव्या, कौवेरी, ऐशानी चाष्टौ दिशः' इत्येके।

कुछ विद्वानों का मत है कि दिशाएँ आठ हैं। जैसे— १. ऐन्द्री, २. आग्नेयी, ३. याम्या, ४. नैर्ऋती, ५ वारुणी, ६ वायव्या, ७. कौवेरी और ८ ऐशानी। ये सभी नाम पूर्व आदि दिशाओं के क्रमशः दिक्पालों के नाम पर हैं। इन्द्र, अग्नि, यम, निर्ऋति, वरुण, वायु, कुबेर और ईशान क्रम से पूर्व आदि दिशाओं के स्वामी या दिक्पाल कहलाते हैं।

तदाहुः—

"एकं ज्योतिर्दृशौ द्वे त्रिजगति गदितान्यब्जजास्यैश्चतुर्भि-
र्भूतानां पञ्चमं यान्यलमृतुषु तथा षट्सु नानाविधानि।
युष्माकं तानि सप्त त्रिदशमुनिनुतान्यष्टदिग्भाञ्जि भानो-
र्यान्ति प्राह्णे नवत्वं दश दधतु शिवं दीधितानां शतानि ॥"[1]

उदाहरण—

"तीनों जगत् के एकमात्र ज्योतिरूप, विष्णु के दो नेत्ररूप और भूतों में पाँचवें, अर्थात् तेजस्वरूप सूर्य की, ब्रह्मा के चार मुखों द्वारा स्तुति की गई छहों ऋतुओं में भिन्न-भिन्न रूप धारण करनेवाली, सात देवर्षियों द्वारा प्रणाम की गई, आठों दिशाओं में व्याप्त होनेवाली और प्रत्येक प्रभात काल में नव (नवीन) होनेवाली दस सौ किरणें, आपके कल्याण को सुरक्षित करें।"

इस सूर्यस्तुति में आठ दिशाओं का निर्देश किया गया।

'ब्राह्मी नागीया च द्वे ताभ्यां सह दशैता' इत्यपरे।

दूसरा मत है कि 'इन आठों के अतिरिक्त ब्राह्मी (ऊर्ध्व) और नागीया (अधः)—ये दो दिशाएँ और भी हैं, जिन्हें मिलाकर दस दिशाएँ होती हैं।'

तदाहुः—

"दशदिक्तटपर्यन्तसीमसङ्कटभूमिके।
विषमा स्थूललक्ष्यस्य[2] ब्रह्माण्डग्रामके स्थितिः ॥"

---

१. दे० मयूरकवि : सूर्यशतक, १३।

२. स्थूललक्ष्य का अर्थ है—अत्यन्त दानी।

जैसे—

"अत्यन्त दानी पुरुष के लिए दस दिशाओं की पर्यन्त सीमाओं से संकुचित, अतएव स्वल्प भूमिवाले ब्रह्माण्ड-रूपी छोटे-से ग्राम में निवास करना कठिन है।"

इस उदाहरण में दस दिशाओं का उल्लेख किया गया है।

सर्वमस्तु, विवक्षापरतन्त्रा हि दिशामियत्ता। तत्र चित्रास्वात्यन्तरे प्राची, तदनुसारेण प्रतीची, ध्रुवेणोदीची, तदनुसारेणावाची, अन्तरेषु विदिशः, ऊर्ध्वं ब्राह्मी, अधस्तान्नागीयेति[1]।

अस्तु; दिशाएँ चार हों, आठ हों या दस हों—इसमें कुछ भी मतभेद नहीं; क्योंकि दिशाओं की संख्या, वक्ता या कवि की इच्छा के अधीन है। निष्कर्ष यह कि उनमें चित्रा और स्वाती नक्षत्रों के मध्य में पूर्व दिशा है और उसी के अनुसार उसके सामने पश्चिम। ऐसे ही ध्रुव नक्षत्र से युक्त दिशा उत्तर है, उसी के अनुसार सामने की दिशा दक्षिण। दिशाओं के मध्य के चार कोन विदिशा कहे जाते हैं। ऊपर आकाश, ब्राह्मी दिशा और नीचे पाताल, नागीया दिशा है।

द्विविधो व्यवहारः कवीनां प्राक्सिद्धो विशिष्टस्थानावधिसाध्यश्च। तत्र प्राक्सिद्धे प्राची—

दिशाओं के विषय में कवियों की व्यवहार-परम्परा दो प्रकार की है। एक तो पूर्वसिद्ध, जैसा कि ऊपर कहा गया है और दूसरे किसी विशिष्ट स्थान को अवधि मानकर। इन दोनों प्रकारों में पूर्वसिद्ध व्यवहारानुसार प्राची (पूर्वदिशा) का वर्णन—

"द्वित्रैर्व्योम्नि पुराणमौक्तिकमणिच्छायैः स्थितं तारकै-
र्ज्योत्स्नापानभरालसेन वपुषा सुप्ताश्चकोराङ्गनाः।
यातोऽस्ताचलचूलमुद्वसमधुच्छत्रच्छविश्चन्द्रमाः
प्राची बालबिडाललोचनरुचां जाता च पात्रं ककुप्॥"[2]

"आकाश में, पुराने मोतियों के समान कान्तिहीन दो-तीन नक्षत्र शेष रह गये हैं, रात-भर चन्द्रिका-पान करने से अलसाई हुई चकोरियाँ सो गई हैं। मधु (शहद) के निकल जाने से म्लान (मुरझाये हुए) एवं सूखे मधुमक्खियों के छत्ते के समान मलिन चन्द्रमा अस्ताचल के शिखर पर चला गया और प्राची दिशा, बिल्ली के बच्चे की आँखों के समान (कुछ लाल और कुछ पीली) कान्ति धारण कर रही है।"

---

१. दे० कात्यायनसूत्र पर कर्कभाष्य, २।
२. दे० विद्धशालभञ्जिका, १-२।

दक्षिणा—

"दक्षिणो दक्षिणामाशां यियासुः सोऽधिकं बभौ।
जिहासुर्दक्षिणामाशां भगवानिव भास्करः॥"

दक्षिण दिशा—

"दक्षिण दिशा की ओर जानेवाला वह उदार राजा, इस प्रकार शोभित हो रहा था, जिस प्रकार दक्षिण दिशा को छोड़ने की इच्छा करनेवाला भगवान् भास्कर शोभित होता है। अर्थात्, दक्षिण अयन में सूर्य का तेज मन्द पड़ जाता है और उसे छोड़ने पर उत्तर अयन में बढ़ता है। इसी प्रकार, उसके विपरीत राजा का प्रताप दक्षिण दिशा की ओर अधिक बढ़ने लगा।"

पश्चिमा—

"पश्य पश्चिमदिगन्तलम्बिना
निर्मितं मितकथे विवस्वता।
दीर्घया प्रतिमया सरोम्भस-
स्तापनीयमिव सेतुबन्धनम्॥"

पश्चिम दिशा—

"हे मितभाषिणी, देखो, पश्चिम दिशा के सीमान्त में लटकते हुए सूर्य ने, सरोवरों के जल में प्रतिबिम्बित लम्बी और कुछ रक्त किरणों द्वारा मानों सोने का सेतु बनाया है।"

उत्तरा—

"अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा
हिमालयो नाम नगाधिराजः।
पूर्वापरौ तोयनिधी वगाह्य
स्थितः पृथिव्या इव मानदण्डः॥"[1]

उत्तर दिशा—

"उत्तर दिशा में, देवतास्वरूप हिमालय नाम का प्रसिद्ध शैलराज है, जो पूर्व और पश्चिम समुद्रों में अवगाहन (प्रवेश) कर पृथ्वी के मानदण्ड के समान स्थित है।"

विशिष्टस्थानावधौ तु दिग्विभागे पूर्वपश्चिमौ यथा—

किसी विशिष्ट स्थान को अवधि मानकर दिशाओं का विभाग करने पर पूर्व और पश्चिम दिशा का वर्णन। यथा—

१, दे० कुमारसम्भव, १-१।

"यादांसि हे चरत सङ्गतगोत्रतन्त्रं
पूर्वेण चन्दनगिरेरुत पश्चिमेन ।
नो चेन्निरन्तरधराधरसेतुसूति
राकल्पमेष न विरंस्यति वो वियोगः ॥"[1]

"हे जलजन्तुओ ! अपने-अपने परिवार के साथ चन्दनगिरि (मलय) के पूर्व या पश्चिम दोनों में से किसी एक भाग में विचरण करो। नहीं तो, इन पर्वतों के निरन्तर सेतुबंधन के कारण तुम्हारा पारस्परिक वियोग समाप्त न होगा। अर्थात् , समुद्र में पुल बँध जानेपर दोनों ओर के जलचर फिर परस्पर मिल न सकेंगे। इधर के इधर और उधर के उधर ही रह जायेंगे।"

यहाँ चन्दनगिरि को अवधि मानकर पूर्व और पश्चिम का वर्णन किया गया है।

दक्षिणोत्तरौ यथा—

"काञ्च्याः पुरो दक्षिणदिग्विभागे
तथोत्तरस्यां दिशि वारिराशेः ।
कर्णान्तचक्रीकृतचारुचापो
रत्या समं साधु वसत्यनङ्गः ॥"

दक्षिण और उत्तर दिशा का विभाग। यथा—

"कांची-नगरी के सामने दक्षिण भाग में, तथा समुद्र के उत्तर भाग में, सुन्दर धनुष की प्रत्यञ्चा को कानों तक ताने हुए कामदेव, रति के साथ आनन्दपूर्वक रहता है।"

यहाँ कांची और समुद्र को अवधि मानकर दक्षिण और उत्तर दिशाओं का वर्णन किया गया है।

उत्तरादावप्युत्तरदिगभिधानं, अनुत्तरादावपि उत्तरदिगभिधानम् ।

उत्तर आदि दिशा में भी उत्तर दिशा का वर्णन होता है और इसी प्रकार उत्तरभिन्न अन्य दिशाओं में भी उत्तर दिशा का वर्णन होता है। अर्थात्, दिशाओं का वर्णन आपेक्षिक होता है, उसकी कोई निश्चित अवधि नहीं है, वे तो स्थान-विशेष को अवधि मानकर कल्पित की जाती हैं।

तयोः प्रथमम्—

"तत्रागारं धनपतिगृहादुत्तरेणास्मदीयं
दूराल्लक्ष्यं सुरपतिधनुश्चारुणा तोरणेन ।
यस्योद्याने कृतकतनयः कान्तया वर्द्धितो मे
हस्तप्राप्यः स्तवकविनतो बालमन्दारवृक्षः ॥"[2]

---

१. दे० राजशेखर : बालरामायण, ७-४२ ।
२. दे० मेघदूत, उत्तरमेघ, १२ ।

उनमें प्रथम उत्तर दिशा में उत्तर दिशा का वर्णन—

"हे मेघ! उस अलकापुरी में धनपति कुवेर के गृह से उत्तर की ओर मेरा घर है, जो रंग-विरंगे, अतएव सुन्दर धनुषाकार प्रधान द्वार के कारण दूर से ही दीखता है, जिसके गृहोद्यान में मेरी पत्नी द्वारा पुत्र के समान पाला हुआ और हाथों से छूने योग्य पुष्प-गुच्छों से झुका हुआ छोटा-सा मन्दार का वृक्ष है।"

यहाँ उत्तर दिशा में स्थित अलका नगरी में भी उत्तर दिशा का उल्लेख किया गया है।

द्वितीयम्—

"सह्याद्रेरुत्तरे भागे यत्र गोदावरी नदी।
पृथिव्यामिह कृत्स्नायां स प्रदेशो मनोरमः॥"

द्वितीय, दक्षिण दिशा में उत्तर दिशा का वर्णन—

"सह्य पर्वत के उत्तर भाग में, जहाँ गोदावरी नदी है, वह प्रदेश, समस्त पृथ्वी में सबसे अधिक मनोरम है।"

एवं दिगन्तरेष्वपि। तत्र देशपर्वतनद्यादीनां दिशां च यः क्रमस्तं तथैव निबध्नीयात्। साधारणं तूभयत्र लोकप्रसिद्धितश्च।

इसी प्रकार, अन्य दिशाओं में भी ऐसा व्यवहार होता है। कवि को चाहिए कि उन-उन देशों में जिन-जिन पर्वतों और नदियों आदि का तथा दिशाओं का जो क्रम बताया गया है, उसी के अनुसार रचनाओं में उनका उल्लेख करे। अर्थात्, इन वस्तुओं का वर्णन स्थिर स्थिति के अनुसार ही करना चाहिए और साधारण क्रमस्वरूप का वर्णन दोनों रूपों में, शास्त्र एवं लोक-व्यवहार के अनुसार, होना चाहिए।

तद्वद्वर्णनियमः। तत्र पौरस्त्यानां श्यामो वर्णः, दाक्षिणात्यानां कृष्णः, पाश्चात्यानां पाण्डुः, उदीच्यानां गौरः, मध्यदेश्यानां कृष्णः श्यामो गौरश्च।

इसी प्रकार, भिन्न-भिन्न दिशाओं और देशों में रंग का भी नियम है। उसमें पूर्व दिशा में रहनेवालों का श्याम वर्ण होता है। दाक्षिणात्यों का कृष्ण वर्ण है। पाश्चात्यों का पांडु वर्ण, उत्तरदेशवासियों का गौर वर्ण तथा मध्यदेशवासियों के कृष्ण, श्याम एवं गौर तीनों वर्ण होते हैं।

पौरस्त्यश्यामता—

"श्यामेष्वङ्गेषु गौडीनां स्त्रहारैकहारिषु।
चक्रीकृत्य धनुः पौष्पमनङ्गो वल्गु वल्गति॥"

पूर्वदेशवासियों की श्यामता—

"कामदेव, सूत्रों में गुथे हुए हारों से आकर्षक गौड़ देश की स्त्रियों के श्याम अंगों पर, पुष्प-धनुष को चढ़ाकर चतुरता से प्रहार करता है।"

दाक्षिणात्यकृष्णता—

"इदं भासां भर्तुर्द्रुतकनकगोलप्रतिकृति
क्रमान्मन्दज्योतिर्गलति नभसो बिम्बवलयम् ।
अथैष प्राचीनः सरति मुरलीगण्डमलिन-
स्तरुच्छायाचक्रैः स्तबकित इव ध्वान्तविसरः ॥"

दाक्षिणात्यों की कृष्णता—

"यह गलाये हुए सोने के गोले के समान वलयाकार सूर्यबिम्ब, क्रमशः मन्द-ज्योति होता हुआ आकाश से नीचे की ओर गिर रहा है और उधर पूर्व दिशा से, मुरल-देश की महिलाओं के कपोलस्थल के समान मलिन और वृक्षों के छायाचक्र से गुच्छ-जैसा बना हुआ अन्धकार का प्रसार क्रमशः बढ़ता जा रहा है।"

पाश्चात्यपाण्डुता—

"शाखास्मेरं मधुकवलनाकेलिलोलेक्षणानां
भृङ्गस्त्रीणां बकुलमुकुलं कुन्तलीभावमेति ।
किं चेदानीं यवनतरुणीपाण्डुगण्डस्थलीभ्यः
कान्तिः स्तोकं रचयति पदं नागवल्लिच्छदेषु ॥"

पाश्चात्यों की पाण्डुता—

"शाखाओं पर खिली हुई बकुल-पुष्प की कली, मधुपान की केलि के लिए चपल नेत्रोंवाली भृङ्ग-रमणियों (भ्रमरियों) के केश के समान प्रतीत होती है और यवनी-तरुणियों के पांडु कपोलों की कान्ति, पान के पत्तों पर कुछ-कुछ स्थान प्राप्त कर रही है। अर्थात्, पान के पत्ते पककर पीले-से हो रहे हैं।"

उदीच्यगौरता—

"पुष्पैः सम्प्रति काञ्चनारतरवः प्रत्यङ्गमालिङ्गिताः
वाह्लीकीदशनव्रणारुणतरैः पत्रैरशोकोऽञ्चितः ।
जातं चम्पकमप्युदीच्यललनालावण्यचौर्यक्षमं
माञ्जिष्ठैर्मुकुलैश्च पाटलतरोरन्यैव काचिल्लिपिः ॥"[1]

उत्तरदेशवासियों की गौरता—

"इस वसन्तकाल में, सम्प्रति पुष्पों ने कचनार वृक्ष के प्रत्येक अंग का गाढ आलिंगन कर लिया है। अशोक, वाह्लीक-रमणी के दन्तक्षत के समान अरुण वर्ण पत्तों से

१. यह पद्य विद्धशालभञ्जिका (१-२५) और बालरामायण (५-३८) में कुछ पाठभेद के साथ है।

शोभित हो रहा है। चम्पा भी उत्तर देश की ललनाओं के लावण्य की चोरी करने में समर्थ हो रही है और गुलाब की मजीठी रंगवाली कलियों की शोभा तो कुछ और ही हो रही है।"

यथा वा—

"काश्मीरीगात्रलेखासु लोलल्लावण्यवीचिषु।
द्रावयित्वेव विन्यस्तं स्वर्णं षोडशवर्णकम्॥"

दूसरा उदाहरण—

"ललकते हुए लावण्य की लहरों से ललित कश्मीरी कामिनियों के शरीर में, मानों षोडशवर्णक (विशुद्ध) सोना गलाकर लेपन किया गया है।"

मध्यदेश्यकृष्णता यथा—

"युधिष्ठिरक्रोधवह्नेः कुरुवंशैकदाहिनः।
पाञ्चालीं ददृशुः सर्वे कृष्णां धूमशिखामिव॥"

मध्यदेशवासियों की कृष्णता—

"सभा में उपस्थित सभी व्यक्तियों ने कृष्णवर्ण पांचाली (द्रौपदी) को कुरुकुल का एकमात्र नाश करनेवाली युधिष्ठिर की क्रोधाग्नि से उठी हुई काली धूमशिखा के समान देखा।"

तद्वन्मध्यदेश्यश्यामता। न च कविमार्गे श्यामकृष्णयोः पाण्डु-गौरयोर्वा महान्विशेष इति कविसमयेष्ववोचाम।

इसी प्रकार, मध्यदेशवासियों की श्यामता भी समझनी चाहिए। कवि-सम्प्रदाय में श्याम और कृष्ण का एवं पाण्डु और गौर का अधिक भेद नहीं है, यह हम कविसमय के विवेचन में कह आये हैं।

मध्यदेश्यगौरता—

"तव नवनवनीतपिण्डगौरे प्रतिफलदुत्तरकोसलेन्द्रपुत्र्याः।
अवगतमलिके मृगाङ्कबिम्बं मृगमदपत्रनिभेन लाञ्छनेन॥"

मध्यदेशवासियों की गौरता—

"हे उत्तरकौशलेन्द्रपुत्रि! तुम्हारे नवीन (ताजा) नवनीत-पिंड के समान गौर ललाट में प्रतिबिम्बित चन्द्रबिम्ब कस्तूरी-रचित पत्ररचना के समान मृगलांछन से पहचाना गया।"

विशेषस्तु पूर्वदेशे राजपुत्र्यादीनां गौरः पाण्डुर्वा वर्णः। एवं दक्षिणदेशेऽपि।

पूर्वदेश की राजपुत्रियों तथा विशिष्ट व्यक्तियों में गौर या पाण्डु वर्ण का वर्णन करना चाहिए। इसी प्रकार, दक्षिण देश के राजवंशज व्यक्तियों के भी गौर या पाण्डु वर्ण का उल्लेख विशेष रूप से ज्ञातव्य है।

तत्र प्रथमः—

"कपोले जानक्याः करिकलभदन्तद्युतिमुपि
स्मरस्मेरः स्फारोड्डमरपुलके वक्त्रकमलम्।
मुहुः पश्यञ्छृण्वन्रजनिचरसेनाकलकलं
जटाजूटग्रन्थिं द्रढयति रघूणां परिवृढः॥"[१]

प्रथम, पूर्वदेश की राजपुत्री के वर्णन में गौर वर्ण का उदाहरण—

"हस्तिशावक के दाँत के समान चिकने और चमकते हुए तथा कामोद्रेक के कारण दीप्त तथा प्रचुर रोमाञ्चयुक्त जानकी के कपोल में, अपने मुख को बार-बार देखते हुए रामचन्द्र, रजनीचरों (राक्षसों) की सेना के कोलाहल को सुनकर जटाजूट की ग्रंथि कसकर बाँधने लगे।"

यहाँ पूर्वदेशीय मैथिली के कपोलों का हाथीदाँत के समान शुभ्र होना उल्लिखित है।

द्वितीयः—

"तासां माधवपत्नीनां सर्वासां चन्द्रवर्चसाम्।
शब्दविद्येव विद्यानां मध्ये जज्वाल रुक्मिणी॥"

द्वितीय, दक्षिणदेश की राजपुत्री की गौरता—

"कृष्ण की, चन्द्रमा-सी उज्ज्वल उन सभी पत्नियों में रुक्मिणी इस प्रकार चमकती थी, जिस प्रकार समस्त विद्याओं में शब्दविद्या।"

यहाँ दाक्षिणात्य राजपुत्री रुक्मिणी का गौरवर्ण वर्णित किया गया है।

एवमन्यदपि यथासम्भवमभ्यूह्यम्।

इसी प्रकार, कवियों को यथासम्भव अन्यान्य कल्पनाएँ स्वयं भी कर लेनी चाहिए।

निगदितनयविपरीतं देशविरुद्धं वदन्ति विद्वांसः।
तत्परिहार्यं यत्नात्तदुदाहृतयस्तु दोषेषु॥

हमने जो देश-विभाग का निर्देश किया है, उसके विपरीत तथा अन्य विद्वान् जिसे देश-विरुद्ध कहते हैं, उसका भी परित्याग करना चाहिए। क्योंकि, ऐसी रचनाओं की गणना दोषरूप में की जाती है। अर्थात्, वे दोषों का उदाहरण बनती हैं।

---

१. दे० हनुमन्नाटक, ३-५०।

इत्थं देशविभागो मुद्रामात्रेण सूत्रितः सुधियाम् ।
यस्तु जिगीषत्यधिकं पश्यतु मद्भुवनकोशमसौ ॥

इति राजशेखरकृतौ काव्यमीमांसायां कविरहस्ये प्रथमेऽधिकरणे
देशविभागः सप्तदशोऽध्यायः ।

इस प्रकार, हमने केवल संकेतमात्र से देश-विभाग को सूत्ररूपेण प्रदर्शित किया है। जो इससे अधिक जानना करना चाहें, वे हमारे रचित भुवनकोश[1] का अध्ययन करें।

सप्तदश अध्याय समाप्त

१. 'भुवनकोश' नाम की एक दूसरी रचना राजशेखर की है, जो अभी तक अप्राप्य है। इसे भूमिका में संकेतित किया गया है। इस उक्ति से व्यक्त होता है कि इस कविरहस्य के आरम्भ में कवि ने अष्टादशाधिकरणी रचना में 'भुवनकोश' नाम से एक प्रकरण की जो प्रतिज्ञा की थी, वह इस प्रस्तुत में नहीं है, उसे उसने एक पृथक् पुस्तक के रूप में लिखा था।

अष्टादशोऽध्यायः कालविभागः

अष्टादश अध्याय : काल-विभाग[1]

काष्ठा निमेषा दश पञ्च चैव त्रिंशच्च काष्ठाः कथिताः कलेति ।
त्रिंशत्कलश्चैव भवेन्मुहूर्त्तस्तैस्त्रिंशता रात्र्यहनी समेतौ ॥

पन्द्रह निमेषों की एक काष्ठा[2], तीस काष्ठाओं की एक कला, तीस कलाओं का एक मुहूर्त्त और तीस मुहूर्त्तों का एक अहोरात्र या दिन-रात होता है। चैत्र और आश्विन—इन दो मासों में रात और दिन बराबर होते हैं, अर्थात् पन्द्रह मुहूर्त्तों का दिन और पन्द्रह मुहूर्त्तों की रात्रि होती है।

ते च चैत्राश्वयुजमासयोर्भवतः । चैत्रात्परं प्रतिमासं मौहूर्त्तिकी दिवसवृद्धिः निशाहानिश्च त्रिमास्याः, ततः परं मौहूर्त्तिकी निशावृद्धिः दिवसहानिश्च । आश्वयुजात्परतः पुनरेतदेव विपरीतम् ।

और, वे रात-दिन चैत्र और आश्विन मास में बराबर होते हैं, किन्तु चैत्र के बाद, अर्थात् वैशाख से प्रारम्भ कर तीन महीनों तक प्रतिमास दिन में एक-एक मुहूर्त्त की वृद्धि होती है और रात्रि की उतनी ही हानि होती है। उसके पश्चात् रात्रि एक-एक मुहूर्त्त प्रतिमास बढ़ती है और दिन घटता है। आश्विन में दोनों—रात और दिन—समान हो जाते हैं। आश्विन के अनन्तर तीन महीनों तक रात्रि प्रतिमास एक-एक मुहूर्त्त बढ़ती है और दिन उतना ही घटता जाता है। तीन महीनों के बाद दिन, पुनः एक-एक मुहूर्त्त प्रतिमास के क्रम से बढ़ता है और रात, उसी क्रम से घटती है। तीसरे मास चैत्र में पुनः दोनों बराबर हो जाते हैं।

राशितो राश्यन्तरसङ्क्रमणमुष्णभासो मासः, वर्षादि दक्षिणायनं, शिशिराद्युत्तरायणं, द्व्ययनः संवत्सर इति सौरं मानम् ।

सूर्य का एक राशि से दूसरी राशि में जाना मास या महीना कहा जाता है। वर्षा ऋतु से छह मासों तक दक्षिणायन और शिशिर ऋतु से छह मासों तक उत्तरायण

---

१. यह प्रकरण कौटिलीय अर्थशास्त्र के 'देशकालमान' नामक प्रकरण (२-२०-३८) से मिलता है। वायुपुराण में भी इस प्रकार कालमान का निर्देश है। वायुपुराण और अर्थशास्त्र के कालमान में कुछ अन्तर है। राजशेखर का आधार वायुपुराण है। राजशेखर ने प्रथम श्लोक वायुपुराण से ही उद्धृत किया है।—दे० वायुपुराण, अ० ५०, श्लो० १६६।

२. अर्थशास्त्र के अनुसार पाँच निमेषों की एक काष्ठा होती है, वायुपुराण के अनुसार पन्द्रह निमेषों की और अमरसिंह के अनुसार अट्ठारह निमेषों की।

होता है। दो अयनों का एक संवत्सर या वर्ष होता है। इस प्रकार, यह काल-गणना सौर मान से की गई है।

पञ्चदशाहोरात्रः पक्षः। वर्द्धमानसोमः शुक्लो, वर्द्धमानकृष्णिमा कृष्ण इति पित्र्यं मासमानम्। अमुना च वेदोदितः कृत्स्नोऽपि क्रियाकल्पः।

पन्द्रह दिन और रात्रि का एक पक्ष होता है। जिस पक्ष में चन्द्रमा की वृद्धि होती है, वह शुक्लपक्ष है और जिस पक्ष में अन्धकार बढ़ता है, उसे कृष्णपक्ष कहते हैं। यह पितरों का मास-मान है। वेदों द्वारा कही गई यज्ञ आदि समस्त क्रियाएँ इसी मान के आधार पर होती हैं।

पित्र्यमेव व्यत्ययितपक्षं चान्द्रमसम्। इदमार्यावर्त्तवासिनश्च कवयश्च मानमाश्रिताः। एवं च द्वौ पक्षौ मासः। द्वौ मासावृतुः। षण्णामृतूनां परिवर्त्तः संवत्सरः। स च चैत्रादिरिति दैवज्ञाः, श्रावणादिरिति लोकयात्राविदः। तत्र नभा नभस्यश्च वर्षाः, इष ऊर्जश्च शरत्, सहः सहस्यश्च हेमन्तः, तपस्तपस्यश्च शिशिरः, मधुर्माधवश्च वसन्तः, शुक्रः शुचिश्च ग्रीष्मः।

पितरों के मास में पक्ष का व्यत्यय करने से, अर्थात् पहला कृष्ण और दूसरा शुक्लपक्ष मानने से चान्द्रमास बनता है। आर्यावर्त्त-निवासी और कविजन इसी चान्द्रमास को अपना आधार मानते हैं। इस प्रकार, कृष्ण और शुक्ल—इन दो पक्षों का एक मास कहा जाता है और दो-दो मास की एक-एक ऋतु और छह ऋतुओं का चक्र एक चान्द्र संवत्सर कहा जाता है। ज्यौतिषशास्त्रवेत्ता चैत्र मास से संवत्सर प्रारम्भ मानते हैं और लौकिक व्यवहारवाले श्रावण से। इस प्रकार, श्रावण और भाद्र वर्षा; आश्विन और कार्त्तिक शरद्, मार्गशीर्ष और पौष हेमन्त, माघ और फाल्गुन शिशिर चैत और वैशाख वसन्त तथा ज्येष्ठ और आषाढ ग्रीष्म ऋतु होती है।

तत्र 'वर्षासु पूर्वो वायुः' इति कवयः। 'पाश्चात्यः पौरस्त्यस्तु प्रतिहन्ता' इत्याचार्याः। तदाहुः—'पुरोवाता हता प्रावृट् पश्चाद्वाता हता शरत्' इति।

इनमें, 'वर्षा ऋतु में पूर्वदिशा की वायु चलती है'—ऐसा कवियों का मत है। आचार्यों का कथन है कि 'पश्चिम वायु, वर्षा ऋतु की वायु है और पूर्वी वायु उसकी विरोधिनी है'। कहा है—'पूर्वीय वायु वर्षा की घातक और पश्चिमीय वायु शरत् ऋतु की विरोधी है।'

तदाहुः—

"प्रावृष्यम्भोभृताम्भोद[1]भरनिर्भरमम्बरम् ।
कदम्बकुसुमामोदा वायवो वान्ति वारुणाः[2] ॥"

और भी कहा गया है—

"वर्षाकाल में आकाश सजल मेघ-पटलों से भर जाता है और कदम्ब-कुसुमों से सुगन्धित वारुण (पश्चिमीय) वायु वहती है।"

'वस्तुवृत्तिरतन्त्रं, कविसमयः प्रमाणम्' इति यायावरीयः ।

यायावरीय राजशेखर का मत है कि 'यहाँ वास्तविक स्थिति को प्रमाण नहीं माना जा सकता। काव्य-वर्णन में कविसमय ही प्रमाण है।' अतः, वर्षा-ऋतु में पूर्वी वायु का वर्णन ही कविसमय के अनुसार है।

तदाहुः—

"पौरस्त्यस्तोयदर्तोः पवन इव पतन्पावकस्येव धूमो
विश्वस्येवादिसर्गः प्रणव इव परं पावनं[3] वेदराशेः ।
सन्ध्यानृत्तोत्सवेच्छोरिव मदनरिपोर्नन्दिनान्दीनिनादः
सौरस्याग्रे सुखं वो वितरतु विनतानन्दनः स्यन्दनस्य ॥"

जैसा कि महाकवि मयूर के सूर्यशतक का उदाहरण है—

"जैसे वर्षा ऋतु के प्रारम्भ में पूर्वीय वायु, अग्नि के प्रारम्भ में धूम, वेदराशि के प्रारम्भ में विश्व की प्रथम सृष्टि परम पावन प्रणव (ॐकार) और शिव के सन्ध्या-कालीन ताण्डव-नृत्य के पहले नन्दिगण का नान्दी (मंगल)-पाठ होता है, उसी प्रकार सूर्य के रथ के आगमन के प्रारम्भ में दर्शन देनेवाले विनतानन्दन (अरुण) आपका कल्याण करें।"

यहाँ कविसमय के अनुसार वर्षाकाल में पूर्वीय वायु का वर्णन किया गया है।

शरद्यनियतदिक्को वायुर्यथा—

"उषःसु ववुराकृष्टजडावश्यायशीकराः ।
शेफालीकलिकाकोशकषायामोदिनोऽनिलाः ॥"

शरद् ऋतु में वायु की दिशा निश्चित नहीं है। उदाहरण—

"शरद् ऋतु के उषःकाल में, ओस के शीतल कणों का वहन करती हुई और शेफालिका के कलिका-कोष से सम्पर्क होने के कारण कसैली वायु वहती थी।"

यहाँ किसी दिशा का उल्लेख नहीं किया गया है।

---

१. 'अम्भोभृत्-अम्भोद' ये पर्यायवाची शब्द प्रतीत होते हैं; किन्तु यहाँ 'अम्भोभृत्' शब्द 'अम्भोद' का विशेषण है, अर्थात् 'जल से भरे हुए अम्भोद' (मेघ)।

२. पश्चिम दिशा का स्वामी वरुण है, अतः उसे वारुणी कहा जाता है। वारुणी दिशा के वायु का नाम वारुण है।

३. दे० मयूरकवि : सूर्यशतक, श्लो० ५५; सूर्यशतक में 'पावनं' के स्थान पर 'पावनः' पाठ है।

'हेमन्ते पाश्चात्यो वायुः' इत्येके। 'उदीच्य' इत्यपरे। 'उभयमपि' इति यायावरीयः।

कुछ लोगों का मत है कि 'हेमन्त ऋतु में पश्चिम वायु चलती है'। दूसरों का मत है कि 'उत्तर वायु चलती है'। यायावरीय राजशेखर का मत है कि 'दोनों दिशाओं की वायु हेमन्त में बहती है'। प्राचीन काव्यों में दोनों के उदाहरण मिलते हैं।

तयोः पाश्चात्यः—

"भञ्जन्भूर्जद्रुमालीस्तुहिनगिरितटेषूद्गतास्त्वक्कराला:
रेवाम्भःस्थूलवीचीचयचकितचलच्चातकान् व्याधुनानः।
पाश्चात्यो वाति वेगाद्द्रुततुहिनशिलाशीकारासारवर्षी
मातङ्गक्षुण्णसान्द्रस्रुतसरलतरत्सारसारी समीरः॥"

उनमें पाश्चात्य वायु का उदाहरण—

"हिमालय के तटों में उत्पन्न और कठिन त्वचाओंवाले भूर्जवृक्षों की पंक्तियों का भंग करती हुई, रेवा[1] नदी की उत्ताल तरंगों में चकित एवं चंचल चातकों को हिलोरें देती हुई, पिघलते हुए हिम के नन्हें-नन्हें कणों को बरसाती हुई और हाथियों के खुजलाने से छिले हुए देवदारुवृक्षों से द्रुत घनरस से सुरभित, पश्चिम दिशा की वायु; वेग से वह रही है।"

उदीच्यः—

"लम्पाकीनां किरन्तश्चिकुरविरचनां रल्लकांल्लासयन्तः
चुम्बन्तश्चन्द्रभागासलिलमविकलं भूर्जकाण्डैकचण्डाः।
एते कस्तूरिकैणप्रणयसुरभयो वल्लभा वाह्लीनां
कौलूतीकेलिकाराः परिचयितहिमं वायवो वान्त्युदीच्याः॥"[2]

इसी प्रकार उत्तरीय वायु का वर्णन—

"लम्पाक देश की सुन्दरियों की केश-रचना को बिखेरती हुई, रल्लक मृगों को आनन्दपूर्वक नचाती हुई, चन्द्रभागा नदी के शीतल जल का चुम्बन करती हुई, भूर्जवृक्षों की शाखाओं का मर्मर ध्वनि के साथ भंग करती हुई, कस्तूरीमृगों के आलिंगन से सुरभित वह्लव देश की रमणियों की प्यारी और कुलूत (कुलू) कामिनियों से क्रीडा करती हुई उत्तर दिशा की वायु बह रही है।"

---

१. 'रेवा', विन्ध्य से निकलनेवाली दक्षिण की प्रसिद्ध नर्मदा नदी का नाम है। इस पद्य में उत्तर दिशा में रेवा का नाम लिखा गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि यह 'रेवा' नदी प्रसिद्ध नर्मदा से भिन्न हिमालय से निकलनेवाली कोई अन्य नदी है।

२. दे० राजशेखर-: बालरामायण नाटक, ५-३५। बालरामायण में 'हेमना वान्ति वाताः' ऐसा पाठ है। इस श्लोक में वर्णित लिम्पाक, वह्लव, कुलूत आदि देशों का उत्तर भारत में उल्लेख किया गया है।— दे० काव्यमीमांसा, अध्याय १७।

शिशिरेऽपि हेमन्तवदुदीच्यः पाश्चात्यो वा। वसन्ते दक्षिणः।
तदुक्तम्—

शिशिर ऋतु में भी कवि को हेमन्त के समान उत्तर या पश्चिम दिशा की वायु का वर्णन करना चाहिए। वसन्त ऋतु में दक्षिण दिशा की वायु का वर्णन किया जाता है। जैसा कहा गया है—

"धुन्वंल्लङ्कावनालीर्मुहुरलकलता लासयन्केरलीना-
मन्ध्रीधम्मिल्लबन्धान्सपदि शिथिलयन्वेल्लयन्नागवल्लीः।
उद्दामं दाक्षिणात्यो मलितमलयजः[1] सारथिर्मीनकेतोः
प्राप्तः सीमन्तिनीनां मधुसमयसुहृन्मानचौरः समीरः॥"

"लंका नगरी की उद्यान-पंक्तियों को हिलाती-डुलाती, केरल-कामिनियों की अलकलताओं को नचाती, आन्ध्र-रमणियों के केश-बन्धनों को शिथिल करती, नागवल्ली (पान) की लताओं को चंचल करती, मलयचन्दन को रगड़ती हुई कामदेव के विजय-यान की सूचक महिलाओं का मान-मर्दन करती और वसन्त ऋतु का अभिन्न मित्र, दक्षिण दिशा की वायु बहने लगी।"

'अनियतदिक्को वायुर्ग्रीष्मे' इत्येके। 'नैर्ऋत' इत्यपरे। 'उभयमपि' इति यायावरीयः। तत्र प्रथमः—

'ग्रीष्म ऋतु में वायु की दिशा निश्चित नहीं रहती'—ऐसा कुछ लोगों का मत है। कुछ लोग कहते हैं कि 'नैर्ऋत्य दिशा की वायु का वर्णन करना उचित है'। यायावरीय राजशेखर का मत है कि 'दोनों ही ठीक हैं'। इनमें प्रथम अनिश्चित दिशा का उदाहरण—

"वात्याचक्रकचुम्बिताम्बरभुवः स्थूला रजोदण्डकाः
सङ्ग्रथ्नन्ति भविष्यदभ्रपटलस्थूणावितर्कं नभः।
किं चान्यन्मृगतृष्णिकाम्बुविसरैः पात्राणि वीतार्णसां
सिन्धूनामिह सूत्रयन्ति दिवसेष्वागामिनीं सम्पदम्॥"

"ग्रीष्मकाल में, वात्याचक्र के चलने से आकाश और पृथ्वी के मध्य स्वाभाविक रूप से उठनेवाले धूलों के विशाल खम्भे, आकाश में शीघ्र आनेवाले मेघ-पटलों के स्तम्भों का भ्रम उत्पन्न करते हैं और जल-रहित (सूखी) नदियों के पाट, दूसरी मृगमरीचिका-जल का विस्तार करते हुए निकट भविष्य में आनेवाली जल-सम्पत्ति की सूचना दे रहे हैं।

यहाँ किसी दिशा का उल्लेख नहीं किया गया है।

१, मूल प्रति के 'मिलितमलयजः' से 'मलितमलयजः' पाठ उत्तम है।

द्वितीयः—

"सोऽयं करैस्तपति वह्निमयैरिवार्कः
साङ्गारविस्तर[1]भरेव धरा समग्रा।
वायुः[2] कुकूलमिव वर्षति नैर्ऋतश्च
कार्शानवैरिव[3] शरैर्मदनश्च हन्ति॥"

नैऋत्य दिशा की वायु का उदाहरण—

"सूर्य, अग्निमय किरणों से पृथ्वी को तपा रहा है। सम्पूर्ण पृथ्वी, फैले हुए जलते अंगारों से भरी हुई-सी प्रतीत होती है। नैर्ऋत्य दिशा की वायु, मानों तुषानल की आग बरसा रही है और कामदेव अग्निमय बाणों से संसार को भस्म सा कर रहा है।

अब किस-किस ऋतु में कवि को किन-किन विषयों का वर्णन करना चाहिए— यह निर्देश किया जाता है, जिसमें सर्वप्रथम वर्षा ऋतु के वर्णनीय विषयों का संग्रह किया गया है।

किञ्च—

"गर्भान्बलाकासु निवेशयन्तः वंशाङ्कुरान्स्वैर्निनदैः सृजन्तः।
रजोऽम्बुदाः प्रावृषि मुद्रयन्तो यात्रोद्यमं भूमिभृतां हरन्ति॥"

जैसे—

"वर्षाऋतु में मेघ बगुलियों को गर्भ-धारण कराते हुए, अपनी गर्जना से बाँसों की नई कोंपलों को उगाते हुए और आकाश में व्याप्त धूल को मिटाते हुए, राजाओं के यात्रा-प्रसंग को स्थगित कर देते हैं।"

ऐसा प्राकृतिक नियम है कि वर्षाकाल में बगुलियाँ पंक्तिबद्ध होकर आकाश में उड़ती हैं और मेघों की गर्जना द्वारा अ-मैथुन गर्भधारण करती हैं[4]। इसी प्रकार, बाँस की कोंपलें बादलों की गड़गड़ाहट से भूमि को फोड़कर बाहर निकल आती हैं। वर्षाकाल में नदी-नालों के बढ़ जाने, अधिक कीचड़ हो जाने तथा अन्यान्य अनेक असुविधाओं के कारण विजययात्री राजा अपनी यात्राएँ स्थगित करके एक ही स्थान में रह जाते हैं।

"स सल्लकीसालशिलीन्ध्रयूथीप्रसूनदः पुष्पितलाङ्गलीकः।
दग्धोर्वरासुन्दरगन्धबन्धुरर्घत्ययं वारिमुचामनेहा॥"

---

१. यहाँ 'विस्तार' शब्द का प्रयोग समीचीन है। क्योंकि, विस्तार का अर्थ 'शब्द का फैलाव' होता है और यह इसी अर्थ में रूढ है।

२. कुकूलम्—तुष या भूसे की अग्नि; 'कुकूलं शङ्कुभिः कीर्णे श्वभ्रे ना तु तुषानले।'—अमर।

३. कार्शानव (कृशानोर्जातः)—अग्नि से निर्मित, अग्निमय।

४. वर्षाकाल में बगुलियाँ मेघ के संयोग से गर्भ-धारण करती हैं, यह प्राकृतिक नियम है। कर्षोदय में लिखा है—'गर्भं बलाका दधतेऽभ्रयोगान्नाके निबद्धावलयः समन्तात्'। कालिदास ने भी लिखा है— 'गर्भाधानक्षणपरिचयान्नूनमाबद्धमालाः, सेविष्यन्ते नयनसुभगं खे भवन्तं बलाकाः।—मेघदूत, १-९।

"वर्षाकाल में, सल्लकी, साल, शिलीन्ध्र और जूही के वृक्षों में नवीन पत्ते एवं पुष्प उत्पन्न होते हैं। लांगली (कलियारी) में पुष्प लगते हैं। सूर्य की अंगारमय किरणों से तपी हुई भूमि पर वर्षा का प्रथम जल गिरने से उससे मनोहर गंध निकलने लगती है। इन कारणों से वर्षा के दिन अत्यन्त सुहावने लगते हैं।"

"वनानि नीलीदलमेचकानि धाराम्बुधौता गिरयः स्फुरन्ति।
पूराम्भसा भिन्नतटास्तटिन्यः सान्द्रेन्द्रगोपानि च शाद्वलानि॥

"इन दिनों जंगल, नीली के पत्तों से नीलवर्ण दीखते हैं। जलधारा से धुले हुए पर्वत, बड़े ही सुन्दर और आकर्षक प्रतीत होते हैं। नदियाँ, प्रवाह के वेग से तटों को तोड़ती-फोड़ती हुई बहती हैं। हरी घासों के स्थल, चिकनी एवं रक्तवर्ण वीर-बहूटियों के कारण अनुपम शोभा धारण करते हैं।

"चकोरहर्षी यतिचारचौरो वियोगिनीवीक्षितनाथवर्त्मा।
गृहान्प्रति प्रस्थितपान्थसार्थः कालोऽयमाध्मातनभाः पयोदैः॥

"यह वर्षाकाल, चकोरों[1] को हर्षित करनेवाला, यतियों और संन्यासियों के प्रचार को रोकनेवाला[2] है। इस काल में वियोगिनी रमणियाँ, अपने प्रवासी पतियों के आगमन की प्रतीक्षा करती हैं। पथिकों के झुण्ड, अपने-अपने घरों में पहुँचने के लिए व्याकुलतापूर्वक प्रयत्न करते हैं और आकाश, मेघों से निरन्तर गरजता रहता है।

"या केलियात्रा करिकामिनीभिर्या तुङ्गहर्म्याग्रविलासशय्या।
चतुःसमं यन्मृगनाभिगर्भं सा वारिदर्त्तोः प्रथमातिथेयी॥

"इस काल में, सैर-सपाटे के लिए हथिनियों की सवारी[3] उपयुक्त होती है। ऊँचे-ऊँचे भवनों की अट्टालिकाओं में बने चौबारों में विलासिनियों की शयन-शय्या बिछ जाती है और कस्तूरी से मिले चतुःसम[4] के सेवन के लिए भी यह उपयुक्त समय है।

"चलच्चटुलचातकः कृतकुरङ्गरागोदयः
सदर्दुररवोद्यमो मदभरप्रगल्भोरगः।

---

१. यद्यपि राजशेखर ने यहाँ 'चकोरहर्षी' पाठ लिखा है; किन्तु वास्तव में 'मयूरहर्षी' पाठ होना चाहिए। चन्द्रिका-पान करके हर्षित होनेवाला चकोर शरदृतु में हर्षित हो सकता है। यहाँ वर्षा-ऋतु के प्रकरण में मयूर का हर्षित होना उचित है।

२. यतियों और संन्यासियों को वर्षाकाल में एक ही स्थान पर निवास करना चाहिए, यह शास्त्रीय नियम आज भी उनमें प्रचलित है।

३. कीचड़ और छोटे-छोटे नदी-नालों के कारण वर्षाकाल में हाथी की ऊँची और सुदृढ़ सवारी यातायात के अनुकूल होती है। किसी पुस्तक में 'किल कामिनीभिः' ऐसा पाठ है।

४. 'चतुःसम' यह आयुर्वेद का पारिभाषिक शब्द है। केसर, कस्तूरी, चन्दन और कपूर—इन चारों के समभाग सुगन्धित चूर्ण का नाम 'चतुःसम' है।

शिखण्डिकुलताण्डवामुदितमद्गुकङ्काह्वयो
वियोगिषु घनागमः स्मरविषं विषं मुञ्चति ।।

"वनों में, चारों ओर चलते हुए चपल चातक दीखते हैं, हरिणों में प्रेम का उदय होने लगता है, मेढकों के शब्द चारों ओर सुन पड़ते हैं, सर्प मदोन्मत्त होकर विचरण करते हैं; मोरों के झुण्ड नृत्य करते हैं और जलचर पक्षी प्रसन्न हो जाते हैं। परन्तु, यह मेघों का आगमन, वियोगियों के हृदय में काम-विष को उत्पन्न करनेवाले विष[1] (जल) की वर्षा करता है।

"दलत्कुटजकुड्मलः स्फुटितनीपपुष्पोत्करो
धवप्रसवबान्धवः प्रचितमञ्जरीकार्जुनः ।
कदम्बकलुषाम्बरः कलितकेतकीकोरक-
श्चलन्निचुलसञ्चयो हरति हन्त घर्मात्ययः ।। वर्षाः ।"

"वर्षाकाल में, कुटज कुसुमों की कलियाँ खिल उठती हैं, कदम्ब के पुष्पसमूह फूट पड़ते हैं, उनमें केसर उगने लगते हैं, धव (धाय) के पुष्प यौवन प्राप्त करते हैं, अर्जुन के वृक्ष नवीन मंजरियों से भर जाते हैं, कदम्बों से आकाश कलुषित हो जाता है, केतकी में कलियाँ फूटने लगती हैं और बेंत जल-प्रवाह से निरन्तर हिलते रहते हैं। अहा, उष्णता का अन्त कितना मनोहर होता है !—वर्षा का इतना वर्णन हुआ।"

"द्रागगर्जयन्ती विमदान्मयूरान्प्रगल्भयन्ती कुररद्विरेफान् ।
शरत्समभ्येति विकाश्य पद्मानुन्मीलयन्ती कुमुदोत्पलानि ।।

शरद् ऋतु के वर्णनीय विषय—

"शरद् ऋतु, मदरहित मयूरों से गर्जना कराती हुई, कुररों (टिटिहरों) और भ्रमरों को उन्मत्त करती हुई तथा कमलों, कुमुदों (श्वेतकोई) और उत्पलों को विकसित करती हुई आती है।

"सा भाति पुष्पाणि निवेशयन्ती बन्धूकबाणासनकुङ्कुमेषु ।
शेफालिकासप्तपलाशकाशभाण्डीरसौगन्धिकमालतीषु ।।

"शरदृतु में बन्धूक (दुपहरिया), बाण (कटसरैया), असन (पीतशाल), केसर (मौलसिरी), शेफालिका (हरसिंगार), सप्तपर्ण (छतिवन), कास, भांडीर (चम्पा) सौगंधिक (श्वेतकमल) और मालती—इन वृक्षों में पुष्प-प्रसव होने लगता है और समय सुहावना हो जाता है।

"सखञ्जरीटा सपयःप्रसादा सा कस्य नो मानसमाच्छिनत्ति ।
कादम्बकारण्डवचक्रवाकससारसक्रौञ्चकुलानुयाता ।।

---

१. यहाँ दूसरे 'विष' शब्द का अर्थ जल है।—दे० वैदिक निघण्टु।

'इस मनोहर शरद् ऋतु में, खंजन पक्षियों के दर्शन होते हैं; नदी, नद, झील, ताल, सरोवर आदि के जल स्वच्छ और मधुर हो जाते हैं एवं इन स्वच्छ जलाशयों के तटों पर हंस, कारण्डव, चक्रवाक, सारस, क्रौंच आदि जलचर पक्षी विहार करते हैं। इनके साथ आ रही शरद् ऋतु किसका मन नहीं लुभा लेती है?

"उपानयन्ती, कलहंसयूथमगस्त्यदृष्ट्या पुनती पयांसि।
मुक्तासु शुभ्रं दधती च गर्भं शरद्विचित्रैश्चरितैश्चकास्ति ॥

"शरद् ऋतु, अपने विचित्र चरित्रों से चित्त को आनन्दित कर देती है; क्योंकि इसमें कलहंसों के झुण्ड मानस-सरोवर से लौटकर अपने-अपने निवासों (जलाशयों) में आ जाते हैं, अगस्त्य के उदय से सम्पूर्ण जलाशयों के जल स्वच्छ हो जाते हैं और स्वाती की बूँदों से सीपियाँ शुभ्र मोतियों का गर्भ धारण करती हैं।

"क्षितिं खनन्तो वृषभाः खुराग्रै रोधो विषाणैर्द्विरदा रदन्तः।
शृङ्गं त्यजन्तो रुरवश्च जीर्णं कुर्वन्ति लोकानवलोकनोत्कान् ॥

"इस ऋतु में, खुरों से पृथ्वी को कुरेदते हुए मदोन्मत्त साँड़, दाँतों से नदी-तटों को उखाड़ते हुए मस्त हाथी और पुराने सींगों को गिराते हुए रुरु-मृग, जनता की दर्शन-उत्सुकता और कौतूहल को बढ़ाते हैं।

"अत्रावदातद्युति चन्द्रिकाम्बु नीलावभासं च नभः समन्तात्।
सुरेभवीथीदिवसावतारो जीर्णाभ्रखण्डानि च पाण्डुराणि ॥

"इस ऋतु में, अमल धवल चन्द्रिका, चारों ओर स्वच्छ और सान्द्र नील आकाश, रात के समय भी दिन के समान चमकती हुई आकाशगंगा में नक्षत्रों का दृश्य और नील नभ में इधर-उधर घूमते हुए निर्जल एवं श्वेत अभ्रखण्ड (बादलों के टुकड़े), सुन्दर दृश्य उपस्थित करते हैं।

"महानवम्यां निखिलास्त्रपूजा नीराजना[1] वाजिभटद्विपानाम्।
दीपालिकायां विविधा विलासा यात्रोन्मुखैरत्र नृपैर्विधेयाः ॥

"महानवमी (विजयादशमी के) दिन विजययात्री राजाओं के द्वारा होनेवाला सम्पूर्ण अस्त्रों का पूजन, हाथियों, घोड़ों और सैनिकों की मनोहारिणी सजावट के साथ परेड (नीराजना), दीपावली में दीपों की मालाएँ तथा विजययात्रा के लिए उन्मुख हुए राजाओं द्वारा किये जा रहे विविध हास-विलास आदि दृश्य अनुपम शोभा धारण करते हैं।

"व्योम्नि तारतरतारकोत्करः स्यन्दनप्रचरणक्षमा मही।
भास्करः शरदि दीप्रदीधितिर्बुध्यते च सह माधवः सुरैः ॥

---

१. इससे प्रतीत होता है कि उस समय भी शारद नवरात्र (दुर्गापूजा) विजयादशमी और दीपावली के उत्सव आजकल के समान ही प्रचलित थे। महानवमी का तात्पर्य सम्भवतः विजयादशमी से हो।

"अनन्त आकाश में विशद और ऊँचे नक्षत्रों के समूह, रथों तथा अन्यान्य यानों के चलने योग्य पंकहीन पृथ्वी, तीक्ष्णतर किरणों से चमकता हुआ भगवान् भास्कर और (हरिप्रबोधिनी एकादशी[1] के दिन) देवताओं के साथ भगवान् माधव का जागरण—शरद् ऋतु के स्पृहणीय दृश्य हैं।

"केदार एव कलमाः परिणामरम्याः
प्राचीनमामलकमर्घति पाकनीलम्।
एर्वारुकं स्फुटननिर्गतगर्भगन्ध-
मम्लीभवन्ति च जरत्त्रपुसीफलानि॥

"शरद् ऋतु में, क्यारियों में ही पककर पीले हुए कलम-धान, बड़े ही रमणीय प्रतीत होते हैं। पककर नीले-से प्रतीत होते हुए आमले, वृक्षों में लटकते हुए बड़े सुहावने लगते हैं। फूट-ककड़ी, पककर फूट जाने के कारण भीतर से सुन्दर सुगन्धि देती है और जीर्ण इमली के फल भी पककर खट्टे हो जाते हैं।

"गेहाजिरेषु नवशालिकणावपात-
गन्धानुभावसुभगेषु कृषीवलानाम्।
आनन्दयन्ति मुसलोल्लसनावधूत-
पाणिस्खलद्वलयपद्धतयो वधूट्यः॥

"खेतों से काटकर लाये गये नवीन शालियों (धान) के कणों की सुगन्धि से सुरभित किसानों के आँगन, इन दिनों आनन्द के आगार बन जाते हैं; क्योंकि नवीन धानों को कूटती हुई ग्रामवधूओं के हस्त-कंकण, मूसल चलाने के कारण कंपित होकर ऊपर-नीचे चलते हुए मनोहर शब्द करते रहते हैं।

"तीक्ष्णं रविस्तपति नीच इवाचिराढ्यः
शृङ्गं रुरुस्त्यजति मित्रमिवाकृतज्ञः।
तोयं प्रसीदति मुनेरिव धर्मचिन्ता[2]
कामी दरिद्र इव शोषमुपैति पङ्कम्[3]॥[4]

"शरद् ऋतु में, सूर्य, उसी प्रकार तीक्ष्ण रूप से तपता है, जिस प्रकार नीच व्यक्ति, भाग्यवश, कुछ ही दिनों में धनी बनकर रौब गालिब करने लगता है। रुरु-मृग, अपने सींगों को इस प्रकार छोड़ देता है, जैसे अकृतज्ञ या कृतघ्न व्यक्ति काम निकल जाने पर मित्र

१. इसका तात्पर्य कार्तिकशुक्ला हरिप्रबोधनी एकादशी से है। इस दिन देवोत्थान के उत्सव आज भी मनाये जाते हैं।
२-३. 'चित्तमन्तः' और 'पङ्कः' क्रमशः पाठभेद।
४. शार्ङ्गधरपद्धति में, यह पद्य भास के नाम से उद्धृत है।

को छोड़ देता है। जल, मुनि के धर्म-चिन्तन के समान निर्मल-स्वच्छ हो जाता है और कीचड़, इस प्रकार सूख जाता है, जैसे दरिद्र कामी चिन्ता से सूख जाता है।

"नद्यो वहन्ति कुटिलक्रमयुक्तशुक्ति-
रेखाङ्कवालपुलिनोदरसुप्तकूर्माः ।
अस्यां तरङ्गितनुतोयपलायमान-
मीनानुसारिबकदन्तकरालफालाः ॥[1]

"शरद् ऋतु में, छोटी नदियों में जल कम हो जाता है। उनके बालुकामय तट निकल आते हैं, उनपर सीपियों की छाप से टेढ़ी-तिरछी रेखाएँ दीखती हैं, जिनपर जल से बाहर निकलकर कछुए विश्राम करते हैं और लहराते हुए उथले निर्मल जल में दौड़ती हुई मछलियों का पीछा करते हुए बगुले, उनपर उग्र दन्त-फालों (फारों) का प्रहार करते हुए दीखते हैं।

"अपङ्किलतटावटः शफरफाण्टफालोज्ज्वलः
पतत्कुररकातरभ्रमदभ्रमीनार्भकः ।
लुठत्कमठसैकतश्चलबकोटवाचाटितः
सरित्सलिलसञ्चयः शरदि मेदुरः सीदति ॥ शरत् ।"

"शरद् ऋतु में, छोटी-छोटी नदियों के स्वच्छ और घने जल की शोभा देखते ही बनती है,-तटों का कीचड़ सूख जाता है, छोटी-छोटी मछलियों की क्रीडाएँ उस उज्ज्वल जल में भली मालूम देती हैं, कहीं झपटते हुए कुरर-पक्षियों के आक्रमण के भय से मछलियों के छोटे-छोटे बच्चे भागते दीखते हैं, कहीं-कहीं जल की कमी से निकले सैकत पुलिनों पर लोटते हुए कछुओं के दृश्य दीखते हैं, और कहीं चंचल बगुले चिल्लाहट मचाते हैं और (बरसात की) संचित नदियों की जलराशि शरद् में क्षीण हो रही है। शरद्-वर्णन समाप्त।"

"द्वित्रिमुचुकुन्दकलिकस्त्रिचतुरमुकुलः क्रमेण लवलीषु ।
पञ्चषफलिनीकुसुमो जयति हिमर्तुर्नवावतरः ॥

हेमन्त के वर्णनीय विषय—

"जिस हेमन्त ऋतु के आगमन पर मुचकुन्द के वृक्षों में दो-तीन कलियाँ दीखने लगतीं हैं, लवली (हरफारेवड़ी) के वृक्षों में भी क्रमशः तीन-चार कलियाँ आ जाती हैं और प्रियंगुलता में भी पाँच-छह फूलों का उद्गम हो जाता है। उस नया अवतरण करनेवाले हेमन्त की जय हो।

---

१. सुभाषितावली में यह पद्य कालिदास के नाम से उद्धृत किया गया है।

"पुन्नागरोध्रप्रसवावतंसा वामभ्रुवः कञ्चुककुञ्चिताङ्ग्यः ।
वक्रोल्लसत्कुङ्कुमसिक्थकाङ्काः सुगन्धतैलाः कबरीर्वहन्ति ॥

"हेमन्त के दिनों में, नागकेसर और लोध्र के पुष्प-प्रसवों का आभूषण पहने वक्रभ्रू स्त्रियाँ अंगों (छाती) को चोली से कस लेती हैं एवं मोम-मिश्रित केसर का टेढ़ा (चन्द्राकार) लेप लगाती हैं और सुगन्ध तैल लगाये केशरचना को धारण किये रहती हैं।

"यथा यथा पुष्यति शीतकालस्तुषारचूर्णोत्किरकीर्णवातः ।
तथा तथा यौवनशालिनीनां कवोष्णतामत्र कुचा लभन्ते ॥

"इस समय वायु, हिमकणों को विखेरकर, जैसे-जैसे शीत को वढ़ाती है, वैसे-ही-वैसे युवतियों के कुचों में ऊष्मा बढ़ने लगती है।

"वराहवर्ध्राणि नवोदनानि दधीनि सन्नद्धशराणि चाऽत्र ।
सुकोमलाः सर्षपकन्दलीश्च भुक्त्वा जनो निन्दति वैद्यविद्याम् ॥

"इन दिनों वन-शूकरों के मांस में बने नये चावल, सघन मलाईवाला दही और सरसों के कोमल डंठलों का साग खाकर, जनता, वैद्य-विद्या की उपेक्षा करती है। अर्थात्, ये गुरु और वायुकारक पदार्थ भी शीतकाल में सुपच और स्वास्थ्यकारक होते हैं।

"अत्रोपचारः सलिलैः कवोष्णैर्यत्किञ्चिदत्र स्वदतेऽन्नपानम् ।
सुदुर्भगामत्र निपीड्य शेते स्वस्त्यस्तु नित्यं तुहिनर्त्तवेऽस्मै ॥

"इन दिनों स्नान, गुनगुने जल से अच्छा लगता है, तथा जो कुछ भी पान और भोजन हो, आकर्षक और स्वादु हो जाता है। इस काल में अयोग्य या उपेक्षित रमणियों की भी चाह बढ़ जाती है। अतः, ऐसे शीतकाल का कल्याण हो।

"विमुक्तवर्हा विमदा मयूराः प्ररूढगोधूमयवा च सीमा ।
व्याघ्रीप्रसूतिः सलिलं सबाष्पं हेमन्तलिङ्गानि जयन्त्यमूनि ॥

"हेमन्त में मयूर मदरहित हो जाते हैं और उनके पंख झड़ जाते हैं, गाँवों की सीमाओं में गेहूँ और जौ के लहलहाते खेत सुन्दर दीखते हैं, बाघिन बच्चों का प्रसव करती है और प्रातःकाल सभी ओर पानी से उठता हुआ बाष्प दीख पड़ता है—ये हेमन्त के विशेष चिह्न विशेष रूप में दिखाई पड़ते है।

सशमीधान्यपाकानि क्षेत्राण्यत्र जयन्ति च ।
त्रिशङ्कुतिलका रात्र्यः पच्यन्ते लवणानि च ॥

इस ऋतु में, खेतों में मटर, उरद, मूँग आदि छीमीवाले लहराते धान्य दीखते हैं। इसी समय आकाश में त्रिशङ्कु नाम के तारा का तिलक लगाये रात भी

दिखती है या तीन गाँठों की टीका लगाये हलदी पकती है और इन्हीं दिनों नमक भी पकता है।[1]

"उद्यानानां मूकपुंस्कोकिलत्वं भृङ्गस्त्रीणां मौनमुद्रा मुखेषु।
मन्दोद्योगा पत्रिणां व्योमयात्रा हेमन्ते स्यात्सर्पदर्पक्षयश्च ॥

"हेमन्तकाल में उद्यानों में, कोयलें मूक हो जाती हैं, भृंग-रमणियों के मुख में भी मौन मुद्रा दीखती है, आकाश-यात्रा में पक्षियों का उत्साह क्षीण हो जाता है और सर्पों का भी दर्पक्षय हो जाता है।

"कर्कन्धूनां नागरङ्गीफलानां पाकोद्रेकः खाण्डवोऽप्याविरस्ति।
कृष्णेक्षूणां पुण्ड्रकाणां च गर्भे माधुर्ये श्रीर्जायते चाप्यपूर्वा ॥

"बेर, नारंगी आदि फलों का पकना प्रारम्भ हो जाता है और उनमें मिठास उत्पन्न होती है तथा काले एवं मोटे ऊखों के रस में अद्भुत एवं अपूर्व मधुरता का आविर्भाव हो जाता है।

"येषां मध्येमन्दिरं तल्पसम्पत् पार्श्वे दाराः स्फारतारुण्यतारः।
लीलावह्निर्निह्नुतोद्दामधूमस्ते हेमन्तं ग्रीष्मशेषं विदन्ति ॥"

इति हेमन्तः।

"घरों के भीतरी शयन-कक्षों में गद्दे आदि आवश्यक साधनों से सजे हुए पलंग, बगल में, उभरते हुए यौवन से मदमत्त सुन्दरियाँ और धूमरहित अंगारों से भरी हुई अँगीठियाँ—ये सम्पत्ति जिन्हें सुलभ हैं; वे इस हेमन्त ऋतु को ग्रीष्म का अंतिम या शेष भाग समझते हैं। यह हेमन्त-वर्णन हुआ।"

हेमन्तधर्मा[2] शिशिरः। विशेषस्तु—

शिशिर ऋतु के वर्णनीय विषय वे ही हैं, जो हेमन्त के हैं। कुछ विशेष बातें इस प्रकार हैं—

"रात्रिर्विचित्रसुरतोचितयामदैर्घ्या
चण्डो मरुद्दहति कुङ्कुमपङ्कसाध्यः।
तल्पस्थितिर्द्विगुणतूलपटा किमन्य-
दर्घन्ति चात्र विततागुरुधूपधूमाः ॥

"शिशिर ऋतु की रातें, लम्बी होने के कारण विविध विलास-केलियों के लिए परम उपयुक्त होती हैं। इन दिनों प्रचण्ड वायु से उत्पन्न शीत के लिए केसर, कस्तूरी

१. (क) विश्वामित्र के प्रभाव से आकाश में लटकता हुआ त्रिशङ्कु-तारा इन्हीं रात्रियों में दीखता है। अयोध्या के राजा त्रिशङ्कु की कथा पुराणों में प्रसिद्ध है।
(ख) यहाँ 'रात्रि' से हरिद्रा (हल्दी) का भी अभिप्राय हो सकता है; क्योंकि शमीधान्य और नमक के पाक के साथ हल्दी का योग अधिक समीचीन है। रात्रिवाची शब्द हरिद्रा के भी पर्याय हैं।

२. यहाँ हस्तलिपि में 'हेमन्तधर्मः' पाठ अशुद्ध है। व्याकरण के अनुसार 'हेमन्तधर्मा' पाठ शुद्ध है।

आदि का सेवन समुचित होता है, ओढ़ने-बिछाने के लिए रूई-भरे दोहरे वस्त्रों की आवश्यकता होती है और अगर के धूप-धूम से भवन और गर्भगृह (कमरे या कोठरियाँ) उष्ण किये जाते हैं।

"आश्लेषिणः पृथुरतक्लमपीतशीत-
मायामिनीं घनमुदो रजनीं युवानः।
ऊर्वोर्मुहुर्वलनबन्धनसन्धिलोल-
पादान्तसंवलिततूलपटाः स्वपन्ति ॥

"शिशिर की लम्बी रातों में, रति-क्रीडा की श्रान्ति से कठिन शीत पर विजय प्राप्त करनेवाले अत्यन्त प्रसन्न युवक, वनिताओं का आलिंगन किये हुए और करवटों के बार-बार बदलने से सिलाई के शिथिल हो जाने के कारण एकत्र हुई रूईवाली रजाई को पैरों से दबाए हुए सोते हैं।

"पानेऽम्भसोः सुरसनीरसयोर्न भाति
स्पर्शक्रियासु तुहिनानलयोर्न चाऽत्र।
नो दुर्भगासुभगयोः परिरम्भणे च
नो सेवने च शशिभास्करयोर्विशेषः ॥

"इस ऋतु में, अतिशीतलता के कारण पानी पीने में, सरसता और नीरसता की प्रतीति नहीं होती, हिम (बरफ) और अग्नि के स्पर्श में, गरम तथा ठण्डे का भेद नहीं होता, आलिंगन में सुन्दरी एवं असुन्दरी के भेद की प्रतीति नहीं होती तथा सेवन करने में सूर्य और चन्द्र का भेद भी नहीं प्रतीत होता।

"पुष्पक्रिया मरुबके जलकेलिनिन्दा
कुन्दान्यशेषकुसुमेषु धुरि स्थितानि।
सौभाग्यमेणतिलकाङ्कजतेऽर्कबिम्बं
काले तुषारिणि दहन्ति च चन्दनानि ॥

"दौने और मरुए के पौधों में पुष्प उगने लगते हैं, जलक्रीडा का कोई नाम भी नहीं लेता, सभी पुष्पों में कुन्द के पुष्पों की बाढ़-सी आ जाती है, मस्तक पर लगे कस्तूरी के तिलक में प्रतिबिम्बित सूर्य सुहावना प्रतीत होता है और इस शीतकाल में चन्दन का लेप शरीर को दग्ध करता है।

सिद्धार्थयष्टिषु[1] यथोत्तरहीयमान-
सन्तानभिन्नघनसूचिपरम्परासु ।

---

१. 'सिद्धार्थयष्टि'—सरसों के पौधे का नाम है। सिद्धार्थ सरसों को कहते हैं।

द्वित्रावशेषकुसुमासु जनिक्रमेण
पाकक्रमः कपिशिमानमुपादधाति ॥

"शिशिर ऋतु में, सरसों के पौधों के घने और तीखे बाल पककर झड़ने लगते हैं, दो-तीन पीले फूल उनमें लगे दीखते हैं और क्रमशः उगने के क्रम से पकते हुए पौधे भूरापन ग्रहण करते जा रहे हैं, अर्थात् भूरे हो जाते हैं।

"उदीच्यचण्डानिलताडितासु
सुलीनमीनासु जलस्य मूले।
नालावशेषाब्जलतास्विदानीं
विलासवापीषु न याति दृष्टिः ॥

"इस ऋतु में, वापियों की ओर तो देखने की भी इच्छा नहीं होती। उनका जल, उत्तरीय हिमवायु के प्रचण्ड प्रवाह से मानों काँपता रहता है, मछलियाँ वापी के तल भाग में छिप जाती हैं और उनमें कमल-वेल की सूखी डण्डियाँ-मात्र दीखती हैं।

"माद्यन्मतङ्गः पृषतैकतोषी
पुष्यद्वराहो धृतिमल्लुलायः।
दरिद्रनिन्द्यः सधनैकवन्द्यः
स एष कालः शिशिरः करालः ॥

"शिशिर ऋतु में, हाथी मदोन्मत्त हो जाते हैं। हरिण सन्तुष्ट होकर विचरण करते हैं। शूकर पीन और पुष्ट हो जाते है। भैंसे मस्त रहते हैं। साधनहीन निर्धन इस ऋतु की निन्दा करते हैं और साधन-सम्पन्न धनी, इसकी प्रशंसा करते हैं। वही यह कराल काल शिशिर है।

"अभिनववधूरोषस्वादुः करीषतनूनपा-
दसरलजनाश्लेषक्रूरस्तुषारसमीरणः।
गलितविभवस्याज्ञेवाऽद्य द्युतिर्मसृणा रवे-
र्विरहिवनितावक्त्रौपम्यं बिभर्त्ति निशाकरः ॥[1]

"इन दिनों नये कण्डों की स-धूम अग्नि, नवीन वधू के प्रणयकोप के समान मीठी लगती है। वरफीली वायु, दुष्ट व्यक्ति के सम्पर्क के समान दुःखद प्रतीत होती है। सूर्य का तेज, धनहीन व्यक्ति की आज्ञा के समान प्रभावहीन हो जाता है और चन्द्रमा, विरहिणी रमणी के मुख के समान मलिन प्रतीत होता है।

१. यह श्लोक, 'औचित्यविचारचर्चा' में मालवरुद्र के नाम से तथा सुभाषितावली में भास के नाम से उद्धृत है। 'सरस्वतीकण्ठाभरण' में भी यह श्लोक आया है और इसका पहला चरण वामन के काव्यालंकार में ही है।

"स्त्रियः प्रकृतिपित्तलाः क्वथितकुङ्कुमालेपनै-
र्नितम्बफलकस्तनस्थलभुजोरुमूलादिभिः ।
इहाभिनवयौवनाः सकलरात्रिसंश्लेषितै-
र्हरन्ति शिशिरज्वरारतिमतीव पृथ्वीमपि ।। शिशिरः ।"

"स्वभाव से ही पित्तप्रकृति नवयौवनवती सुन्दरियाँ, उबाले हुए केसर के लेपन से, नितम्ब, स्तन, भुजा और जंघा के मूल की ऊष्मा से एवं सम्पूर्ण रात्रि के आलिंगन से शिशिर के शीत की भयंकरता का हरण करती हैं। शिशिर-वर्णन समाप्त।"

"चैत्रे मदर्द्धिः शुकसारिकाणां
हारीतदात्यूहमधुव्रतानाम् ।
पुंस्कोकिलानां सहकारबन्धुः
मदस्य कालः पुनरेष एव ।।

वसन्त ऋतु के वर्णनीय विषय—

"चैत्र मास में, सुग्गे, मैना, हारिल, पपीहा और भ्रमर—इन पक्षियों का मद बढ़ता है और आम की बौरों को उत्पन्न करनेवाला यही समय, कोयलों की मदवृद्धि का कारण भी बनता है।

"मनोऽधिकं चात्र विलासलास्ये
प्रेङ्खासु दोलासु च सुन्दरीणां ।
गीते च गौरीचरितावतंसे
पूजा प्रपञ्चे च मनोभवस्य ।।

"इस मास में, स्त्रियों का मन, हास-विलास करने, नाचने-गाने, झूला-हिंडोला आदि झूलने, गौरी की पूजा करने और कामदेव के पूजा-प्रपंच में अधिक लगता है। इस मास में गौरी-पूजन, नवरात्र, श्रीपंचमी एवं मदन-महोत्सव आदि अनेक व्रत एवं उत्सव होते हैं।

"पुंस्कोकिलः कूजति पञ्चमेन
बलाद्विलासा युवतौ स्फुरन्ति ।
स्मरो वसन्तेऽत्र नवैः प्रसूनैः
स्वचापयष्टेर्घटनां करोति ।।

"वसन्त में पुंस्कोकिल पंचम राग में कूकता है। युवतियों में, सम्भवतः मद उत्पन्न होता है और कामदेव ऋतु के नये पुष्पों से धनुष-दण्ड की रचना करता है।

"पिनद्धमाहारजनांशुकानां[1]
सीमन्तसिन्दूरजुषां वसन्ते ।
स्मरीकृते प्रेयसि भक्तिभाजां
विशेषवेषः स्वदते वधूनाम् ॥

"वसन्त में कामदेव के रूप में पतियों पर भक्ति रखनेवाली और सिन्दूर-शोभित माँगोंवाली तथा कुसुम रँग से रंगे महीन वस्त्र पहने पत्नियों का सुसज्जित वेश बहुत ही सुन्दर लगता है ।

"अयं प्रसूनोद्धुरकर्णिकारः
पुष्पप्रपञ्चाञ्चितकाञ्चनारः ।
विजृम्भणाकोविदकोविदारः
कालो विकाशोद्यतसिन्दुवारः ॥

"इस काल में, कनैल के वृक्ष पुष्पों से लद जाते हैं। कचनार के वृक्ष कुसुमों से भर जाते हैं, कोविदार के वृक्ष विकसित हो उठते हैं और सिन्दुवार के वृक्ष विकास की ओर उन्मुख होने लगते हैं।

"रोहीतकाम्रातककिङ्किराता
मधूकमोचाः सह माधवीभिः ।
जयन्ति शोभाञ्जनकश्च शाखी
सकेसरः पुष्पभरैर्वसन्ते ॥

"वसन्त में रोहिड़ा, आमड़ा, किंकिरात (कटसरैया), महुआ, केला, माधवी-लता और सहजन के वृक्ष, कलियों और पुष्पों से भरने लगते हैं। अतएव, ये केसरयुक्त होकर सुशोभित होते हैं।

"यो माधवीमुकुलदष्टिषु वेणिबन्धो
यः कोकिलाकलरुते कथने च लाभः ।
पूजाविधिर्दमनकेन च यः स्मरस्य
तस्मिन्मधुः स भगवान्गुरुरङ्गनानाम् ॥

"यह चैत्र मास, सौभाग्यवती ललनाओं का गुरु है। कारण यह कि वे इस मास में माधवी-लता के कुसुमों से केशों को गूँथती हैं, कोयल की मीठी कूक का अनुकरण करती हैं और दौने के वृक्ष के साथ कामदेव की पूजा करती हैं।

---

१. 'माहारजनांशुक'—मँजीठ या कुसुम (चंपई) रंग में रँगे हुए वस्त्र का नाम है

"नालिङ्गितः कुरबकस्तिलको न दृष्टो
नो ताडितश्च चरणैः सुदृशामशोकः ।
सिक्तो न वक्त्रमधुना बकुलश्च चैत्रे
चित्रं तथापि भवति प्रसवावकीर्णः ॥

"आश्चर्य यह है कि इस मास में कुरैया का वृक्ष, रमणी के आलिंगन के विना; तिलक वृक्ष, उसकी चितवन के विना; अशोक वृक्ष, उसके पादाघात के विना और बकुल वृक्ष, मद्य-गंडूष के विना ही पुष्प-प्रसव करने लगते हैं।

"चैत्रे चित्रौ रक्तनीलावशोकौ
स्वर्णाशोकस्तत्तृतीयश्च पीतः ।
जैत्रं तन्त्रं तत्प्रसूनान्तरेभ्यः
चेतोयोनेः भूर्भुवःस्वस्त्रयेऽपि ॥

"और भी आश्चर्य यह है कि रक्त-अशोक, नील-अशोक और तीसरा स्वर्णाशोक—ये तीनों कामदेव के भूर्, के भुवर्, और स्वर् इन त्रिभुवनों के विजय में अन्य पुष्पबाणों की अपेक्षा अधिक विजयशील स्वतन्त्र अस्त्रों का कार्य करते हैं।

-"गूवाकानां[1] नालिकेरद्रुमाणां
हिन्तालानां[2] पाटलीकिंशुकानाम् ।
खर्जूराणां ताडताडीतरूणां
पुष्पापीडन्यासहेतुर्वसन्तः ॥वसन्तः ।"

"सुपारी, नारियल, हिन्ताल (ताल का भेद), गुलाब, पलाश, खजूर, ताड़ और ताड़ी वृक्षों के पुष्प-प्रसव का कारण वसन्त ही है। अर्थात्, वसन्त में इनके पुष्पों की उत्पत्ति होती है। यह वसन्त-वर्णन है।"

"विकाशकारी नवमल्लिकानां
दलच्छिरीषप्रसवाभिरामः ।
पुष्पप्रदः काञ्चनकेतकीनां
ग्रीष्मोऽयमुल्लासितधातकीकः ॥

ग्रीष्म के वर्णनीय विषय—

"ग्रीष्मकाल नवमल्लिका के कुसुमों को विकसित कर देता है, खिलते हुए शिरीष कुसुमों से रमणीय लगता है, कांचन (सुनहली) केतकी (केवड़े) के पुष्पों का प्रसव करता है और धाय के पुष्पों को विकसित करता है।

---

१. गूवाक या गुवाक =सुपारी।
२. हिन्ताल =तालवृक्ष का एक भेद।

"खर्जूरजम्बूपनसाम्रमोचा
प्रियालपूगीफलनालिकेरैः ।
द्वन्द्वानि खेदालसतामुपास्य
रतानुसन्धानमिहाद्रियन्ते ॥

"ग्रीष्म ऋतु में, युग्म (स्त्री-पुरुष) खजूर, जामुन, कटहल, आम, केला, चिरौंजी, सुपारी और नारियल—इनसे अपने श्रम और आलस्य को मिटाकर विलास-वासना को पूर्ण करने का प्रयत्न करते हैं।

"स्रोतांस्यनम्भांसि सकूपकानि
प्रपाः कठोरेऽहनि पान्थपूर्णाः ।
शुचौ समभ्यर्थितसक्तुपाने
प्रगे च सायं च वहन्ति मार्गाः ॥

"ग्रीष्म के दिनों में, जल के स्रोत और कूप सूख जाते हैं। जलते मध्याह्न के समय पनशालाओं पर पथिकों की भीड़ लगी रहती है, सत्तुवा घोलकर पीना रुचिकर प्रतीत होता है और पथिकजन, प्रातः तथा सायंकाल ही यात्रा करते हैं।

"यत्कायमानेषु[1] दिनार्द्धनिद्रा
यत्स्नानकेलिर्दिवसावसाने ।
यद्रात्रिशेषे सुरतावतारः
स मुष्टियोगो[2] घनघर्ममाथी ॥

"दोपहर के समय झोंपड़ों में अर्धनिद्रा, सायंकाल के समय स्नान-क्रीडा और रात के शेष भाग में रतिक्रीडा—ये गरमी की भीषणता को दूर करनेवाला मुष्टियोग है।

"या चन्द्रिका चन्दनपङ्कहृद्या
या जालमार्गानिलवीचिमाला ।
या तालवृन्तैरुदबिन्दुवृष्टि-
र्जलाञ्जलिं सा शुचये ददाति ॥

"शीतल चन्दन के लेप के समान हृदयहारिणी स्वच्छ चाँदनी का आनन्द, झरोखों या खिड़कियों से आते हुए वायु के झकोरे और पंखों के झलने से बरसते हुए शीतल जल-बिन्दु—ये ग्रीष्मकाल को तिलाञ्जलि देते हैं। अर्थात्, ग्रीष्म-सन्ताप का हरण करनेवाले हैं।

१. कायमान =छोटी झोंपड़ी या झोंपड़ा। यह ग्रीष्मकाल में ठंडा रहता है।
२. मुष्टियोग =अनुभूत प्रयोग या नुस्खा।

"कर्पूरचूर्णं सहकारभङ्ग-
स्ताम्बूलमार्द्रक्रमुकोपक्लृप्तम् ।
हाराश्च ताराstanुवस्त्रमेत-
न्महारहस्यं शिशिरक्रियायाः ॥

"शरीर पर कर्पूर-धूलिका का घर्षण, आम का पन्ना, भिगोई हुई सुपारी से बना पान, शुद्ध मोतियों के हार और महीन कपड़े—ये ग्रीष्मकाल में शीतल-क्रिया के लिए महान् रहस्य हैं।

"मुक्तालताश्चन्दनपङ्कदिग्धा
मृणालहारानुसृता जलार्द्राः ।
स्रजश्च मौलौ स्मितचम्पकानां
ग्रीष्मेऽपि सोऽयं शिशिरावतारः ॥"

"चन्दन के लेप में भींगी हुई मोतियों की मालाएँ, ताजे और गीले मृणाल (कमलनाल) के हार और शिर पर खिली हुई चम्पा-पुष्पों की मालाएँ—ये ग्रीष्मकाल में भी शिशिर ऋतु को अवतीर्ण करती हैं।"

अत्र हि—

"पच्यन्त इव भूतानि ताप्यन्त इव पांसवः ।
क्वथ्यन्त इव तोयानि ध्मायन्त इव चाद्रयः ॥

यहाँ और भी—

"इस ग्रीष्म ऋतु के समय प्राणी, मानों पकाये जाते हैं, धूल तपाई जाती है, पानी, मानों उबाला जाता है और पर्वत गरम किये जाते हैं।

"एणाः स्थलीषु मृगतृष्णिकया ह्रियन्ते
स्रोतस्तनुत्वजनिता जलवेणिबन्धाः ।
ताम्यत्तिमीनि च सरांसि जलस्य शोषा-
दुद्धारघट्टघटिकावलयाश्च कूपाः ॥

"हरिण, मरुभूमि में मृग-मरीचिकाओं से ठगे जाते हैं, स्रोतों के क्षीण हो जाने के कारण, नदियों का जल वेणी जैसा स्वल्प हो जाता है, जल के सूख जाने से तडागों के जल-जन्तु, तड़पते हुए-से दीखते हैं और जल के बहुत नीचे हो जाने से कुओं में 'रहट' लगाये जाते हैं।

"करभाः शरभाः सरासभा
मदमायान्ति भजन्ति विक्रियाम् ।

करवीरकरीरपुष्पिणीः
स्थलभूमीरधिरुह्य चासते ॥

"हाथियों के बच्चे, शरभ और गदहे मदोन्मत्त एवं विकारी हो जाते हैं तथा कनेर और करील के वृक्षोंवाली ऊँची भूमि पर चढ़कर बैठते हैं।

"सहकाररसार्चिता रसाला[1]
जलभक्तं फलपानकानि मन्थाः।
मृगलावरसाः सृतं च दुग्धं
स्मरसञ्जीवनमौषधं निदाघे ॥

"आम के मधुर रस में पगी रसाला, पानी से गीला भात, भिन्न-भिन्न फलों के रस, सत्तू का घोल, हरिण एवं लवा के मांस का सोरवा और औटाया हुआ दूध—ये ग्रीष्म-काल में कामदेव को जीवित करनेवाले औषध हैं।

"जडचन्दनचारवस्तरुण्यः
सजलार्द्राः सहतारहारमालाः।
कदलीदलतल्पकल्पनस्थाः
स्मरमाहूय निवेशयन्ति पार्श्वे ॥

"ग्रीष्म में, शीतल चंदन के लेप से आकर्षक, जल से भींगी हुई, लम्बे-लम्बे मोतियों के हारोंवाली और केले के पत्तों के विस्तर पर बैठी हुई ललित ललनाएँ, कामदेव को बुलाकर, अपनी बगल में बैठा लेती हैं।

"ग्रीष्मे चीरीनादवन्तो वनान्ताः
पङ्काभ्यक्ताः सैरिभाः सेभकोलाः।
लोलज्जिह्वाः सर्पसारङ्गवर्गा
मूलस्रस्तैः पत्रिणश्चांशदेशैः ॥

"इस समय, जंगलों में झिल्ली के नाद सुन पड़ते हैं। भैंसे, हाथी तथा सूअर के बच्चे, कीचड़ से सने हुए दीखते हैं। सर्प और मृग, जीभों को लपलपाते देखे जाते हैं और पक्षियों के पक्षमूल, शिथिल हो जाते हैं।

"हर्म्यं रम्यं चन्द्रिकाधौतपृष्ठं
कान्तोच्छिष्टा वारुणी वारिमिश्रा।
मालाः कण्ठे पाटला मल्लिकानां
सद्यो ग्रीष्मं हन्त हेमन्तयन्ति ॥ ग्रीष्मः।"

---

१. रसाला = दही में चीनी, केसर, इलायची आदि मिलाकर बनाया गया 'श्रीखण्ड'।

"अहा ! चाँदनी से धुली प्रासादों की ऊँची छतें, जल-मिश्रित एवं कान्ता द्वारा उच्छिष्ट मदिरा और गले में मल्लिका-कुसुमों की गुलाबी मालाएँ—ग्रीष्म को तुरन्त हेमन्त बना देती हैं। यह ग्रीष्म-वर्णन हुआ।"

चतुरवस्थश्च ऋतुरुपनिबन्धनीयः। तद्यथा—सन्धिः, शैशवं, प्रौढिः, अनुवृत्तिश्च। ऋतुद्वयमध्यं सन्धिः। शिशिरवसन्तसन्धिर्यथा—

कवि को ऋतुओं का वर्णन करते समय प्रत्येक ऋतु की चार अवस्थाओं का वर्णन करना चाहिए—१. ऋतुसन्धि, २. ऋतुशैशव, ३. ऋतुप्रौढि और ४. ऋतु-अनुवृत्ति। दो ऋतुओं के मध्यकाल का नाम ऋतुसन्धि है। उदाहरण के लिए शिशिर एवं वसन्त की सन्धि का वर्णन—

"च्युतसुमनसः कुन्दाः पुष्पोद्गमेष्वलसा द्रुमा
मनसि च गिरं गृह्णन्तीमे गिरन्ति न कोकिलाः।
अथ च सवितुः शीतोल्लासं लुनन्ति मरीचयो
न च जरठतामालम्बन्ते क्लमोदयदायिनीम्॥"

"कुन्द-वृक्षों के पुष्प गिर जाते हैं, अन्य वृक्ष नवीन पुष्पों के उद्गम में अलसाते-से प्रतीत होते हैं। कोकिलाएँ, मन में ही गुनगुनाती हैं; परन्तु शब्द उनके गले से बाहर नहीं निकलता। और, अब सूर्य की किरणें शीत के प्रभाव को नष्ट तो कर रही हैं; किन्तु उनमें सन्तापदायिनी कठोरता अभी नहीं है।"

वसन्तशैशवम्—

"गर्भग्रन्थिषु वीरुधां सुमनसो मध्येऽङ्कुरं पल्लवा
वाञ्छामात्रपरिग्रहः पिकवधूकण्ठोदरे पञ्चमः।
किं च त्रीणि जगन्ति जिष्णु दिवसैर्द्वित्रैर्मनोजन्मनो
देवस्यापि चिरोज्झितं यदि भवेदभ्यासवश्यं धनुः॥"

वसन्त के शैशव का वर्णन—

"लताओं की गर्भ-ग्रन्थियों में पुष्प आ गये। नये अंकुरों के मध्य, पल्लव (नये पत्ते) उत्पन्न हो चले। कोयल की कण्ठनलिका में, पंचम राग अलापने की सुरसुरी उत्पन्न हो रही है और कामदेव का चिर परित्यक्त धनुष, यदि अभ्यास द्वारा वश में आ जाय, तो दो-तीन दिनों में ही वह तीनों लोकों को जीतने में समर्थ हो सकेगा।"

वसन्तप्रौढिः—

"साम्यं सम्प्रति सेवते विचकिलं षाण्मासिकैर्मौक्तिकैः
कान्तिं कर्षति काञ्चनारकुसुमं मञ्जिष्ठधौतात्पटात्।

हूणीनां कुरुते मधूकमुकुलं लावण्यलुण्ठाकतां
लाटीनाभिनिभं चकास्ति च पतद्वृन्ताग्रतः केसरम् ॥"[१]

वसन्त की प्रौढता का उदाहरण—

"इस समय चमेली के पुष्प, छह मास के मोतियों की समानता धारण कर रहे हैं; कचनार का फूल, मँजीठ से रँगे वस्त्र के समान शोभित हो रहा है; महुए की कलियाँ, हूण-ललनाओं के लावण्य को लूट रही हैं और वृन्त के अग्रभाग से गिरता हुआ केसर, लाट-रमणियों की नाभि के समान प्रतीत होता है।"

अतिक्रान्तर्तुलिङ्गं यत्कुसुमाद्यनुवर्त्तते ।
लिङ्गानुवृत्तिं तामाहुः सा ज्ञेया काव्यलोकतः ॥

विगत ऋतु के चिह्न-स्वरूप कुसुम आदि जब वर्त्तमान ऋतुकाल में दिखाई पड़ते हैं, तब ऐसे समय को ऋतु-अनुवृत्ति या ऋतु-लिंगानुवृत्ति कहते हैं और उसे काव्य-संसार से जान लेना चाहिए।

वर्षासु ग्रीष्मलिङ्गाब्जविकासानुवृत्तिः । यथा—

ग्रीष्म ऋतु के चिह्न-स्वरूप कमल-विकास का वर्षाकाल में वर्णन। जैसे—

"खं वस्ते कलविङ्ककण्ठमलिनं कादम्बिनीकम्बलं
चर्चां पारयतीव दर्दुरकुलं कोलाहलैरुन्मदम् ।
गन्धं मुञ्चति सिक्तलाजसदृशं वर्षेण दग्धा स्थली
दुर्लक्ष्योऽपि विभाव्यते कमलिनीहासेन भासां पतिः ॥"

"आकाश ने, नर-गौरैया के कण्ठ के समान काले मेघमाला-रूपी कंबल को ओढ़ लिया है। उन्मत्त मेढक, कोलाहल करते हुए, मानों मन्त्रोच्चारण के साथ पूजा पूरी कर रहे हैं। ग्रीष्मताप से दग्ध भूमि, (प्रथम) वृष्टि के जल से सींचे हुए धान की खीलों के समान गन्ध छोड़ रही है और बादलों में छिपा हुआ भी सूर्य, कमलों के विकसित होने के कारण निश्चित रूप से जाना जा रहा है।"

एवमन्येऽपि ।

इसी प्रकार, अन्य ऋतुओं में भी समझना चाहिए।

किञ्च—

ग्रैष्मिकसमयविकासी कथितो धूलीकदम्ब इति लोके ।
जलधरसमयप्राप्तौ स एव धाराकदम्बः स्यात् ॥

---

१. दे० राजशेखर : विद्धशालभञ्जिका, १-२३।

लोक में जिसे, ग्रीष्म ऋतु में विकसित होनेवाला धूलि-कदम्ब कहते हैं, वही वर्षा में धाराकदम्ब कहा जाता है।

यथा—

"धूलिकदम्बपरिधूसरदिङ्मुखस्य
रक्तच्छटासुरशरासनमण्डनस्य ।
दीप्तायुधाशनिमुचो ननु नीलकण्ठ
नोत्कण्ठसे समरवारिधरागमस्य ॥"

जैसे—

"हे नीलकण्ठ (मयूर)! वर्षागमन-रूपी समर (युद्ध) के लिए तुम उत्कंठित नहीं हो रहे हो? इस वर्षागमन-समर में धूल के गुब्बार से दिशाएँ भर जाती हैं, आकाश में लालिमा लिये हुए इन्द्र का धनुष तना हुआ दीखता है और चमकते हुए विद्युत्-वज्र का पात होता है।"

"जलसमयजायमानां जातिं यां कार्दमीति निगदन्ति ।
सा शरदि महोत्सविनी गन्धान्वितषट्पदा भवति ॥"

"वर्षाकाल में होनेवाली जिस जाती (मालती) को कार्दमी कहते हैं, वह शरद् ऋतु में अत्यन्त आनन्ददायिनी और सुगन्ध के कारण भ्रमरों से भरी हुई दीखती है।"

यथा—

"स्थूलावश्यायबिन्दुद्युतिदलितबृहत्कोरकग्रन्थिभाजो
जात्या जालं लतानां जरठपरिमलप्लावितानां जजृम्भे ।
नानाहंसोपधानं सपदि जलनिधेश्चोत्ससर्पापरस्य
ज्योत्स्नाशुक्लोपधानं शयनमिव शशी नागभोगाङ्कमम्भः ॥"[1]

जैसे—

"शरद् ऋतु में, ओस की बड़ी-बड़ी बूँदों के समान विकसित बड़ी-कलियों के गुच्छों से लदे हुए एवं पुष्पों के परिपक्व पराग से मालती की लताओं के झुण्ड, झूमते हुए दीख पड़ते हैं और चन्द्रमा, चाँदनी से स्वच्छ और हंस-रूपी अनेक उपधानों से युक्त पश्चिम समुद्र की सर्प-शरीर-चिह्नित जल-रूपी शय्या पर सोने के लिए आकाश से उतरकर जा रहा-सा प्रतीत होता है।

स्तोकानुवृत्तिं केतक्या अपि केचिदिच्छन्ति ।

कुछ कवि, वर्षा-ऋतु में वर्णनीय केतकी-कुसुम का शरद्-ऋतु में भी अनुवर्णन करते हैं।

---

१. दे० राजशेखर : विद्धशालभञ्जिका, १-२५।

यथा—

"अप्लच्यत शरत्कालः केतकीधूलिधूसरैः ।
पद्मताम्रैर्नवायातश्चरणैरिव वासरैः ॥"

जैसे—

"अधिक दूर-गमन के कारण श्रान्त, अतएव लाल और मार्ग-धूलि से धूसर पैरों को देखकर जिस प्रकार नवागन्तुक अतिथि का दूर से आगमन अनुमित होता है, उसी प्रकार केतकी की धूलि से धूसर और रक्त-कमलों से लाल दिवसों को देखकर शरद् ऋतु के आगमन की सूचना मिलने लगी।"

शरद्भवानामनुवृत्तिरत्र
बाणासनानां सकुरुण्टकानाम् ।
हेमन्तवक्त्रे यदि दृश्यतेऽपि
न दृश्यते बन्धविधिः कवीनाम् ॥

इसी प्रकार, शरद् ऋतु में होनेवाले बाँक, बन्धूक और कुरुण्टक (कटीं) आदि वृक्षों के पुष्प, हेमन्त-ऋतु के प्रारम्भ में भी दीखते हैं; परन्तु किसी कवि ने हेमन्त और शरद् की संधि अथवा हेमन्त के प्रारम्भ में इनका वर्णन नहीं किया। अतः, भविष्य-कवियों को भी उनका वर्णन नहीं करना चाहिए।

हेमन्तशिशिरयोरैक्ये सर्वलिङ्गानुवृत्तिरेव । उक्तञ्च । 'द्वादश-मासः संवत्सर, पञ्चर्त्तवो हेमन्तशिशिरयोः समासेन' ।

हेमन्त और शिशिर की एकता होने से हेमन्त के सभी वर्णनीय विषय शिशिर में भी वर्णित होते हैं। ऐसा कहा भी है कि 'बारह मासों का एक संवत्सर होता है और एक संवत्सर में पाँच ही ऋतुएँ होती हैं; क्योंकि हेमन्त और शिशिर वास्तव में एक ही हैं।'

मरुबकदमनकपुन्नागपुष्पलिङ्गानुवृत्तिभिः सुरभिः ।
रचनीयश्चित्रश्रीः किञ्चित्कुन्दानुवृत्त्या च ॥

शिशिर ऋतु का वर्णन करते हुए कवि को चाहिए कि हेमन्त के वर्णनीय मरुबक (मरुवा), दमनक (दौना), पुन्नाग (नागकेसर) आदि के पुष्पों से शिशिर ऋतु को सुरभित करे और कुछ कुन्द-कुसुमों के वर्णन से भी उसकी अनेकविध शोभा को बढ़ाये।

एक प्राचीन उदाहरण—

"गेहे वाहीकयूनां वहति दमनको मञ्जरीकर्णपूरा-
नुन्मादः पामरीणां मरुति मरुबकामोदिनी व्यक्तिमेति ।

सद्योभङ्गानुसारस्रुतसुरभिशिराः शीकरः साहकारः
सर्पन्नम्भः शरावे रचयति च रसो रेचकीचन्द्रकाणि ॥"

"शरद् ऋतु में घर में वाहीक-देश के युवकों के कानों पर दौने की मंजरियाँ झूल रही हैं, मरुए की मंजरियों से सुरभित वायु पामर-देश की स्त्रियों में मद उत्पन्न कर रही है और पानी से भरे मिट्टी के पात्र में तुरत तोड़कर छोड़ी गई आम्रमंजरी के सुगन्ध रसविन्दु, जल के चमक के साथ फैलकर चन्द्राकार बन जाते हैं।"

यहाँ वसन्त के मुख्य वर्णनीय आम्र की मंजरी का शिशिरकाल में उद्गम बताया गया है।

"कुन्दे मन्दस्तमाले मुकुलिनि विकलः कातरः किङ्किराते
रक्ताशोके सशोकश्चिरमतिविकचे चम्पके कुञ्चिताक्षः।
पान्थः खेदालसोऽपि श्रवणकटुरटच्चक्रमस्येति धुन्वन्
सोत्कण्ठः षट्पदानां नवमधुपटलीलम्पटं कर्पटेन ॥"

इसी प्रकार का दूसरा उदाहरण—

"शिशिरकाल में कुन्द-कुसुमों को मन्द दृष्टि से देखता हुआ, मुकुलित तमाल को विकल होकर देखता हुआ, कटसरैया की कोमल कलियों को दीन दृष्टि से देखता हुआ, रक्त अशोक पर शोकपूर्ण दृष्टिपात करता हुआ, पूर्ण विकसित चम्पक-पुष्पों से आँखों को चुराता हुआ पथिक, यात्राश्रम से खिन्न और अलसाया हुआ भी उत्कण्ठा के साथ पुष्पों के नव-मकरन्द-लोलुप कर्ण-कटु शब्द करते हुए भौरों के झुण्ड को कपड़े से उड़ाता हुआ जा रहा है।"

यथा वा—

"धुनानः कावेरीपरिसरभुवश्चन्दनतरून्
मरुन्मन्दः कुन्दप्रकरमकरन्दानवकिरन्।
प्रियक्रीडाकर्षच्युतकुसुममामूलसरलं
ललाटे लाटीनां लुठितमलकं ताण्डवयति ॥"[1]

शिशिर के गर्भ में वसन्त के प्रधान चिह्न दक्षिण वायु का वर्णन—

"कावेरी के तटपर उत्पन्न होनेवाले चन्दन-वृक्षों को हिलाता हुआ, कुन्द-कुसुमों के मकरन्दों को उड़ाता हुआ मन्द समीर प्रियतमों की छेड़छाड़ के कारण पुष्प-रहित तथा शिथिल होकर बिखरे हुए लाटियों के लटकते अलकों पर नचाता है।"

इसमें कवि ने हेमन्त-चिह्न कुन्द की शिशिर में अनुवृत्ति की है और उसी में वसन्त-चिह्न मलयानिल का उद्गम वर्णन किया है।

---

१. दे० सदुक्तिकर्णामृत, १–४५७।

एवमन्याप्यनुवृत्तिः ।

इसी प्रकार, अन्य-अन्य ऋतुओं का वर्णन भी प्रसङ्गतः करना चाहिए।

"विचकिलकेसरपाटलिचम्पकपुष्पानुवृत्तयो ग्रीष्मे ।
तत्र च तुहिनर्त्तुभवं मरुबकमपि केचिदिच्छन्ति ।।

"ग्रीष्म ऋतु में चमेली, केसर, गुलाब, चम्पा आदि पुष्पों का वर्णन करना चाहिए। ये वसन्त में उत्पन्न होते हैं और ग्रीष्म में पूर्ण विकसित हो जाते हैं। कुछ कवि, ग्रीष्मकाल में शीतकालीन मरुवक-पुष्पों का भी वर्णन करते हैं।"

यथा—

"कर्णे स्मेरं शिरीषं शिरसि विचकिलस्रग्लताः पाटलिन्यः
कण्ठे मार्णालहारो वलयितमसिताम्भोजनालं कलाच्योः[1] ।
सामोदं चन्दनाम्भः स्तनभुवि नयने म्लानमाञ्जिष्ठपृष्ठे
गात्रं लोलज्जलार्द्रं जयति मृगदृशां ग्रैष्मिको वेष एषः ।।"[2]

जैसे—

"कानों में खिला हुआ शिरीष का पुष्प, सिर पर देकर बनाई गई चमेली की गुलाबों की माला, गले में मृणाल के हार, कलाइयों में नीले कमल की मुड़ी हुई डंडियों के कंकण, स्तनों पर कपूर आदि से सुरभित चन्दन का द्रवलेप, अपांगों (नेत्र-प्रान्तों) में मलिन मँजीठ-सी लालिमा और टपकते हुए पानी से आर्द्र शरीर—यह मृगनयनियों का ग्रीष्मकालीन वेश शोभावर्द्धक है।"

यथा च—

"अभिनवकुशसूचिस्पर्द्धि कर्णे शिरीषं
मरुबकपरिवारं पाटलादाम कण्ठे ।
स तु सरसजलार्द्रोन्मीलितः सुन्दरीणां
दिनपरिणतिजन्मा कोऽपि वेषश्चकास्ति ।।"

दूसरा उदाहरण—

"कानों में अभिनव कुशाग्र के समान तीक्ष्णाग्रभागवाले शिरीष-पुष्प, गले में मरुए की मंजरियों के साथ गुँथी हुई गुलाब की माला और जलार्द्र सरस कलेवर—यह सुन्दरियों का कोई सायंकालीन ग्रीष्म-वेश, अत्यन्त आकर्षक और रमणीय होता है।"

---

१. कलाची =कलाई।

२. दे० राजशेखर : बालरामायण, ५-२६।

एवमुदाहरणान्तराणि ।

इसी प्रकार अन्यान्य उदाहरण हैं।

ऋतुभववृत्त्यनुवृत्ती दिङ्मात्रेणाऽत्र सूचिते सन्तः ।
शेषं स्वधिया पश्यत नामग्राहं कियद् ब्रूमः ॥

हमने ऋतुओं में होनेवाले पुष्प-फल आदि और अगली ऋतुओं में उनकी अनुवृत्ति का दिग्दर्शन करा दिया है। शेष बातों को प्रतिभा-सम्पन्न कवि, स्वयं समझने का यत्न करें। नाम ले-लेकर कहाँतक कहा जा सकता है।

देशेषु पदार्थानां व्यत्यासो दृश्यते स्वरूपस्य ।
तन्न तथा बध्नीयात्कविबद्धमिह प्रमाणं नः ॥

देश-भेद से पदार्थों में कहीं-कहीं अन्तर आ जाता है। किन्तु, कवि को तो कवि-परम्परा के अनुसार ही वर्णन करना चाहिए, देश के अनुसार नहीं। कवि के लिए प्राचीन महाकवियों के उल्लेख ही प्रमाण हैं।

तात्पर्य यह कि ग्रीष्मप्रधान और शीतप्रधान देशों में तथा ऊँची-नीची भूमि में ऋतुओं के विकास आदि में अन्तर हो जाता है। फलों और पुष्पों में भी भिन्नता देखी जाती है। परन्तु, कवि को कवि-समय की रक्षा करनी चाहिए।

शोभान्धोगन्धरसैः फलार्चनाभ्यां च पुष्पमुपयोगि ।
षोढा दर्शितमेतत्स्यात्सप्तममनुपयोगि ॥

शोभा, अन्न, गन्ध, रस, फल और अर्चन (पूजन)—इन छह कारणों से पुष्प उपयोगी होता है। इनके अतिरिक्त सातवाँ प्रकार अनुपयोगी या अवर्णनीय है।

यथा—

यत्प्राचि मासे कुसुमं निबद्धं
तदुत्तरे बालफलं विधेयम् ।
तदग्रिमे प्रौढिधरं च कार्यं
तदग्रिमे पाकपरिष्कृतं च ॥

जैसे—

पहले जिस महीने में किसी पुष्प के उद्गम का वर्णन किया जाता है, तो अगले मास में उसके फलोद्गम का वर्णन किया जाना चाहिए और तीसरे मास में उसकी प्रौढता तथा चौथे में उसका पकना, परिष्कृत होना आदि वर्णित होने चाहिए।

द्रुमोद्भवानां विधिरेप दृष्टो
वल्लीफलानां न महाननेहा ।
तेषां द्विमासावधिरेव कार्यः
पुष्पे फले पाकविधौ च कालः ॥

यह ऊपर लिखा हुआ चार मासों का क्रम, वृक्षों में लगनेवाले पुष्पों और फलों का है। लताओं में लगनेवाले फल-पुष्पों का क्रम लम्बे समय का नहीं होता है, उनके फूलने, फलने और पकने का समय केवल दो मास का ही होता है। इसका ध्यान रखना आवश्यक है।

अन्तर्व्याजं बहिर्व्याजं बाह्यान्तर्व्याजमेव च।
सर्वव्याजं बहुव्याजं निर्व्याजं च तथा फलम्॥

फल छह प्रकार के होते हैं—१. अन्तर्व्याज, २. बहिर्व्याज ३. बाह्यान्तर्व्याज, ४. सर्वव्याज, ५. बहुव्याज और ६. निर्व्याज। अर्थात्, फलों में किसी का बाहरी अंश फेंकने योग्य होता है, तो किसी का भीतरी अंश और किसी-किसी का बाहरी-भीतरी दोनों।

लकुचाद्यन्तर्व्याजं तथा बहिर्व्याजमत्र मोचादि।
आम्राद्युभयव्याजं सर्वव्याजं च ककुभादि॥

बड़हर आदि फल अन्तर्व्याज कहे जाते हैं। केले की श्रेणी के फल बहिर्व्याज होते हैं। आम आदि फल उभयव्याज और ककुभ-फल सर्वव्याज कहे जाते हैं।

पनसादि बहुव्याजं नीलकपित्थादि भवति निर्व्याजम्।
सकलफलानां षोढा ज्ञातव्यः कविभिरिति भेदः॥[1]

कटहल आदि बहुव्याज और नील-कैथ आदि फल निर्व्याज कहे जाते हैं। इस प्रकार, इन छह भेदों में सभी प्रकार के फलों का अन्तर्भाव होता है।

एकद्वित्र्यादिभेदेन सामस्त्येनाथवा ऋतून्।
प्रबन्धेषु निबध्नीयात्क्रमेण व्युत्क्रमेण वा॥

कवि को चाहिए कि अपनी काव्य-प्रबन्ध-रचना में एक, दो, तीन या सभी ऋतुओं का सरल या विपरीत क्रम से वर्णन करे।

न च व्युत्क्रमदोषोऽस्ति कवेरर्थपथस्पृशः।
तथा कथा कापि भवेद् व्युत्क्रमो भूषणं यथा॥

विपरीत क्रम से ऋतु-वर्णन करना कवि के लिए दोष नहीं है; किन्तु प्रबन्ध का प्रसंग ऐसा अवश्य होना चाहिए, जिससे व्युत्क्रम भी सरल और समुचित भूषण-सा प्रतीत हो।

अनुसन्धानशून्यस्य भूषणं दूषणायते।
सावधानस्य च कवेर्दूषणं भूषणायते॥

---

१. आचार्य हेमचन्द्र ने 'काव्यानुशासन को 'विवेक' नामक विवृति में 'सप्तदश' और 'अष्टादश' अध्यायों के देशकाल-विभाग को प्रायः पूर्ण रूप से उद्धृत किया है; किन्तु नामोल्लेख नहीं किया है।—दे० काव्या०, पृ० १५१—१६२।

अनुसन्धान-शून्य कवि की उत्तम बातें भी दूषण बन जाती हैं और सावधान कवि के दूषण भी भूषण हो जाते हैं। अतः, कवि को पूर्वकथित सभी बातों पर पूर्ण ध्यान देना चाहिए।

इति कालविभागस्य दर्शिता वृत्तिरीदृशी।
कवेरिह महान्मोह इह सिद्धो महाकविः ॥

॥ इति राजशेखरकृतौ काव्यमीमांसायां कविरहस्ये प्रथमेऽधिकरणे
कालविभागो नाम अष्टादशोऽध्यायः ॥

इस प्रकार, अन्तिम अध्याय में कवि के लिए काल का विभाग कहा गया है, जिसमें कवि प्रायः प्रमाद कर देते हैं और जो इन विषयों से पूर्ण परिचित हैं, वे महाकवि होते हैं।

अष्टादश अध्याय समाप्त

समाप्तमिदं प्रथममधिकरणं कविरहस्यं काव्यमीमांसायाम्।

'काव्यमीमांसा' ग्रन्थ में कविरहस्य नामक यह प्रथम अधिकरण समाप्त हुआ।

परिशिष्ट-१

काव्यमीमांसा में उद्धृत आचार्यों, कवियों एवं ऐतिहासिक व्यक्तियों का अकारादि क्रम से संक्षिप्त परिचय और समय नीचे दिया जाता है :

१. **अमर**—संस्कृत के प्रसिद्ध कोष 'नामलिङ्गानुशासन' या 'अमरकोष' के प्रणेता अमरसिंह। ये विक्रमादित्य के नवरत्नों में एक थे। अनुश्रुतियों के अनुसार इनका समय विक्रम की प्रथम शताब्दी माना गया है।

२. **अवन्तिसुन्दरी**—ये काव्यमीमांसा के प्रणेता राजशेखर की गृहिणी थीं। इनका मत काव्यमीमांसा में तीन बार उद्धृत किया गया है। स्वतन्त्र रूप से इनका कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। इनकी विस्तृत विवेचना भूमिका में की गई है।

३. **आचार्याः**—काव्यमीमांसा में १८ बार इनका मत उद्धृत किया गया है। यह प्राचीन आलंकारिक विद्वानों या राजशेखर के अभिमत आचार्यों का संकेत मालूम होता है। यह शब्द प्रायः भामह, आनन्द, वामन आदि के लिए प्रयुक्त है।

४. **आनन्द**—'ध्वन्यालोक'-प्रणेता आचार्य आनन्दवर्द्धन कश्मीर के राजा अवन्तिवर्मा के समय कश्मीर में उत्पन्न हुए थे। ये 'ध्वनिमतप्रतिष्ठापनाचार्य' कहे जाते हैं। ये शैवागम के भी आचार्य थे। इनका समय ९१२—९४१ विक्रम-संवत् (८५५—८८४ ई०) है।

५. **आपराजिति**—अपराजित के पुत्र थे। सम्भवतः, ये भरत-नाट्यशास्त्र के टीकाकार भट्टलोल्लट के नाम से प्रसिद्ध थे। काव्यप्रकाश की रससूत्र-व्याख्या में इनका उल्लेख किया गया है। ये प्रसिद्ध मीमांसक थे। हेमचन्द्र के काव्यानुशासन में इनकी दो आर्याएँ उद्धृत हैं, जिनके भावों का उल्लेख राजशेखर ने नवम अध्याय में किया है। भट्टलोल्लट का समय विक्रमीय नवम शतक है।

राजशेखर ने विद्धशालभञ्जिका नाटिका के प्रारम्भ में अपने समकालीन अपराजित नामक एक विद्वान् का उल्लेख किया है, जिन्होंने 'मृगाङ्कलेखाकथा' का प्रणयन किया है। यह भी समझा जा सकता है कि उन्हीं अपराजित कवि के पुत्र का नामोल्लेख राजशेखर ने आपराजिति नाम से किया हो। किन्तु, आपराजिति के नाम से उन्होंने जो विषय उद्धृत किया है, वह भट्टलोल्लट के मत से मिलता है। दूसरे, यह भी सम्भव नहीं मालूम होता कि राजशेखर ने अपने परवर्त्ती आपराजिति का उल्लेख किया हो। अतः, भट्टलोल्लट को ही 'आपराजिति' कहा गया है।

६. **उक्तिगर्भ**—ये सारस्वतेय काव्यपुरुष के अष्टादश शिष्यों में एक थे। ये सभी राजशेखर द्वारा कल्पित हैं। इन्होंने उक्तिविषयक अधिकरण का निर्माण किया था।

७. **उतथ्य**—ये अंगिरा ऋषि के पुत्र और बृहस्पति के बड़े भाई थे। मन्त्रद्रष्टा ऋषियों में इनकी प्रसिद्धि है। इन्होंने काव्यपुरुष से शिक्षा प्राप्त कर अर्थश्लेष के सम्बन्ध में ग्रन्थ लिखा था।

८. **उपमन्यु**—ये भी सारस्वतेय काव्यपुरुष के अष्टादश शिष्यों में एक प्रसिद्ध ऋषि थे। ये गोत्रप्रवर्त्तक ऋषि थे।

९. **उपवर्ष**—ये व्याकरणसूत्रप्रणेता पाणिनि के गुरु थे। वृहत्कथामञ्जरी और कथासरित्सागर के प्रथम लम्बक में इनका चरित्र-वर्णन मिलता है। इन्होंने जैमिनी के पूर्वमीमांसा-सूत्रों और व्यास के ब्रह्मसूत्रों पर व्याख्या भी लिखी है। इनका समय ईसा से पूर्व चौथी शताब्दी के पूर्व या लगभग है। पाटलिपुत्र में इनकी परीक्षा हुई थी। कुछ ऐतिहासिक विद्वान् कथासरित्सागर के लेखानुसार वर्ष और उनके छोटे भाई उपवर्ष को पाणिनि का उपाध्याय (गुरु) नहीं मानते; क्योंकि इस बात का उल्लेख अन्यत्र कहीं नहीं किया गया है।

१०. **उशनस्**—महर्षि भृगु के पुत्र उशना ऋषि। इन्हीं का नाम शुक्र है। ये दैत्यों के गुरु थे और नीतिशास्त्र के प्रथम आचार्य। इनके मतानुयायी औशनस कहे जाते हैं।

११. **औद्भट**—उद्भट नाम के आलंकारिक विद्वान् कश्मीरी थे। इनके मतानुयायियों का या इनके सिद्धान्त का नाम औद्भट है। ये कश्मीर के राजा जयापीड के सभापति थे। राजतरंगिणी में लिखा है—

विद्वान् दीनारलक्षेण प्रत्यहं कृतवेतनः।
भट्टोऽभूदुद्भटस्तस्य भूमिभर्त्तुः सभापतिः॥

—तरंग ४, श्लोक ४९४।

इनका समय विक्रम-संवत् ८३६—८७० (७७९—८१३ ई०) है। इनके उद्भटालङ्कार[1] नामक अलङ्कारशास्त्र पर भट्ट इन्दुराज की टीका है। इन्होंने कुमारसम्भव नामक एक काव्य भी लिखा है। उसका एक अनुष्टुप् पद्य काव्यप्रकाश की टीका में उद्धृत है।

१२. **औपकायन**—सारस्वतेय काव्यपुरुष के कल्पित १८ शिष्यों में एक, जिन्होंने उपमालंकार—विषयक ग्रन्थ की रचना की थी। यह एक प्रसिद्ध गोत्रप्रवर्त्तक ऋषि थे।

१३. **औमेयी**—शिवपत्नी उमा की मानसपुत्री 'साहित्य-विद्यावधू'। यह नाम भी कविकल्पित है।

१४. **औशनस**—भृगुपुत्र उशनस् (शुक्र) के मतानुयायी राजनीतिज्ञ—आचार्य।

१५. **कर्ण**—दक्षिण देश का एक राजा, जिसका नाम एक उदाहरण में उल्लिखित है।

१६. **कामदेव**—सारस्वतेय काव्यपुरुष के अष्टादश शिष्यों में एक। इन्होंने काव्यविद्या के वैनोदिक अधिकरण का निर्माण किया था।

---

१. इस पुस्तक की एक हस्तलिखित प्रति अभी पाकिस्तान में मिली है, जिसका संपादन इटली के एक प्राच्य विद्याशास्त्री कर रहे हैं और यह प्रकाशित होकर शीघ्र निकलनेवाली है।

१७. **कालिदास**—रघुवंश आदि काव्यों एवं अभिज्ञानशाकुन्तल आदि नाटकों के प्रणेता महाकवि कालिदास। इनके समय के सम्बन्ध में अनेक मतभेद हैं। किन्तु, प्रायः ये विक्रम की प्रथम शताब्दी के ही माने गये हैं। इनके रचित तीन नाटक और तीन काव्य हैं। राजशेखर ने इनका मत इनके श्लोकों के आधार पर उद्धृत किया है। राजशेखर ने इनके उदाहरण सर्वाधिक मात्रा में उद्धृत किये हैं।

१८. **काव्यपुरुष**—राजशेखर द्वारा कल्पित सरस्वती का पुत्र और काव्यविद्या-प्रवर्त्तक।

१९. **कुचुमार**—काव्यपुरुष के अट्ठारह शिष्यों में एक। इन्होंने काव्य-विद्या के औपनिषदिक अधिकरण का प्रणयन किया। ये प्राचीन आचार्य हैं। कामशास्त्र में भी इनका नाम है। इनका प्रणीत कुचुमारतन्त्र प्रसिद्ध है।

२० **कुडुंगेश्वर**—यह उज्जयिनी का एक राजा या धनी था। सिद्धसेन की प्रबन्धचिन्तामणि में इसका वर्णन प्राप्त होता है। राजशेखर द्वारा उद्धृत एक उदाहरण में इसका नामोल्लेख है।

२१. **कुबेर**– काव्यपुरुष के अट्ठारह शिष्यों में एक, जिसने शब्द और अर्थ—उभय अलंकारों के विषय पर एक अधिकरण का निर्माण किया था।

२२. **कुमारदास**—'जानकीहरण' नामक महाकाव्य का प्रणेता। कहा जाता है कि यह महाकवि जन्मान्ध था। यह संस्कृत-साहित्य-संसार का उत्कृष्ट और प्रसिद्ध कवि है। इसका समय विक्रम की आठवीं शती है। 'जानकीहरण' काव्य मुद्रित एवं उपलब्ध है। क्षेमेन्द्र ने 'औचित्यविचारचर्चा' में कुमारदास के पद्य उद्धृत किये हैं। जल्हण की 'सूक्तिमुक्तावली' में राजशेखर का पद्य कुमारदास की प्रशस्ति में मिलता है, जिसका भावार्थ है कि 'जानकीहरण' के लिए रघुवंश के रहते हुए कुमारदास और रावण कैसे समर्थ हो सकते हैं? इससे मालूम होता है कि कुमारदास कालिदास के परवर्त्ती हैं। उज्ज्वलदत्त ने उणादिवृत्ति में भी कुमारदास का एक पद्य उद्धृत किया है, जिसमें पतञ्जलि के महाभाष्य में उद्धृत एक पद का चौथे चरण में प्रयोग है। 'शार्ङ्गधरपद्धति' आदि में भी कुमारभट्ट या श्रीकुमार के नाम से कुछ पद्य संगृहीत हैं। पता नहीं, वह यही कुमारदास है या अन्य। इस कवि के अन्धे होने का उल्लेख केवल राजशेखर ने ही किया है।

२३. **कुविन्द**—यह मथुरा का एक राजा था। इसके रनिवास में बोलचाल की भाषा में टकार आदि कठोर वर्णों का उच्चारण करना वर्जित था।

२४. **कौटिल्य**—अर्थशास्त्र का प्रणेता, चन्द्रगुप्त मौर्य का प्रधान मन्त्री, विष्णुगुप्त कौटिल्य[1], जो चाणक्य के नाम से प्रसिद्ध है। इसका समय ईसा के पूर्व चौथी और विक्रम के पूर्व तीसरी शताब्दी है।

---

१. आधुनिक विद्वानों के मतानुसार यह शब्द 'कौटिल्य' न होकर 'कौटल्य' है, जो 'कुटल' से गोत्रापत्य-प्रत्यय के साथ मिलकर बना है।

२५. खशाधिपति—राजशेखर ने काव्यमीमांसा के आठवें अध्याय के जिस श्लोक में खशाधिपति को उद्धृत किया है, उनके सम्बन्ध में बहुत मतभेद है। इस विषय पर स्वतन्त्र रूप से विचार करने की आवश्यकता है। परन्तु, यह खशाधिपति वही है, जिसने समुद्रगुप्त के पुत्र या चन्द्रगुप्त द्वितीय के बड़े भाई रामगुप्त को पराजित कर सन्धि में उसके राज्य का कुछ भाग और उसकी अत्यन्त सुन्दरी पत्नी ध्रुवस्वामिनी या ध्रुवदेवी की माँग की थी। इस अपमानजनक सन्धि से क्रुद्ध होकर रामगुप्त के छोटे भाई चन्द्रगुप्त द्वितीय ने ध्रुवस्वामिनी के वेश में खशाधिपति के पास जाकर शिविर में उसे मार डाला और लौटकर अपने अयोग्य बड़े भाई रामगुप्त को भी मार डाला। पश्चात्, रामगुप्त की विधवा पत्नी ध्रुवस्वामिनी या ध्रुवदेवी से स्वयं विवाह कर राज्य-शासन अपने हाथ में ले लिया। इसका समय विक्रम की चौथी शताब्दी है। यह इतिहास-प्रसिद्ध चन्द्रगुप्त द्वितीय था। इस प्रसिद्ध कथा के आधार पर विशाखदत्त ने 'देवीचन्द्रगुप्त' नाटक लिखा है।

२६. गोनर्दीय—राजशेखर के मत से व्याकरण-महाभाष्य के प्रणेता पतञ्जलि का नाम गोनर्दीय है। इन्होंने पातञ्जल महाभाष्य के उद्धरण गोनर्दीय के नाम से दिये हैं। पूर्वी उत्तरप्रदेश के वर्त्तमान गोंडा जिले का प्राचीन नाम गोनर्द है। ये उसी देश के निवासी होने के कारण गोनर्दीय कहे जाते थे। महाभाष्य के टीकाकार कैयट तथा यादवप्रकाश आदि कोषकारों ने पतञ्जलि को गोनर्दीय और गोणिकापुत्र भी कहा है। किन्तु, ऐतिहासिक विद्वान् अनेक प्रमाणों द्वारा यह सिद्ध कर चुके हैं कि गोनर्दीय तथा गोणिकापुत्र का मत पतञ्जलि ने उद्धृत किया है, अतः ये गोनर्दीय नहीं हैं। यह उनसे भी प्राचीन आचार्य हैं। कामसूत्र में भी इन दोनों आचार्यों के मत उद्धृत हैं।

२७ गौरी—हिमाचल की पुत्री शिवपत्नी पार्वती, जिसने साहित्य-विद्यावधू को जन्म दिया।

२८. चन्द्रगुप्त—यों तो इतिहास-प्रसिद्ध दो-तीन चन्द्रगुप्त हो चुके हैं। किन्तु, काव्यमीमांसा के ऐतिहासिक पद्य में जिस चन्द्रगुप्त का नाम उल्लिखित है, वह समुद्रगुप्त का पुत्र और स्कन्दगुप्त का पिता प्रसिद्ध चन्द्रगुप्त द्वितीय है। इसका राज्यकाल विक्रम-संवत् की तीसरी शताब्दी माना गया है।

२९. चित्रशिख—पुराणवर्णित विद्याधरों का राजा, जिसकी राजधानी मलयाचल के समीप रत्नवती नगरी थी। एक उद्धरण में इनका नामोल्लेख हुआ है।

३०. चित्रसुन्दरी—चित्रशिख की पत्नी। यह नाम भी उद्धृत श्लोक में उल्लिखित है।

३१. चित्रांगद—काव्यपुरुष के अट्ठारह शिष्यों में एक। इसने चित्रकाव्य-सम्बन्धी प्रकरण लिखा है। यह गन्धर्व प्रतीत होता है।

३२. द्रौहिणी—ब्रह्मा के पुत्र का नाम द्रौहिणी है। यह इनके नाम का शब्दार्थ है। ठीक-ठीक पता नहीं कि ये कौन हैं। कुछ विद्वान् नाट्यशास्त्र-प्रणेता भरत को द्रौहिणि कहते हैं।

३३. द्वैपायन—प्रसिद्ध महर्षि व्यास। ये महाभारतसंहिता, ब्रह्मसूत्र आदि के प्रणेता हैं और वेदव्यास के नाम से प्रसिद्ध हैं।

३४. धिषण—देवगुरु वृहस्पति, काव्यपुरुष के शिष्यों में एक। इन्होंने काव्य-विद्या के दोषनिरूपण-अधिकरण की रचना की थी।

३५. ध्रुवस्वामिनी—समुद्रगुप्त के ज्येष्ठ पुत्र रामगुप्त या श्रीशर्मगुप्त की पत्नी, जिसे उसके देवर चन्द्रगुप्त द्वितीय ने विवाहित किया था।

३६. नन्दिकेश्वर—कामसूत्र के प्रणेता नन्दी या नन्दिकेश्वर महादेव के प्रसिद्ध परिचारक थे। राजशेखर ने काव्यपुरुष के अट्ठारह शिष्यों में इनका नामोल्लेख भी किया है। उनके मतानुसार नन्दी ने काव्यविद्या के रसाधिकरण का निर्माण किया था। आयुर्वेद के रसायनाचार्यों में भी नन्दी, प्रथम और प्रधान आचार्य माने गये हैं।

३७. पतञ्जलि—राजशेखर के मत में गोनर्दीय और पतञ्जलि एक ही हैं। किन्तु, वास्तव में गोनर्दीय, पतञ्जलि से प्राचीन वर्त्तमान गोंडा जिले के निवासी थे। यह देशिक नाम है। पतञ्जलि के सम्बन्ध में बहुत भ्रम है। इस नाम के अनेक विद्वान् और ग्रन्थकार हो चुके हैं। व्याकरण-महाभाष्य के रचयिता पतञ्जलि सम्राट् पुष्यमित्र के समकालीन हैं। सम्राट् पुष्यमित्र का समय कुछ लोग ईसा से १२०० वर्ष पूर्व और कुछ लोग १५० वर्ष पूर्व मानते हैं। विषय विचारणीय है।

३८. परमेष्ठी—ब्रह्मा, जो शिवजी के ६४ शिष्यों में एक हैं। इन्होंने सर्वप्रथम काव्यविद्या का अध्ययन किया और सारस्वतेय आदि शिष्यों को उसका उपदेश किया।

३९. पाणिनि—ये व्याकरण अष्टाध्यायी-सूत्रों के प्रणेता प्रसिद्ध वैयाकरण थे। इनका जन्म पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्त के 'शलातुर' ग्राम में हुआ था। यह ग्राम आज भी पेशावर ज़िले में 'लाहुर' नाम से प्रसिद्ध है। इनकी माता का नाम दाक्षी था। प्राचीन ग्रन्थों में इन्हें दाक्षीपुत्र कहा है। बृहत्कथामञ्जरी तथा कथासरित्सागर के अनुसार इन्होंने उपाध्याय उपवर्ष से व्याकरण-शास्त्र का अध्ययन किया था। राजशेखर के उद्धृत श्लोक (काव्यमीमांसा, अ० १०) के आधार पर इनके व्याकरणशास्त्र की परीक्षा पाटलिपुत्र में हुई थी। इनके सूत्रों पर वररुचि ने वार्तिक और पतञ्जलि ने महाभाष्य लिखा है। इतिहासकारों के मत से वर्ष और उनके छोटे भाई उपवर्ष से पाणिनि ने व्याकरण नहीं पढ़ा था। उनके गुरु का नाम महेश्वर था। किन्तु, निश्चित नहीं। इनका समय ईसा से पूर्व चौथी शताब्दी माना जाता है। इन्होंने 'जाम्बवतीविजय' महाकाव्य भी लिखा है, जो अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ है। यह काव्य १८ सर्गों में था। इस काव्य के अनेक श्लोक 'सुभाषितावली' आदि सूक्तिग्रंथों में पाये जाते हैं। इनके श्लोकों की रचना को देखते हुए आश्चर्य होता है कि शुष्क व्याकरणशास्त्र के प्रणेता और मुनि कहे जानेवाले पाणिनि का काव्यरचना पर कितना अनुपम अधिकार था। इनके इस काव्य की चर्चा 'सूक्तिमुक्तावली' नामक सुभाषित-संग्रह में उद्धृत राजशेखर के इस पद्य से प्राप्त होती है—

नमः पाणिनये तस्मै यस्मादाविरभूदिह ।
आदौ व्याकरणं काव्यमनु जाम्बवतीजयम् ॥

पाणिनि के समय के सम्बन्ध में निश्चित मत नहीं है। 'व्याकरणशास्त्र का इतिहास' नामक ग्रन्थ के लेखक पण्डित युधिष्ठिर मीमांसक तथा 'भारतवर्ष का इतिहास' के लेखक पण्डित भगवद्दत्त पाणिनि का समय विक्रम से २८०० वर्ष पूर्व मानते हैं। इस सम्बन्ध में उन्होंने अनेक प्रमाण प्रदर्शित किये हैं। अद्यतन इतिहासविद् पाणिनि को नन्दों के समकालीन मानते हैं।

४०. **पाणिनीयाः** - पाणिनि के मतानुयायी आचार्य और विद्वान्।

४१. **पराशर**—काव्यपुरुष के अट्ठारह शिष्यों में एक। इन्होंने काव्यविद्या के अतिशयोक्ति नामक अधिकरण का निर्माण किया था

४२. **पाल्यकीर्त्ति**—ये जैन सम्प्रदाय के प्रसिद्ध आचार्य थे। इन्होंने शाकटायन व्याकरण के आधार पर नवीन जैन व्याकरण की रचना की। संस्कृत-वाङ्मय में शाकटायन नाम के दो वैयाकरण हुए हैं। एक प्राचीन शाकटायन ऋषि और दूसरे अर्वाचीन शाकटायन पाल्यकीर्त्ति। इनके व्याकरण का नाम 'शब्दानुशासन' है। आचार्य पाल्यकीर्त्ति ने इस अपने व्याकरण पर 'अमोघा' नामक वृत्ति (टीका) की है। उसने अपने संरक्षक महाराज अमोघदेव के नाम पर इसका नाम रखा है। अमोघदेव या अमोघवर्ष (प्रथम) सं० ८७१ में सिंहासनारूढ हुए और उनका एक दानपत्र सं० ६२४ का प्राप्त हुआ है। अतः, निश्चय ही पाल्यकीर्त्ति या अभिनव शाकटायन का यही समय है। इनका मत और एक पद्य राजशेखर ने काव्यमीमांसा में उद्धृत किया है। यह पद्य भोजप्रबन्ध और प्रबन्धचिन्तामणि में भी उद्धृत किया गया है। पाल्यकीर्त्ति की प्रशंसा में वादीभसिंह ने पार्श्वनाथचरित में एक श्लोक लिखा है, जिसमें इनका महावैयाकरण होना सिद्ध होता है—

कुतस्त्या तस्य सा शक्तिः पाल्यकीर्त्तेर्महौजसः ।
श्रीपदश्रवणं यस्य शाब्दिकान् कुरुते जनान् ॥

प्रक्रियासंग्रह के प्रारम्भ में उसके प्रणेता अभयचन्द्र ने भी लिखा है—

मुनीन्द्रमभिवन्द्याहं पाल्यकीर्त्ति जिनेश्वरम् ।
मन्दबुद्ध्यनुरोधेन प्रक्रियासङ्ग्रहं ब्रुवे ॥

पाल्यकीर्त्ति प्रसिद्ध वैयाकरण होने के साथ साहित्यशास्त्र के मर्मज्ञ विद्वान और कवि भी थे। ये राजशेखर के कुछ पूर्वज या समकालीन थे।

४३. **पिंगल**—छन्दःशास्त्र के प्रधान और प्रथम आचार्य पिंगल प्रसिद्ध हैं। छन्दःशास्त्र का दूसरा नाम पिंगलशास्त्र भी है। इनके सम्बन्ध में लोगों का मत है कि ये पाणिनि के अनुज थे। राजशेखर के द्वारा उद्धृत श्लोक में पाणिनि के साथ इनका नाम भी आया है। अर्थात्, इनके छन्दःशास्त्र का परीक्षण भी पाटलिपुत्र में हुआ था। इनका समय भी विक्रम से २८०० वर्ष पूर्व माना गया है।

४४. **पुलस्त्य**—काव्यपुरुष के अट्ठारह शिष्यों में एक। इन्होंने काव्यविद्या

के वास्तव अधिकरण (स्वभावोक्ति) का प्रणयन किया है। ये ब्रह्मा के मानसपुत्र थे।

४५. प्रचेता—काव्यपुरुष के अट्ठारह शिष्यों में एक। इन्होंने अनुप्रास-सम्बन्धी अधिकरण का प्रणयन किया है। मूल पुस्तक में 'प्रचेतायनः' पाठ है, जो लेखक का भ्रम प्रतीत होता है। यह नाम वरुण का है।

४६. प्राचेतस—ऋषि मित्रावरुण का नाम प्रचेतस् है। उनके पुत्र वाल्मीकि प्राचेतस हैं।

४७. बार्हस्पत्य—बृहस्पति के मतानुयायी राजनीतिज्ञ आचार्य बार्हस्पत्य कहे जाते हैं।

४८. भरत—नाट्यशास्त्र या नाट्यवेद के प्रणेता भरत मुनि। ये नाट्यशास्त्र के आचार्य या प्रवर्त्तक हैं। इनके समय के सम्बन्ध में ऐतिहासिक विद्वानों के भिन्न-भिन्न मत हैं, फिर भी विक्रम के पूर्व तीसरी या दूसरी शताब्दी से इधर इनका समय नहीं माना जा सकता। आचार्य पाणिनि ने भी अपने पूर्वकालीन नाट्यसूत्रों का उल्लेख किया है, उसमें इनका नाम नहीं आया। अतः, ये पाणिनि के परवर्त्ती हैं। नाटककार भास, कालिदास आदि ने भरतवाक्य का उल्लेख किया है। अतः, उनसे पूर्ववर्त्ती हैं। उनकी गणना नाट्यवेद के रचयिता मुनियों में की गई है। इस दृष्टि से ये अति प्राचीन हैं।

४९. भवानी—पार्वती का नाम भवानी है, जिसने 'साहित्य-विद्यावधू' की सृष्टि की।

५०. भारवि—संस्कृत-साहित्य-संसार के प्रसिद्ध महाकाव्य किराताजुनीय के प्रणेता। इनके सम्बन्ध में अनेक दन्तकथाएँ प्रचलित हैं। ये कालिदास के परवर्त्ती विक्रम की पाँचवीं शताब्दी के महाकवि हैं। ६३१ विक्रम-संवत् में लिखे गये पुलिकेशी के शिलालेख में भारवि का नाम आया है—

येनाऽयोजिनवेश्म स्थिरमर्थविधौ विवेकिना जिनवेश्म।
स विजयतां रविकीर्त्तिः कविताश्रितकालिदासभारविकीर्त्तिः॥

भारवि के सम्बन्ध में 'अवन्तिसुन्दरी' कथा में लिखा है कि इसका नाम दामोदर था। यह कौशिकगोत्रीय नारायणस्वामी का पुत्र था। यह अचलपुर (एलिचपुर) का निवासी था और नरेन्द्र—विष्णुवर्द्धन तथा काञ्ची के पल्लव राजा सिंहविष्णुशर्मा का सभापण्डित था। सन् ५७४ ई० में लिखे गये 'आयहोल' के शिलालेखों में कालिदास के साथ भारवि का नाम आया है। वह श्लोक ऊपर कहा गया है। सन् ६६० ई० के लगभग निर्मित काशिकावृत्ति में भी भारवि का निर्देश है। इससे १०० वर्ष पूर्व भारवि का होना निश्चित है। अतः ५०० से ५५० ई० तक के मध्यकाल में भारवि का निश्चित समय माना जा सकता है।

भारवि संस्कृत-कवियों में प्रथम श्रेणी के कवि हैं। इनकी कविता अत्यन्त उत्कृष्ट, गम्भीर और अर्थयुक्त होती है। अलंकारग्रन्थों में प्रायः इनके उद्धरण प्राप्त होते हैं। राजशेखर के उद्धृत श्लोक से पता चलता है कि इनके काव्य की परीक्षा उज्जयिनी में हुई थी।

५१. **मंगल**—मंगल नामक विद्वान् आचार्य के मत का उद्धरण काव्यमीमांसा में चार बार किया गया है। ये मंगल नामक विद्वान् कौन हैं? पता नहीं चलता। अभी तक इनका कोई प्रबन्ध नहीं प्राप्त हुआ। सम्भव है, राजशेखर को इनका ग्रन्थ प्राप्त हुआ हो। 'सदुक्तिकर्णामृत' नामक सूक्तिसंग्रह में मंगल के नाम से दो पद्य उद्धृत हैं। इनमें प्रथम पद्य के अवलोकन से प्रतीत होता है कि ये भी जैन विद्वान् थे; क्योंकि इसमें जिन भगवान् की स्तुति की गई है। इनका दूसरा पद्य इस प्रकार है—

निष्किञ्चनत्वाद्विधुरस्य साधोरभ्यर्थितस्यार्थिजनस्य किञ्चित्।
नास्तीति वर्णा मनसि भ्रमन्तो निर्गन्तुमिच्छन्त्यसुभिः सहैव॥

५२ **मानवाः**—मनु के अनुयायी आचार्य मानव कहे जाते हैं।

६३-**मेण्ठ, भर्त्तृमेण्ठ**-मेण्ठराज या भर्त्तृमेण्ठ के नाम से प्रसिद्ध इस महाकवि ने 'हयग्रीववध' नामक महाकाव्य की रचना की है। कश्मीर के इतिहास 'राजतरंगिणी' में इनका वर्णन आया है। कश्मीर के राजा मातृगुप्त की सभा में उपस्थित होकर इन्होंने अपने नवनिर्मित काव्य को सुनाया। जबतक काव्य की समाप्ति न हुई, तबतक राजा ने काव्य के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं कहा। सम्पूर्ण काव्य सुन लेने पर राजा ने सोने का थाल मँगाकर उस काव्य को उसमें रखवा दिया, जिससे काव्य का लावण्य (रस) छलककर पृथ्वी पर न गिर जाय। राजा के इस सम्मान से कवि को महान् आदर प्राप्त हुआ। दे० राजतरंगिणी, तरंग ३ श्लो० २६०—२६२।

महाकवि मेण्ठ कालिदास के समान संस्कृत-कविसमाज में अत्यन्त समादृत हैं। मेण्ठ नाम संस्कृत में हाथीवान या महावत का है। यह कवि हाथीवानों का सरदार था। अतः, इसका नाम मेण्ठराज या भर्त्तृमेण्ठ है। श्रीकण्ठचरित महाकाव्य के प्रणेता महाकवि मंख ने लिखा है—'मेण्ठराज के स्वर्ग-रूपी हाथी के मस्तक पर बैठ जाने के अनन्तर'। राजशेखर के एक अन्य पद्य में, जो सूक्तिमुक्तावली में उद्धृत है, लिखा है—

वक्रोक्त्या मेण्ठराजस्य वहन्त्या सृणिरूपताम्।
व्याधूता इव धुन्वन्ति मूर्द्धानं कविकुञ्जराः॥

इससे भी इसका हाथीवान होना सिद्ध होता है।

भर्त्तृमेण्ठ, कश्मीर के राजा मातृगुप्त का समकालीन था। मातृगुप्त का समय ईसा की छठी शताब्दी का उत्तर भाग है। वही समय भर्त्तृमेण्ठ का भी निश्चित है। भर्त्तृमेण्ठ का 'हयग्रीववध' अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ; किन्तु मम्मटभट्ट, क्षेमेन्द्र आदि आलोचकों ने इस काव्य के अनेक उद्धरण दिये हैं। राजशेखर ने तो इन्हें अपना आदर्श ही माना है। बालरामायण में उन्होंने लिखा है—

बभूव वल्मीकभवः कविः पुरा ततः प्रपेदे भुवि भर्त्तृमेण्ठताम्।
स्थितः पुनर्यो भवभूतिरेखया स वर्त्तते सम्प्रति राजशेखरः॥

अर्थात्, पहले वाल्मीकि कवि हुए, वे पुनः भर्त्तृमेण्ठ के रूप में अवतीर्ण हुए, तदनन्तर जो भवभूति के नाम से प्रसिद्ध थे, वे अब राजशेखर के रूप में वर्त्तमान हैं।

इसके अतिरिक्त अनेक कवियों ने विविध रूपों में भर्त्तृमेण्ठ की प्रशंसा की है।

मालूम होता है कि बहुत काल तक यह काव्य उपलब्ध रहा है। इधर कुछ ही शताब्दियों में वह अप्राप्य हो गया है। राजशेखर के उद्धृत श्लोक के अनुसार मेण्ठराज के काव्य की परीक्षा उज्जयिनी में हुई थी। इस काव्य के कुछ श्लोक राजशेखर ने काव्यमीमांसा में उद्धृत किये हैं।

५४. मेधाविरुद्र—राजशेखर ने इन्हें जन्मान्ध कवि कहा है। इनका नाम रुद्रट-कृत काव्यालंकार के टीकाकार जैनसाधु नमि ने भी उद्धृत किया है। वे लिखते हैं—ननु **दण्डिमेधाविरुद्रभामहादिकृतानि सन्त्येवालङ्कारशास्त्राणि**'; अर्थात् 'दण्डी, मेधाविरुद्र, भामह आदि प्रणीत अलंकारशास्त्र तो हैं ही।' इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि मेधाविरुद्र अलंकारशास्त्र के प्रणेता था। भामह ने भी अपने अलंकारशास्त्र में (२. ४०. ८८) मेधावि का नाम लिखा है। इससे यह भी जाना जा सकता है कि यह भामह से भी प्राचीन था। अतः, यह काव्यालंकार-प्रणेता रुद्रट से भिन्न है। विक्रम की पाँचवीं शताब्दी से नीचे इसका अस्तित्व नहीं माना जा सकता।

कुछ लोगों का सन्देह है कि मेधावी और रुद्र ये दो नाम हैं। इसपर हमारा यह निश्चित मत है कि यह एक ही नाम रुद्र है और मेधावी उसका विशेषण[1] है। कारण यह कि रुद्र जन्मान्ध था और कवि तथा आलंकारिक भी था। अतः, उसका एकमात्र आधार उसकी मेधा या स्मरणशक्ति ही थी, जो प्रायः अन्धों में स्वभावतः हुआ करती है। इसी कारण उसके नाम के साथ मेधावी शब्द विशेषण के रूप में प्रयुक्त होता था। यह रुद्र कवि कौन है, ठीक-ठीक पता नहीं चलता। इसके जन्मान्ध होने का रहस्य राजशेखर के उल्लेख से ही मिलता है। सम्भव है, उनके समय में यह किंवदन्ती प्रचलित हो। यह राजशेखर से ५-६ सौ वर्ष प्राचीन मालूम होता है। भामह के भी पूर्वकालीन होने के कारण यह चतुर्थ शतक का पूर्वकालीन कवि है।

पुरुषोत्तमदेव के त्रिकाण्डशेषकोष में व्याडि के नाम में मेधावी आता है। विन्ध्यस्थ, नन्दिनीसुत और मेधावी—ये तीन नाम संग्रहकार व्याडि के लिखे गये हैं। यह व्याडि, पाणिनि का मामा और विक्रम-संवत्सर के आरम्भ होने के लगभग २८०० वर्ष प्राचीन और भिन्न है।

शृङ्गारतिलक-प्रणेता रुद्र और काव्यालङ्कार-प्रणेता कश्मीर-निवासी रुद्रट इस मेधावी रुद्र से पृथक् और बहुत अर्वाचीन हैं।

५५. यायावरीय—यह राजशेखर का कुलनाम है। देखिए, इस पुस्तक की 'राजशेखर' शीर्षक भूमिका।

५६. राजशेखर—देखिए, इस पुस्तक की 'राजशेखर' शीर्षक भूमिका।

५७. रुद्रट—काव्यालंकार के प्रणेता रुद्रट कश्मीर-निवासी थे। ये अलकार-शास्त्र के प्रसिद्ध और प्रामाणिक विद्वान् थे। इनका दूसरा नाम शतानन्द था। इनके

---

१. भामह (२-४०, ८८) ने दो स्थानों में 'मेधावी' का ही प्रयोग किया है, न कि 'मेधाविरुद्र' या 'रुद्र' का। 'काव्यादर्श' के टीकाकार सिंहलाचार्य रत्नश्रीज्ञान ने काव्यादर्श के २-२ में 'मेधाविरयामवादि' का प्रयोग किया है। अतः, यही नाम है, न कि विशेषण।

पिता का नाम वामक था। यह सामवेदी ब्राह्मण था। इनका समय विक्रम की दशम शताब्दी का पूर्व भाग हो सकता है। ये राजशेखर से प्राचीन हैं। राजशेखर ने काकु-निरूपण में इनका मत उद्धृत करके उसका खंडन किया है। रुद्रट के मत में काकु नामक अलंकार है। यायावरीय राजशेखर उसे पाठधर्म मानते हैं।

५८. रूप—रूप नामक कवि की रचना और उसके समय का पता नहीं चलता। ये प्राचीन कवियों में हैं। पाटलिपुत्र में हुई काव्यपरीक्षा में रूप के काव्य की परीक्षा हुई थी। 'उज्ज्वलनीलमणि' नामक अलंकार-ग्रन्थ के प्रणेता रूपगोस्वामी इससे भिन्न और राजशेखर के परवर्त्ती हैं।

५९. वररुचि—वररुचि नाम के अनेक विद्वान् हुए हैं। पाणिनि-सूत्रों पर वार्त्तिक लिखनेवाले वैयाकरण वररुचि, जिन्हें कात्यायन भी कहते हैं, महाभाष्यकार पतंजलि से पूर्वकालीन हैं। विक्रमादित्य की सभा के नवरत्नों में भी वररुचि नामक कवि का नाम आता है। ये वररुचि वैयाकरण वररुचि से भिन्न मालूम होते हैं। राजशेखर के उद्धृत श्लोक में जिस वररुचि का नाम लिया गया है, वह व्याकरण-शास्त्रकारों की श्रेणी में आया है। कुछ लोगों का मत है कि ये कवि भी थे। महाभाष्यकार पतंजलि ने **वाररुचं काव्यम्** लिखकर उनका कवि होना प्रमाणित किया है। वररुचि के नाम से कुछ श्लोक सुभाषित-संग्रहों में उद्धृत किये गये हैं। वार्त्तिककार वररुचि अति प्राचीन हैं। प्राकृतप्रकाश और कोषकार वररुचि विक्रमादित्य के समकालीन हैं। इनकी कविताओं को देखने से मालूम होता है कि ये विक्रम के समकालीन ही हैं।

६०. वर्ष—उपाध्याय वर्ष व्याकरणशास्त्र के आचार्य और पाणिनि के पूर्व-कालीन हैं। कथासरित्सागर में इनकी चर्चा है। इनका कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है।

६१. वाक्पतिराज—ये प्रसिद्ध प्राकृत महाकाव्य 'गौडवहो' (गौडवध) के कर्त्ता कन्नौज के राजा यशोवर्मा के सभारत्न थे। राजतरंगिणी में कश्मीर के राजा ललितादित्य के साथ हुए युद्ध की चर्चा करते हुए कल्हण ने लिखा है कि—

कविर्वाक्पतिराजश्रीभवभूत्यादिसेवितः ।
जितो ययौ यशोवर्मा तद्गुणस्तुतिवन्दिताम् ॥

यशोवर्मा का समय विक्रम-संवत् ७९० से ८१० तक है। इनका काव्य सम्पूर्ण उपलब्ध नहीं है। ऐतिहासिक विद्वानों के अनुसार विक्रम-संवत् ७९८ (७४० ई०) में कश्मीर पर आक्रमण किया और वि० ८१० के लगभग उसकी मृत्यु हुई। वाक्पतिराज का भी यही समय है। 'उदयसुन्दरीकार' ने इसे 'सामन्तजन्मा' (सामन्तपुत्र) कहा है।

६२. वामनीय—काव्यालंकारसूत्र के प्रणेता कश्मीरी विद्वान् वामन प्राचीन आलंकारिक विद्वान् हैं। आचार्य वामन कश्मीर के राजा जयादित्य के मन्त्री थे। कल्हण ने लिखा है—

मनोरथः शङ्खदत्तश्चटकः सन्धिमांस्तथा ।
बभूवुः कवयस्तस्य वामनाद्याश्च मन्त्रिणः ॥ (रा० त०, ४-४९७)

वामन के मतानुयायी आलंकारिक विद्वानों को राजशेखर ने वामनीय शब्द से

स्मरण किया है। वामन रीतिमार्ग के प्रवर्त्तक थे। उन्हीं के काव्यालंकार का सूत्र है—**रीतिरात्माकाव्यस्य**। वामन ने अपने काव्यालंकार की कविप्रिया नामक टीका स्वयं लिखी है। यह वामन, उद्भट, भामह आदि के समान समादरणीय आचार्य है। यह प्रायः भट्ट उद्भट का समकालिक और उसका प्रतिस्पर्द्धी था। यह कश्मीर के राजा जयापीड का मन्त्री था। जयापीड का राज्यकाल विक्रम के नवम शतक का पूर्व भाग (७७९—८१३ ई०) था। भट्ट उद्भट इसी का सभापति था। वामन के मतानुयायियों में भट्ट मुकुल प्रधान था। इसका समय ११२५ ई० है।

६३. **वाल्मीकि**—देखिए. प्राचेतस।

६४. **वासुदेव**—राजशेखर ने काव्यगोष्ठी-प्रवर्त्तक एवं स्वयं काव्य-निर्माण करनेवाले राजाओं में वासुदेव का नाम लिखा है। भारतीय इतिहास में वासुदेव नाम के दो राजाओं की चर्चा आई है। एक तो काण्ववंशीय ब्राह्मण वासुदेव था, जो तत्कालीन राजा देवभूति का प्रधान मन्त्री और सेनापति था। वह अकर्मण्य राजा देवभूति को मारकर स्वयं सिंहासन पर बैठा था। इसे वासुदेव (प्रथम) कहा जाता है। इसका समय ईसा से पूर्व प्रथम शतक के लगभग माना जाता है।

दूसरे वासुदेव द्वितीय का नाम इतिहास में आता है, जो कुशान-वंश का राजा था। इसका समय विक्रम द्वितीय शताब्दी (१४०-१७३ ई० सन्) माना जाता है। अतः, निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि राजशेखर द्वारा उल्लिखित वासुदेव कौन है, प्रथम या द्वितीय। हमारे विचार से यह वासुदेव प्रथम है। इसके समय प्राचीन संस्कृत-वाङ्मय का प्रतिसंस्करण, सम्पादन और निर्माण हुआ था। यह स्वयं विद्वान् और विद्वत्प्रेमी था।

६५. **वैकुण्ठ**—ये श्रीकण्ठ के चौंसठ शिष्यों में एक थे। यह विष्णु का नाम है।

६६. **व्याडि**—ये व्याकरणशास्त्र के प्रसिद्ध आचार्य हैं। इन्होंने 'संग्रह' नामक प्रसिद्ध व्याकरण-ग्रंथ बनाया। कथासरित्सागर के प्रथम कथापीठ-लंबक में इनका परिचय मिलता है। व्याडि ने व्याकरणशास्त्र पर एक लक्ष श्लोकों का 'संग्रह' नामक ग्रन्थ लिखा था। इसके अतिविस्तृत होने के कारण इसका प्रचार न हो सका। भर्तृहरि ने अपने वाक्यपदीय नामक ग्रंथ के प्रारम्भ में उसकी चर्चा की है और लिखा है कि इन्होंने १४ हजार विषयों का विवेचन किया था। अतः, ग्रन्थ का इतना विस्तृत होना सम्भव है। व्याडि का दूसरा नाम दाक्षायण है और पाणिनि की माता का नाम दाक्षी। अतः, व्याडि को दाक्षी का भाई, अर्थात् पाणिनि का मामा कहा जाता है। व्याडि वाहीक या पंजाबी था। व्याडि का समय पाणिनि का समय है। दोनों प्रायः समकालीन हैं। पाणिनि ने व्याडि का नामोल्लेख अपनी अष्टाध्यायी में किया है।

६७. **शिशुनाग**—यह शिशुनाग-वंश का प्रवर्त्तक राजा था। पुराणों में में लिखा है कि यह वाराणसी का राजा था और अन्तिम अवस्था में पुत्र को राज्य देकर

गिरिव्रज चला गया था। शिशुनाग वंश के दस राजाओं का नाम आता है : **शैशुनागा नृपा दश**। यह ईसवी-सन् ७-८ सौ वर्ष प्राचीन राजवंश का प्रवर्त्तक था।

६८. **शूद्रक**—भारतीय इतिहास में शूद्रक एक प्रहेलिका बन गया है। इस पर अनेक ऐतिहासिक विद्वानों ने भिन्न-भिन्न कल्पनाएँ की हैं। राजा शूद्रक का बनाया हुआ मृच्छकटिक नामक प्रकरण संस्कृत-साहित्य-संसार में अपना उच्च स्थान रखता है। इस नाटक की भूमिका या प्रस्तावना में शूद्रक का विस्तृत परिचय दिया गया है। उक्त परिचय के देखने से प्रतीत होता है कि शूद्रक ब्राह्मण जाति का था। उसने ऋग्वेद और सामवेद का अध्ययन किया था। उसने एक अश्वमेध यज्ञ किया था और एक सौ वर्ष दस दिनों की आयु प्राप्तकर अन्त में अग्नि में प्रवेश किया।

इतिहास के आधार पर पुष्यमित्र नामक ब्राह्मण राजा हुआ था ; जिसने अश्वमेध यज्ञ किया। पतंजलि के व्याकरण-महाभाष्य में लिखा है— **इह पुष्यमित्रं याजयामः**। इससे प्रतीत होता है कि पुष्यमित्र के अश्वमेध में पतंजलि भी उपस्थित थे। पुष्यमित्र के पुत्र का नाम अग्निमित्र था। यह अग्निमित्र कालिदास के मालविकाग्निमित्र नामक नाटक का प्रधान नायक है। अमरकोष के टीकाकार क्षीरस्वामी ने शूद्रक के पर्यायवाची शब्दों में लिखा है—

.......विक्रमादित्यः साहसाङ्कः शकान्तकः।
शूद्रकस्त्वग्निमित्रो वा हालः स्यात् सातवाहनः॥

इससे यह माना जा सकता है कि अग्निमित्र ही शूद्रक था। अग्निमित्र शुंग-गोत्रीय[1] ब्राह्मण था। शुंग गोत्रवालों का वेद साम है। इसलिए, शूद्रक ने सामवेद भी पढ़ा था। दूसरे, मालविकाग्निमित्र में कालिदास लिखते हैं कि भास, सौमिल्ल एवं कविपुत्र आदि कवियों के प्रबन्धों को छोड़कर कालिदास की रचना के लिए जनता का इतना आदर क्यों है।

इससे प्रतीत होता है कि भास, सौमिल्ल एवं कविपुत्र, कालिदास के कुछ पूर्व-कालीन या समकालीन थे। भास और सौमिल्ल इन दोनों कवियों का सम्बन्ध शूद्रक के साथ था। शूद्रक का मृच्छकटिक भास के 'दरिद्रचारुदत्तम्' के आधार पर लिखा गया है। रामिल और सौमिल्ल नामक दो कवियों ने 'शूद्रक-कथा' नाम की रचना की थी, जो सम्भवतः शूद्रक का जीवन-चरित्र मालूम होता है। राजशेखर ने सूक्ति-मुक्तावली में लिखा है—

तौ शूद्रककथाकारौ वन्द्यौ रामिलसोमिलौ।
ययोर्द्वयोः काव्यमासीदर्द्धनारीश्वरोपमम्॥

अर्थात्, शूद्रक-कथा के रचयिता रामिल और सोमिल दोनों वन्दनीय हैं, जिन दोनों का काव्य अर्धनारीश्वर के समान था। अर्थात्, दोनों ने मिलकर उसे पूरा किया था।

---

१. गोत्र शुङ्ग नहीं, प्रत्युत भरद्वाज है, जिसकी एक शाखा शुङ्ग है। मिला० 'विकर्णशुङ्गाच्छगलाद् वत्स-भरद्वाजात्रिषु' (अष्टा० ४, १, ११७)। ये शुङ्गराजा भरद्वाजगोत्री शौङ्ग ब्राह्मण थे, अतएव यजुर्वेदी थे।

इससे प्रतीत होता है कि भास, रामिल और सोमिल शूद्रक के समय उपस्थित थे, जिसका कालिदास ने स्मरण किया है। इस सूत्र से भी यह अनुमान किया जाता है कि सम्भवतः कालिदास का अग्निमित्र ही शूद्रक हो।

६९. **शेष**—काव्यपुरुष के अट्ठारह शिष्यों में एक, जिन्होंने शब्दश्लेष पर एक स्वतन्त्र अधिकरण का निर्माण किया।

७०. **श्यामदेव**—काव्यमीमांसा में तीन बार इनका मत उद्धृत किया गया है। ऐसा लगता है कि ये राजशेखर के समकालीन और उन्हीं की गोष्ठी के विद्वान हों। इनका ग्रन्थ या नाम राजशेखर के अतिरिक्त प्राचीन या अर्वाचीन ग्रन्थों में नहीं देखा गया। 'मुकुटताडितकम्' नाटक के प्रणेता श्यामलक इनसे भिन्न हैं। काव्यादर्श की टीका 'रत्नश्री' में श्यामवादी आचार्य का नाम आया है (काव्या०, २-२)।

७१. **श्रीकंठ**—शिवजी का नाम है, जो काव्यविद्या के आदि प्रवर्त्तक हैं। सर्वप्रथम इन्होंने ही वैकुंठ आदि चौंसठ शिष्यों को इस विद्या का उपदेश किया।

७२. **श्रीशर्मगुप्त**—यह सम्राट् समुद्रगुप्त का ज्येष्ठपुत्र एवं सम्राट् चन्द्रगुप्त द्वितीय का ज्येष्ठ भाई था। इसका समय चौथी शताब्दी है।

७३. **सरस्वती**—प्रजापति की पत्नी और काव्यपुरुष की माता।

७४. **सहस्राक्ष**—काव्यपुरुष के अष्टादश शिष्यों में एक। इन्होंने 'कविरहस्य' नामक प्रथम अधिकरण की रचना की।

७५. **सातवाहन**—यह संस्कृत संसार का प्रसिद्ध कवि सातवाहन या शालवाहन-वंश में उत्पन्न 'हाल' नामक राजा था। इसे सातवाहन या शालवाहन कहते हैं। यह आन्ध्र-भृत्यवंश का १७वाँ राजा था। सातवाहन वंश का नाम था। कथासरित्सागर में सातवाहन के अर्थ के सम्बन्ध में लिखा है—

सातेन यस्माद्वूढोऽभूत्तस्मात्तं सातवाहनम्।
नाम्ना चकार कालेन राज्ये चैनं न्यवेशयत्॥

अभिधानचिन्तामणिकोष की टीका में सातवाहन शब्द का अर्थ इस प्रकार किया है—

सातं दत्तसुखं वाहनं यस्य सातवाहनः शालवाहनोऽपि।
(अभि० चि० ३. ३. ३७५)

अमरकोष के टीकाकार क्षीरस्वामी ने भी—**हालः स्यात् सातवाहनः** लिखा है।

सातवाहन-हाल ने गाथाकोष या गाथासप्तशती नामक प्राकृत की प्रकीर्ण गाथाओं का एक संग्रह लिखा है। यह महाराष्ट्री प्राकृत में है। सातवाहन कुन्तल देश का राजा था, जो महाराष्ट्र के अन्तर्गत है। कुछ लोगों के मत से इसकी राजधानी गोदावरी नदी के तटपर स्थित प्रतिष्ठानपत्तन (पैठन) नगर माना जाता है। हाल की गाथाएँ अत्यधिक महत्त्वपूर्ण और उच्च कोटि की हैं। ध्वन्यालोक, काव्यप्रकाश आदि आलंकारिक साहित्य-ग्रन्थों में

ये गाथाएँ उद्धृत की गई हैं। इन्हीं गाथाओं के आधार पर आचार्य गोवर्द्धन ने संस्कृत में आर्यासप्तशती लिखी है।

सातवाहन ने अपने अन्तःपुर में प्राकृत-भाषा बोलने का नियम बना दिया था। सातवाहन स्वयं विद्वान् एवं कवि होने के कारण कवियों का सत्कारकर्त्ता और कविगोष्ठियों का प्रवर्त्तक था। श्रीपालित नामक महाकवि उसके सभारत्न थे। यह अन्यान्य कवियों का आश्रयदाता था। इसका समय ईसा की प्रथम शताब्दी या उसके पूर्व माना गया है।

सातवाहन की गाथासप्तशती के सम्बन्ध में अनेक महाकवियों की प्रशस्तियाँ मिलती हैं। महाकवि बाण ने हर्षचरित के प्रारम्भ में लिखा है—

अविनाशिनमग्राम्यमकरोत् सातवाहनः।
विशुद्धजातिभिः कोषं रत्नैरिव सुभाषितैः॥

अर्थात्, सातवाहन ने अविनाशी, उत्कृष्ट एवं विशुद्ध जाति के सूक्तिरत्नों का संग्रह करके सुन्दर कोष का निर्माण किया था।

इसी प्रकार, संस्कृत और प्राकृत के अनेक महान् काव्यों में सातवाहन और उसकी गाथाओं की चर्चा मिलती है। कामशास्त्र, हर्षचरित आदि में इनका नाम उद्धृत है।

७६ **सारस्वतेय**—ब्रह्मा के सरस्वती से उत्पन्न पुत्र काव्यपुत्र सारस्वतेय थे। बाणभट्ट ने हर्षचरित में दधीचि ऋषिद्वारा सरस्वती से उत्पन्न पुत्र का नाम सारस्वत रखा है। वायुपुराण, महाभारत आदि में सारस्वत ऋषि का नाम आता है; किन्तु राजशेखर की कल्पना इन सबसे भिन्न है।

७७ **साहसाङ्क**—इतिहास में साहसाङ्क विक्रमादित्य का नाम है। अमरकोष-टीकाकार क्षीरस्वामी ने विक्रमादित्य को साहसांक लिखा है। इतिहास-लेखकों की धारणा है कि विक्रमादित्य स्वतन्त्र राजा नहीं था। समुद्रगुप्त या उसके पुत्र चन्द्रगुप्त द्वितीय ने विक्रमादित्य की उपाधि धारण की थी। बहुत लोगों का मत है कि उज्जयिनी का राजा विक्रमादित्य, परम वीर, प्रतापी और साहसी सम्राट् था। उसने शकों को पराजित करके अपना विक्रम-संवत् प्रचलित किया था; किन्तु ईसा की प्रथम शताब्दी में लिखी गई सातवाहन की गाथासप्तशती में एक गाथा मिली है, जिसमें विक्रमादित्य का नाम आया है—

संवाहनसुखरसतोषितेन ददता तव करे लक्षम्।
चरणेन विक्रमादित्यचरितमनुशिक्षितं तस्याः॥

इस गाथा से यह प्रतीत होता है कि विक्रमादित्य ने पैर दबानेवाले किसी सेवक पर प्रसन्न होकर उसे एक लाख रुपयों का पुरस्कार दे दिया था।

इससे यह सिद्ध है कि यह विक्रमादित्य सातवाहन या शालवाहन से पूर्व-कालीन था। यह संस्कृत-भाषा का अत्यन्त भक्त, विद्वानों का अनुरागी और स्वयं भी महाकवि था। राजशेखर ने लिखा है कि इस साहसाङ्क के अन्तःपुर में संस्कृत-भाषा ही बोली जाती थी। सरस्वतीकण्ठाभरण में भोज ने लिखा है—

केऽभूवन्नाढ्यराजस्य राज्ये प्राकृतभाषिणः।
काले श्रीसाहसाङ्कस्य के न संस्कृतवादिनः ॥

(सरस्वतीकण्ठाभरण, २—१५,)

साहसाङ्क स्वयं कवि था। कवियों की गणना में साहसाङ्क का नाम भी आया है।

भासो रामिलसौमिल्लौ वररुचिः श्रीसाहसाङ्कः कविः।

सूक्तिमुक्तावली में भी साहसाङ्क के नाम पर लिखा है—

शूरः शास्त्रविधेर्ज्ञाता साहसाङ्कः स भूपतिः।
सेव्यं सकललोकस्य विदधे गन्धमादनम् ॥

(४. ५७. १११)

विक्रमादित्य या साहसाङ्क नाम तो एक ही है; किन्तु इसके सम्बन्ध में अनेक मत हैं। राजशेखर, सातवाहन आदि प्रामाणिक कवियों के अनुसार इसका अस्तित्व ईसा के पूर्व होना निश्चित है। इसने गन्धमादन नामक ग्रन्थ लिखा था।

७७. **साहित्य-विद्यावधू**—यह राजशेखर के कल्पित आख्यान में पार्वती द्वारा उत्पन्न की गई काव्यपुरुष की पत्नी है।

७८. **सुरानन्द**—राजशेखर के पूर्वज कवि। ये यायावर-कुल में उत्पन्न हुए थे। विशेष जानकारी के लिए भूमिका देखिए।

७९. **सुवर्णनाभ**—काव्यपुरुष के अट्ठारह शिष्यों में एक। इन्होंने साम्प्रयोगिक अधिकरण का निर्माण किया था। कामसूत्र में भी इनका नाम आया है।

८०. **सूर**—प्राचीन कवियों की परम्परा में इनका नाम मिलता है। इनका नाम आर्यसूर भी है। ये बुद्ध-सम्प्रदाय के कवि हैं। इन्होंने बौद्धों के प्रसिद्ध ग्रन्थ जातकमाला का निर्माण किया है। उसमें बुद्ध का चरित दन्तकथा के रूप में सुन्दरता से वर्णित है। सूर ने अश्वघोष का अनुकरण किया है। पालि के पिटक या जातक ग्रन्थों की कथाओं को संस्कृत-काव्य का मनोहर रूप दिया है। चीनी यात्री इत्सिंग ने लिखा है कि जातकमाला-काव्य बौद्धों को अत्यन्त प्रिय था। अजन्ता की शिलाओं पर इस काव्य के श्लोक और कथाचित्र खुदे हैं। सन् ४३४ ई० में इसका अनुवाद चीनी भाषा में भी हुआ था। अतः, यह कवि, विक्रम के दूसरे या तीसरे शतक से नीचे का नहीं हो सकता। राजशेखर के उद्धृत पद्य में इनका नाम उज्जयिनी में परीक्षित कवियों की श्रेणी में आया है। एक प्राचीन पद्य में अनेक कवियों की विशेषताओं के साथ सूर के सम्बन्ध में भी लिखा है—

सुबन्धौ भक्तिर्नः क इह रघुकारे न रमते
धृतिर्दाक्षीपुत्रे हरति हरिचन्द्रोऽपि हृदयम्।
विशुद्धोक्तिः सूरः प्रकृतिमधुरा भारविगिर-
स्तथाप्यन्तर्मोदं कमपि भवभूतिर्वितनुते ॥

इस पद्य में सूर की उक्तियों के लिए 'विशुद्ध' विशेषण दिया है।

८१. हरिचन्द्र—हरिचन्द्र भी सूर के समान प्राचीन कवि हैं। ये सम्भवतः राजा थे और इन्होंने गद्यकाव्य लिखा था महाकवि बाणभट्ट ने अपने पूर्वज कवियों की प्रशस्ति लिखते हुए भट्टारहरिचन्द्र के गद्य-प्रवन्ध की बहुत प्रशंसा की है। वे लिखते हैं—

पदबन्धोज्ज्वलो हारि रम्यवर्णपदस्थितिः।
भट्टारहरिचन्द्रस्य गद्यबन्धो नृपायते ॥

(हर्ष० च०, १—४)

अर्थात् : पदबन्ध से उज्ज्वल, मनोहर एवं रमणीय वर्णों तथा पदों से सुसज्जित भट्टारहरिचन्द्र का गद्यप्रबन्ध, समस्त गद्यप्रबन्धों में राजा के समान है।

यहाँ भट्टार शब्द का अर्थ राजा है। उनका लिखा हुआ गद्यप्रबन्ध भी प्रबन्धराज कहा गया है। भट्टारहरिचन्द्र का यह गद्यकाव्य अभी तक नहीं मिला। कहा जाता है कि इनके गद्यकाव्य का नाम साहसांकचरित था, जो नाम से साहसांक विक्रमादित्य का जीवनचरित प्रतीत होता है। इसी को आदर्श मानकर बाणभट्ट ने हर्षचरित की रचना की होगी। यदि यह ग्रन्थ उपलब्ध हो जाय, तो साहसांक-विक्रमादित्य के जीवन पर पूर्ण प्रकाश पड़ सकता है। बाणभट्ट के समय यह काव्य उपलब्ध था।

हरिचन्द्र की एक टीका चरकसंहिता पर भी उपलब्ध हुई है। इसका कुछ अंश प्रकाशित हुआ था और हमारे दृष्टिगोचर हुआ है। भट्टारहरिचन्द्र आयुर्वेद के भी विद्वान् थे और वैद्यहरिचन्द्र के नाम से ये प्रसिद्ध थे। इनका समय विक्रम की प्रथम शताब्दी के लगभग माना जा सकता है।

८२. हर्ष (६०६–६४४ ई०)—बाणभट्ट का आश्रयदाता सम्राट् हर्षवर्द्धन सुप्रसिद्ध ऐतिहासिक सम्राट् एवं विद्वान् कवि था। इसकी राजसभा में प्रसिद्ध चीनी यात्री हुएनत्सांग भी कुछ दिनों तक था। इसका समय विक्रम की छठी शताब्दी है। रत्नावली, प्रियदर्शिका और नागानन्द नामक तीन दृश्यकाव्य इन्होंने लिखे हैं। पहली दोनों नाटिकाएँ और तीसरा नाटक है।

परिशिष्ट--२

काव्यमीमांसा के भिन्न भिन्न स्थानों, विशेषतः सत्रहवें अध्याय के देशनिरूपण में उल्लिखित प्राचीन जनपदों, पर्वतों, नदियों आदि की वर्त्तमान स्थिति आदि का परिचय इस प्रकरण में दिया गया है।

१. अंग—भागलपुर से मुँगेर तक फैले हुए भू-भाग का नाम अंगदेश है। अनुवंश के राजा बलि के पाँच पुत्र थे—अंग, वंग, कलिंग, सुह्म और पुण्ड्र। इन वालेय राजकुमारों ने पूर्व-और पूर्व-दक्षिण दिशा के पाँच जनपदों में राज्य स्थापित किये (दे० वायुपुराण, ८५, ८६, ६६ अ०)। अंगदेश की राजधानी चम्पापुरी थी, जो भागलपुर से पश्चिम दो मील पर है। यह गंगातट पर स्थित है। दण्डी ने दशकुमारचरित में लिखा है—'अङ्गेषु गङ्गातटे बहिश्चम्पायाः। कनिंघम ने भागलपुर से २४ मील दूर पत्थरघाटा पहाड़ी के पास चम्पानगर या चम्पापुर को अंग की राजधानी माना है। संस्कृत-काव्यों में मगध की राजधानी गिरिव्रज के पूर्व और मिथिला से दक्षिण-पूर्व के भू-भाग को अंग माना है। रामायण-काल में अंगदेश का राजा रोमपाद था और महाभारत के समय कर्ण अंगराज कहा जाता था। हरिबंश के अनुसार अंगदेश की राजधानी 'मालिती' थी (दे० हरिवंश, ३२, ४६ अ०)।

२. अन्तर्वेदी—उत्तर की ओर गंगा से और दक्षिण की ओर यमुना से घिरा हुआ, पश्चिम में विनशन, अर्थात् थानेश्वर तक और पूर्व में प्रयाग तक का देश मध्यदेश या अन्तर्वेदी कहा जाता था।

३. आन्ध्र—उत्तर में गोदावरी और दक्षिण में कृष्णा नदी के मध्य के भू-प्रदेश का नाम आन्ध्र है। इस देश की राजधानी प्रतिष्ठानपुर थी, जिसे आजकल पैठन कहते हैं। वर्त्तमान तैलंगाना आन्ध्रदेश कहा जाता है। इसका अधिकांश हैदराबाद-राज्य के अन्तर्गत था और आज भारत के १६ प्रदेशों में एक है। इसकी राजधानी हैदराबाद है। इसकी प्राचीन राजधानी 'वेंगी' या 'वेगी' थी। तन्त्रशास्त्र में आन्ध्रदेश की सीमा इस प्रकार कही गई है—

> जगन्नाथादूर्ध्वभागादर्वाक् श्रीभ्रमरात्मकात्।
> तावदन्ध्राभिधो देशः··· ··· ···॥

४. अयोध्या—वर्त्तमान उत्तरप्रदेश में सरयू के तट पर बसी हुई उत्तर कोशल की प्राचीनतम राजधानी अयोध्या प्रसिद्ध है। इसे साकेत भी कहा जाता था।

५. अर्बुद—अरावली-पर्वतमाला का प्रसिद्ध आबू पर्वत, जो राजपुताने के सिरोही-राज्य के अन्तर्गत था। राजशेखर ने अर्बुद पर्वत की उपत्यका में चारों ओर फैले हुए भू-भाग को 'अर्बुदप्रदेश' माना है।

६. अवन्तिप्रदेश—वर्त्तमान मालवा का वह भाग, जिसकी राजधानी उज्जयिनी थी और जिसे विक्रमादित्य की राजधानी भी कहा जाता है। मत्स्यपुराण में इसका नाम

वीतिहोत्र कहा गया है। बाणभट्ट ने वेत्रवती या बेतवा नदी के तटपर स्थित विदिशा नगरी को अवन्तिदेश की राजधानी माना है। महाभारत-काल में नर्मदा के दक्षिण तट पर इसका अस्तित्व माना गया है, जो महानदी के तट से पश्चिम है। मत्स्यपुराण के अनुसार कार्त्तवीर्यार्जुन के कुल में अवन्ति नामक राजकुमार उत्पन्न हुआ था, उसीके नाम पर इस देश का नामकरण भी हुआ।

७. अश्मक—राजशेखर ने अश्मक देश की स्थिति दक्षिण भारत में मानी है। ब्रह्माण्डपुराण के अनुसार भी यह देश दक्षिण दिशा में है। कूर्मपुराण और बृहत्संहिता ने अश्मक को उत्तर भारत का एक अंग माना है, जो पंजाब के समीप था। दशकुमार-चरित, हर्षचरित और कौटिलीय अर्थशास्त्र के टीकाकार भट्टस्वामी इसे महाराष्ट्र का एक प्रदेश मानते हैं। वास्तव में अश्मक देश गोदावरी और माहिष्मती नदी के मध्य का भू-भाग है, जो विदर्भदेश का एक भाग था। रामायण में "**तथाश्मकाः पुलिन्दाश्च कालिङ्गाश्च विशेषतः** के अनुसार कुछ लोग ट्रावनकोर को अश्मक मानते हैं। यह सर्वथा विश्वसनीय नहीं है। अवन्ती तक यह प्रदेश फैला था। पाणिनि ने 'अवन्त्यश्मकम्' समास बनाया है। कभी इसकी राजधानी 'पोतन' थी।

८. आनर्त्त—कुछ लोगों का मत है कि यह उत्तरी गुजरात से मिला हुआ मालवा का एक भाग है। इसकी राजधानी आनर्त्तपुर या आनन्दपुर थी। इसका वर्त्तमान नाम बड़नगर है। कुछ ऐतिहासिक इसे सौराष्ट्र या काठियावाड़ मानते हैं, जिसकी राजधानी द्वारका थी। वलभी नगरी और प्रभासतीर्थ भी इसी आनर्त्त-प्रदेश में माने जाते हैं। जूनागढ़ इसका प्राचीन दुर्ग था। अतः, सौराष्ट्र ही आनर्त्त हो सकता है।

९. आर्यावर्त—उत्तरी भारत का वह विशाल भाग, जो उत्तर में हिमालय से दक्षिण में विन्ध्यपर्वत तक फैला हुआ है। मनुस्मृति ने इसकी सीमा इस प्रकार निर्धारित की है—

आसमुद्रात्तु वै पूर्वादासमुद्रात्तु पश्चिमात्।
तयोरेवान्तरं गिर्योरार्यावर्त्तं विदुर्बुधाः॥

अर्थात्, पूर्व और पश्चिम में समुद्र तथा उत्तर और दक्षिण में क्रमशः हिमालय और विन्ध्याचल का मध्य भाग आर्यावर्त्त कहा जाता है।

१०. इरावती—यह पंजाब की प्रसिद्ध इरावती या रावी नदी है। लाहौर नगर इसी के तटपर बसा हुआ है। कुछ विद्वान् अवधप्रदेश की राप्ती नदी को इरावती नदी बताते हैं; किन्तु राजशेखर ने उत्तरीय भारत में इसका अस्तित्व माना है। अतः, यह इरावती नदी पंजाब की ही है।

११. इन्द्रकील—यह नाम हिमालय के एक शिखर का है। कुछ लोगों के मत से यह मन्दराचल का नाम है।

१२. इन्द्रद्वीप—बृहत्तर भारत के नवद्वीपों में एक। पुराणों में इसका विस्तृत विवेचन मिलता है। ऐतिहासिक विद्वानों का मत है कि भारत के पूर्व में स्थित बर्माद्वीप का नाम इन्द्रद्वीप है, जो कभी भारत का एक अंग था।

१३. **उज्जयिनी**—प्रसिद्ध वर्त्तमान उज्जैन का प्राचीन नाम है। यह अवन्ति-देश या मालवा की प्रसिद्ध राजधानी थी। यह नगरी शिप्रा नदी के तट पर है। इनमें प्रसिद्ध ज्योतिर्लिङ्ग महाकाल का मन्दिर है।

१४. **उत्कल**—वर्त्तमान उड़ीसा-प्रदेश, जो कलिंग-देश का उत्तरीय भाग है। वैतरणी नदी इसकी उत्तरी सीमा का निर्माण करती है। ताम्रलिप्ती (तामलूक) नदी के दक्षिण में कपिशा कोसिया) नदी तक इस प्रदेश का विस्तार था। कालिदास ने रघुवंश के चतुर्थ सर्ग में लिखा है—

स तीर्त्वा कपिशां सैन्यैर्बद्धद्विरदसेतुभिः।
उत्कलादर्शितपथः कलिङ्गाभिमुखो ययौ॥

पुराणों में लिखा है—**जगन्नाथप्रान्तभाग उत्कलः परिकीर्त्तितः।** भुवनेश्वर इसी प्रान्त का शिवक्षेत्र है। पुराणों के अनुसार मनु की कन्या इला सुद्युम्न थी। उसका पुत्र उत्कल था। उसके नाम पर इस देश का नाम उत्कल हुआ। उत्कल को किसी समय कर्ण ने जीता था (दे० म० भा०, कर्णपर्व, ४।८)।

१५. **उत्तर कोशल**—अवध-राज्य के दो भाग थे—उत्तर कोशल या दक्षिण कोशल। अयोध्या और कुशावती इनकी राजधानियाँ थीं। इसे वर्त्तमान काल में अवध-प्रान्त कहा जाता है। अयोध्या, शरावती (श्रावस्ती), लक्ष्मणपुरी (लखनऊ) आदि नगर इसी में थे। गोमती, सरयू और तमसा नदियाँ इसमें बहती हैं। श्रीरामचन्द्र ने शरावती (श्रावस्ती) का राज्य, लव को और दक्षिण कोशल की कुशावती का राज्य कुश को दिया था। दक्षिण कोशल को कुछ विद्वान् विदर्भ या महाकोशल भी कहते हैं।

१६. **उत्तर कुरु**—रामायण और महाभारत के अनुसार तिब्बत और पूर्वी तुर्किस्तान उत्तर कुरु के अन्तर्गत आते हैं। पुराणों के अनुसार शृङ्गवान् पर्वत के चारों ओर का भाग उत्तर कुरुवर्ष कहा जाता है। किसी समय यह भू-भाग भारत का अंग था।

१७. **उत्तरापथ**—पृथूदक का उत्तरी भाग उत्तरापथ कहलाता है। पृथूदक का वर्त्तमान नाम पिहोवा है, जो सरस्वती नदी के तट पर स्थित है। पिहोवा, पूर्वी पंजाब का एक स्थान है, जो थानेश्वर से ४४ मील पश्चिम की ओर है।

१८. **उत्पलावती**—दक्षिणी भारत के तिनीवेली जिले में बहनेवाली एक नदी है, जो ताम्रपर्णी में मिलती है।

१९. **ऋक्षपर्वत**—यह कुमारीद्वीप या भारत का एक कुलपर्वत है, जो विन्ध्य-पर्वतमाला का एक भाग है और नर्मदा नदी का उद्गम स्थान है। इसका आधुनिक नाम सतपुड़ा है। विन्ध्यपर्वत से दक्षिण ५० कोस की दूरी पर नर्मदा और ताप्ती नदी के बीच यह विस्तृत है। इसे विन्ध्यपाद भी कहते हैं। इसकी ऊँचाई २०० फीट है।

२०. **कच्छीय**—यह कच्छ नाम से प्रसिद्ध है। बृहत्संहिता में इसे भरुकच्छ कहा गया है। वर्त्तमान कच्छ की खाड़ी प्रसिद्ध है।

२१. **कपिशा**—यह वर्त्तमान उड़ीसा-प्रान्त के सिंहभूमि जिले की सुवर्णरेखा

या कसया नदी के नाम से विख्यात है। इसका उद्गम ऋक्षपर्वत से है। कालिदास ने उत्कल और कलिंग देशों के मध्य इसकी स्थिति का वर्णन किया है।

२२. करकण्ठ—यह उत्तरापथ का एक प्रदेश है, जो कराकोरम-पर्वतश्रेणी की घाटी में है। वायुपुराण और ब्रह्माण्डपुराण के अनुसार सिन्धुतट के जनपदों में रन्ध्रकरक देश का नाम आता है। निश्चयपूर्वक नहीं कहा जाता कि यह वही है या इससे पृथक्। कण्टकार अथवा रुद्धकरक भी इसके नामान्तर हैं।

२३. करतोया—यह प्रसिद्ध करतोया नदी, बंगाल के रंगपुर, दीनाजपुर और बोगरा जिले में बहती हुई गंगा के डेल्टा के पास ब्रह्मपुत्र से मिलती है।

२४. कर्णाट—यह प्रसिद्ध कर्णाट देश है, जिसमें मैसूर, कुर्ग आदि के जिले सम्मिलित हैं। यह आन्ध्र के दक्षिण और पश्चिम का प्रान्त था। इसकी राजधानी श्रीरंगपत्तन और महिषपुर (मैसूर) है।

२५. कलिंग—कलिंग देश उत्तर में उड़ीसा से दक्षिण में आन्ध्र या गोदावरी के मुहाने तक समुद्रतट पर फैला हुआ है। राजशेखर ने दक्षिण और पूर्व के सम्मिलित भू-प्रदेश को कलिंग माना है। पुराणों में कलिंग के कई भाग लिखे हैं—'कलिङ्गाश्चैव सर्वशः' (वायुपु० ४५, १२५)। प्राचीन शिलालेखों में त्रिकलिंग पाठ मिलता है। इसकी राजधानी का प्राचीन नाम 'दन्तकूर' मिलता है। महाभारत में इसका दन्तपुर नाम से उल्लेख है। कुछ ऐतिहासिक आधुनिक राजमहेन्द्री को उसकी राजधानी मानते हैं।

२६. कलिन्द—हिमालय-पर्वतश्रेणी का एक भाग, जहाँ से यमुना का उद्गम होता है। इसे जमुनोत्तरी या यमुनोत्तरी कहते हैं। यह गढ़वाल के पहाड़ों में प्रसिद्ध स्थान है। इसी कलिंद पर्वत से निकलने के कारण यमुना कालिंदी या कलिंदतनया कहलाती है।

२७. कशेरुमान्—जम्बूद्वीप या भारतवर्ष के नौ भागों में एक। पुराणों में और काव्यमीमांसा में इस विभाग का नाम आता है। कनिंघम के अनुसार यह मलय-द्वीप का सिंगापुर है, जो किसी समय भारत का एक अंग था। सिंगापुर का कशेरू प्रसिद्ध है।

२८. काञ्ची—यह भारत की प्रसिद्ध और पुण्यनगरी है। आजकल इसे कांचीपुरम् या काँजीवरम् कहते हैं। यह द्रविड़ या चोल देश की राजधानी पालार नदी के तट पर बसी है, जो मद्रास से ४३ मील पर स्थित है।

२९. कामरूप—वर्त्तमान असम या आसाम-प्रदेश। राजशेखर ने भारत के पूर्वी भाग के एक पर्वत को कामरूप नाम से लिखा है। कामरूप जनपद नहीं है। कामरूप की राजधानी प्राग्ज्योतिषपुर थी। रघुवंश में कालिदास ने इसकी स्पष्ट चर्चा की है। कामरूप पर्वत नीलकूटगिरि या नीलगिरि का ही दूसरा नाम है। इसमें कामाक्षा देवी का मन्दिर है। कामरूप पर्वत के कारण ही समस्त देश का नाम कामरूप हो गया।

महाभारत के समय इसका राजा भगदत्त था और हर्षवर्धन के समय उसका

मित्र भास्करवर्मा यहाँ का शासक था। यह करतोया नदी के तट पर अवस्थित है। पूर्व में चीन तक इसकी सीमा है। हुएनत्सांग और अलबेरुनी के लेखों से पता चलता है कि कामरूप को चीन और वर्त्तमान चीन को महाचीन कहा जाता था। कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में कामरूप के लिए चीन शब्द का प्रयोग किया है और कामरूप के 'सुवर्णकुंड्य' नामक ग्राम का उल्लेख भी किया है। इसके अतिरिक्त अशोकग्राम, ग्रामेरू, जोंगक, पूर्णकद्वीप आदि ग्रामों के नाम मिलते हैं। महाभारत (सभापर्व ३४-४१) में चीन शब्द का प्रयोग इसी देश के लिए किया गया प्रतीत होता है। प्राचीन कामरूप, अत्यन्त विस्तृत भारत का भू-भाग था, जो चीन तक फैला हुआ था।

३०. कम्बोज—अफगानिस्तान या उसके आसपास का उत्तरी भाग। राजशेखर ने कम्बोज की गणना उत्तरापथ के देशों में की है। यह देश हिमालय और वंक्षु (सिन्धु) नदी के बीच का देश है। रघुवंश के चतुर्थ सर्ग में इसका स्पष्टीकरण किया गया है। कालिदास ने कम्बोज में अखरोट के वृक्षों का होना भी लिखा है। यह देश हिन्दुकुश पर्वत तक फैला हुआ है। कनिंघम और राय चौधुरी के मतानुसार वर्त्तमान रामपुर—राजौरी काम्बोजों की राजधानी थी। महाभारत के अनुसार काम्बोज गणराज्य था। यहाँ के पुरुष योद्धा होते थे और मुंडितशिर रहते थे। वास्तव में यह पामीर देश है।

३१. कार्त्तिकेयनगर—वर्त्तमान कुमाऊँ या कूर्मांचल की पर्वतश्रेणी में बैजनाथ या बैद्यनाथ नामक स्थान कार्त्तिकेयनगर है। यह अल्मोड़ा से ८० मील उत्तर-पश्चिम है।

३२. कालप्रिय—कालप्रियनाथ नामक शिवजी का प्रसिद्ध स्थान कान्यकुब्ज या कन्नौज के दक्षिण की ओर है। भवभूति ने अपने नाटकों की रचना इन्हीं कालप्रियनाथ की यात्रा के प्रसंग में की है। भवभूति कन्नौज के राजा यशोवर्मा की सभा के राजकवि थे। भवभूति के कुछ टीकाकारों ने उज्जयिनी के महाकालेश्वर को कालप्रियनाथ लिखा है, जो भ्रमपूर्ण है।

३३. कावेर—कावेरी नदी के तट पर बसे हुए कुछ जिलों का भू-प्रदेश कावेर देश के नाम से कहा गया है।

३४. कावेरी—दक्षिण भारत की प्रसिद्ध नदी। यह कुर्ग जिले के ब्रह्मगिरि पर्वत के चन्द्रतीर्थ से निकलती है। सह्य पर्वत से पूर्व की ओर कुछ दूर बहकर पुनः दक्षिणाभिमुख होकर पूर्व की ओर बहती हुई हिन्दमहासागर में गिरती है। इसकी लम्बाई ४७५ कोस है।

३५. कश्मीर—प्रसिद्ध कश्मीर देश। तन्त्रशास्त्र में इसकी सीमा इस प्रकार लिखी है—

> **शारदामठमारभ्य कुङ्कुमाद्रितटान्तकः।**
> **तावत्कश्मीरदेशः स्यात् पञ्चाशद्योजनात्मकः॥**

३६. कीर—पंजाब का बैजनाथ या कीरग्राम। यह पश्चिमोत्तर-प्रदेश की कोथर-पर्वतश्रेणी के आसपास का स्थान है। किन्तु, राजशेखर ने इसे उत्तरापथ के देशों में लिखा है। सम्भव है, यह देश कीर्थर-पर्वतश्रेणी के उत्तर अफगानिस्तान का उत्तरीय

भाग हो। प्राचीन इतिहास के विद्वानों का मत है कि कीरदेश के राजा 'शाही' ने ईसा की नवीं और दसवीं शताब्दी में अफ़गानिस्तान और पंजाब का शासन किया था। किसी-किसी ऐतिहासिक ने इसे कश्मीर का भाग माना है।

३७. **कुन्तल**—राजशेखर ने कुन्तल को दक्षिण दिशा का एक देश बताया है, जिसका शासक प्रसिद्ध राजा सातवाहन था। महाभारत में मध्यदेश और दक्षिणदेश, दोनों में कुन्तल-राज्य का वर्णन आता है। महाभारत-युद्ध में कुन्तल की स्थिति थी (दे० भीष्मपर्व, ४७-१२)। राजशेखर-वर्णित कुन्तल देश गोदावरी और कृष्णा के मध्य-भाग में था। किसी समय इस देश द्वारा कर्णाट देश का कुछ भाग और सम्पूर्ण विदर्भ या बरार-प्रान्त शासित होता था। यह चोल देश के उत्तर भाग में था। कल्याण इसकी राजधानी थी। कुछ लोग प्रतिष्ठानपुर या पैठन को इसकी राजधानी मानते हैं। हैदराबाद की वायव्य दिशा का भू-भाग इसके अन्तर्गत था।

३८. **कुमारीद्वीप**—यह भारतवर्ष के नौ खंडों में एक है। राजशेखर के मतानुसार समस्त भारतवर्ष का नाम कुमारीद्वीप था, जो हिमालय से कन्याकुमारी अन्तरीप तक फैला हुआ विस्तृत भूभाग है। इसमें विन्ध्य, पारियात्रक आदि सात कुलपर्वतों का वर्णन है। कुमारीद्वीप के सम्बन्ध में राजशेखर का वर्णन सर्वथा वायुपुराण के आधार पर है। वायु-पुराण में लिखा है—इस भारतवर्ष में नौ द्वीप हैं, जो समुद्र का व्यवधान होने के कारण परस्पर अगम्य हैं: इन्द्रद्वीप, कशेरुमान्, ताम्रपर्ण, गभस्तिमान्, नागद्वीप, सोमद्वीप, गन्धर्वद्वीप और नवाँ कुमारीद्वीप। यह कुमारीद्वीप, हिमालय से कन्याकुमारी तक दक्षिण और उत्तर चार-सौ कोस में है। इस तिरछे लम्बे द्वीप पर जो विजय प्राप्त करता है, उसे चक्रवर्त्ती कहा जाता है। इस कुमारीद्वीप में सात कुलपर्वत हैं, जिनके नाम महेन्द्र, मलय, सह्य, शुक्तिमान्, ऋक्ष, विन्ध्य और पारियात्र हैं (दे० वायुपु०, अ० ४५, ७४, ७९)।

३९. **कुमापुरम**—कन्याकुमारी की राजधानी थी।

४०. **कुलूत**—यह उत्तरापथ का एक प्रसिद्ध देश है, जो निस्सन्देह वर्त्तमान काँगड़ा जिले की कुलू तहसील है। यह तहसील व्यास की ऊपरी घाटी पर स्थित है। हुएनत्सांग ने लिखा है कि कुलूत का राज्य जालंधर से ११७ मील है। इसकी राजधानी स्थानपुर (सुलतानपुर) थी, जो आज भी इसका प्रधान नगर है। यह जालंधर से उत्तर-पूर्व व्यास-नदी के दक्षिण तट पर स्थित है।

४१. **कुहू**—उत्तरापथ की प्रसिद्ध नदी। इसे काबुल नदी कहते हैं। वेदों में इसे कुभा कहा गया है। ग्रीक लोग इसे 'कोफस' कहते हैं। यह सिन्धु की सहायक नदी है और कोहीबाबा पहाड़ के नीचे से निकलती है।

४२. **कृष्णवेणी या कृष्णा**—यह दक्षिण देश की प्रसिद्ध नदी है। इसी का नाम कृष्णवेणी हो जाता है, जबकि यह वेणी के साथ संगम करती है। यह सह्याद्रि (पश्चिमी घाट) के महाबलेश्वर शिखर के पास से निकलकर पूर्वाभिमुख मछलीपट्टन् के समीप समुद्र में गिरती है। इसमें वामपार्श्व से भीमरथी या भीमानदी तथा दक्षिण पार्श्व से तुंगभद्रा नदियाँ मिलती हैं। इसकी लम्बाई ७५० कोस है।

४३. केकय—पंजाब के व्यास और सतलज के मध्य का भाग केकय कहा जाता है। यह सिन्ध देश की सीमा से मिलता है। दशरथ की पत्नी कैकयी इसी देश की कन्या थी। प्रसिद्ध पौराणिक विद्वान पार्जिटर ने केकय की स्थिति मद्र के पास लिखी है। सम्भव है, पुरातन वणु केकय का एक भाग हो। वर्णु नद के कारण उस देश का नाम वन्नू है। वन्नू के समीप कक्की या कैकई नामक ग्राम अब भी विद्यमान है। केकय प्राचीनतम देश है। उपनिषदों में ब्रह्मवादी केकय-अश्वपति का नाम मिलता है।

४४. केरल—दक्षिण का मालाबार-प्रान्त केरल कहा जाता है, जिसमें मालाबार, कोचीन और ट्रावनकोर के जिले सम्मिलित हैं। यह कोङ्कण के दक्षिण भाग में गोकर्ण-क्षेत्र से कन्याकुमारी तक का प्रदेश था। इसमें वेत्रवती, सरस्वती और काली नदी ये तीन प्रसिद्ध नदियाँ हैं। रघुवंश (४।५५) में वर्णित मुरला नाम की यही काली नदी है।

४५. कोल्लगिरि—वर्त्तमान कुर्ग, जिसमें मैसूर भी सम्मिलित है। इसे कोलगिरि या कोड्डुगु कहते हैं। यहीं से कावेरी नदी का उद्‌गम होता है।

४६. कोशल—अवध-राज्य का दक्षिणी भाग। इसकी राजधानी कुशावती है। यह विन्ध्य के भाग में है। (देखिए, उत्तर कोशल) इसका प्राचीन राजा ऋतुपर्ण था। उसकी राजधानी शिफाली थी।

४७. कोकण—यह देश आजकल परशुराम-क्षेत्र के नाम से प्रसिद्ध है। इस क्षेत्र की भूमि सह्याद्रि (पश्चिमी घाट) से अरब सागर तक फैली हुई है। रघुवंश के चतुर्थ सर्ग में कालिदास ने इसे अपरान्त देश कहा है: **अपरान्तमहीपालव्याजेन रघवे करम्**। यह सूरत (सूर्यपत्तन) से रत्नागिरि तक फैला हुआ है। कल्याण, बम्बई आदि इसी देश के नगर हैं। यादवप्रकाशकोष में लिखा है—**अपरान्तास्तु पाश्चात्यास्ते च शूर्पारकादयः**। अष्टांगहृदय के टीकाकार अरुणदत्त ने लिखा है—**अपरान्ताः कोङ्कुणाः**। पुराणों में अपरान्त जनपदों के नाम दिये गये हैं, जिनमें ये मुख्य हैं—शूर्पारक, कारस्कर, नासिक, भरुकच्छ, माहेय, सारस्वत, काच्छीय, आनर्त्त, सुराष्ट्र, अबुद आदि।

४८. क्रथकैशिक—यह विदर्भ देश का प्रसिद्ध नाम है। कालिदास ने रघुवंश के पञ्चम सर्ग में क्रथकेशिक का नाम विदर्भ देश के लिए प्रयुक्त किया है। राजशेखर ने दक्षिणापथ के देशों में क्रथकैशिक को विदर्भ से पृथक् माना है। सम्भव है, राजशेखर के समय क्रथ-कैशिक, विदर्भ का ही एक भाग, पृथक् राजा द्वारा शासित होता है। महाभारत के सभापर्व (अध्याय २१२) में लिखा है कि विदर्भ देश के एक राजा ने इस राज्य को क्रथ और कैशिक नामक दो बालकों के लिए दो भाग में विभक्त कर दिया था। इसीलिए, इस देश का नाम क्रथकैशिक पड़ा था। यह वर्त्तमान विदर्भ का एक भाग है।

४९. गंगा—भारत की प्रसिद्ध पुण्यनदी है। राजशेखर ने इसे भारत के उत्तर और पश्चिम दोनों ओर माना है। यह गढ़वाल जिले के गंगोत्री नामक स्थान से दो मील

ऊपर बिन्दुसर से निकलती है। इसी बिन्दुसर से कन्याकुमारी तक चक्रवर्ती क्षेत्र कहा जाता है।

५०. गन्धर्वद्वीप—भारत के नौ खंडों में एक। कनिंघम आदि ऐतिहासिक विद्वानों का मत है कि काबुल, गान्धार आदि देश गन्धर्वद्वीप हैं। कालिदास ने भी इसी देश को गन्धर्वदेश कहा है।

५१. गभस्तिमान्—भारत के नौ खडों में एक। कनिंघम आदि विद्वानों के मतानुसार यह भारत के दक्षिण-पश्चिम प्रदेश का एक भाग है।

५२. गांग—राजशेखर ने इसे दक्षिणापथ का एक देश कहा है। अनुमानतः, यह दक्षिण का कोंगु-प्रदेश प्रतीत होता है, जिसमें कोयम्बटूर और सलेम के जिले भी सम्मिलित हैं। इस देश का नाम गांग या कोंगु होने का कारण यह प्रतीत होता है कि ईसाकी दूसरी शताब्दी से नवीं शताब्दी तक इस देश पर पश्चिम के गांगवंश के राजाओं का शासन था। कोंगु शब्द इसी गांग शब्द का अपभ्रंश समझा जाता है। गांगवंश के राजाओं का शासन मैसूर के दक्षिण भाग, सलेम, कोयम्बटूर, नीलगिरि तथा मालाबार के कुछ भागों पर था। सम्भवतः, राजशेखर ने इसी देश को लक्ष्य करके दक्षिणापथ में इस राज्य के अस्तित्व का उल्लेख किया है।

५३. गाधिपुर—यह कान्यकुब्ज या कन्नौज का दूसरा नाम है। बालरामायण नाटक के दशम अंक में गंगातटपर स्थित इस नगर का उल्लेख किया गया है। कोशों में भी महोदय, गाधिपुर आदि कान्यकुब्ज के पर्यायवाची शब्द दिये गये हैं।

५४. गिरिनगर—यह गुजरात के प्रसिद्ध पर्वत गिरिनार के आसपास का प्रदेश है। राजशेखर ने इसे पश्चिमी भारत का एक प्रदेश माना है। यह गिरिनार पर्वत है, जिसे पुराणों में रैवतक पर्वत कहा गया है। यह काठियावाड़-प्रान्त के जूनागढ़ नगर के समीप है, महाकवि माघ ने अपने शिशुपालवध महाकाव्य में श्रीकृष्ण की सेनाओं का द्वारका से चलकर रैवतक पर्वत पर शिविर डालने के अतिरिक्त विविध क्रीडाओं का वर्णन किया है। श्रीआपटे ने दक्षिणापथ के एक जिले का नाम गिरिनगर लिखा है।

५५. गोदावरी—दक्षिण भारत की प्रसिद्ध नदी। यह सह्यपर्वत (पश्चिमी घाट) के पूर्वशिखर त्र्यम्बकेश्वर नामक स्थान के पास ब्रह्मगिरि पर्वत से निकलती है। त्र्यम्बकेश्वर का स्थान, वर्तमान नासिक नगर से १२ मील की दूरी पर है। यह नदी, राजमहेन्द्री के पास पूर्वसमुद्र (बंगाल की खाड़ी) में गिरती है और ६०० मील लम्बी है।

५६. गोवर्द्धन—यह उत्तर भारत का प्रसिद्ध पर्वत वृन्दावन के निकट मथुरा से १३ मील दूर मथुरा जिले में स्थित है। परन्तु, राजशेखर ने इस नाम के पर्वत का वर्णन पश्चिम भारत में किया है। संभव है, यह खानदेश में या प्रभास-क्षेत्र के आसपास कहीं हो। नासिक के गुहालेख से प्रतीत होता है कि 'गोवर्धन नासिक के पास का पर्वत या स्थान है (राधाकुमुद मुखर्जी : प्राचीन भारत)।

५७. गौड़—राजशेखर के मतानुसार बनारस से बंगाल तक फैले हुए भू-भाग को गौड़ देश माना गया है। उन्होंने इस देश की स्त्रियों के वेश-विन्यास की प्रशंसा की है।

प्रसिद्ध ऐतिहासिक श्रीनन्दूलाल दे के कथनानुसार समग्र बंगाल गौड देश कहा जाता है। पालवंश और सेनवंश के राजा गौड देश के राजा कहे जाते थे। इस देश की राजधानी का नाम गौड था। राजा लक्ष्मणसेन ने लक्ष्मणवती या लखनौती को गौड देश की राजधानी बनाया था। स्कन्दपुराण में गौड देश की सीमा इस प्रकार कही गई है :
वङ्गदेशं समारभ्य भुवनेशान्तगः शिवे। गौडदेशः समाख्यातः।

५८. **चकोर**—राजशेखर के मतानुसार यह पूर्वदेश का एक पर्वत है। इसे चरणाद्रि या चुनार समझा जाता है, जो मिर्जापुर जिले में है। पालवंश के राजाओं ने इस पहाड़ी पर किला बनवाया था।

५९. **चक्रवर्त्तिक्षेत्र**—राजशेखर ने दक्षिण के कन्याकुमारी-क्षेत्र से उत्तर में हिमालय के बिन्दु-सरोवर तक के एक सहस्र योजन (४०० कोस) विस्तृत भू-भाग का नाम चक्रवर्त्ती-क्षेत्र कहा है। इस सारे क्षेत्र पर शासन करनेवाला राजा चक्रवर्त्ती कहा जाता है। अर्थशास्त्र में कौटिल्य ने भी इसे ही चक्रवर्त्तिक्षेत्र माना है। इसका दूसरा नाम कुमारीखण्ड भी है, जो भारतवर्ष के नौ खण्डों में एक है।

६०. **चन्दनगिरि**—दक्षिण देश का प्रसिद्ध पर्वत मलयाचल चन्दनगिरि के नाम से प्रसिद्ध है। राजशेखर ने बालरामायण के सातवें अंक में सेतु-बन्धन का प्रारम्भ मलय-पर्वत के मूल से माना है।

६१. **चन्द्रभागा**—पंजाब की पाँच प्रसिद्ध नदियों में एक नदी चिनाब का नाम चद्रभागा है।

६२. **चन्द्राचल**—हिमालय के एक शिखर-भाग का नाम चन्द्राचल है। यहीं से चन्द्रभागा का उद्गम होता है। चन्द्र पर्वत से निकलने के कारण ही पुराणों में इसे चन्द्रभागा कहा गया है। जैनों का तीर्थस्थान चन्द्र पर्वत, इससे भिन्न और रंगपट्टम् के पास दक्षिण-भारत में है। राजशेखर द्वारा उद्धृत चन्द्रगिरि भी यही उत्तरापथ का चन्द्राचल या चन्द्रगिरि है।

६३. **चोड या चोल**—दक्षिण के चोड देश का विस्तार यद्यपि बहुत बड़ा था, किन्तु राजशेखर के समय चोड-राज्य में तंजौर और दक्षिण आरकाट के जिले सम्मिलित थे। चोल देश के अन्य जिलों को राजशेखर ने कांची और कावेर नाम से पृथक् लिखा है।

६४. **जाह्नवी**—गंगानदी का ही दूसरा नाम है।

६५. **टक्क**—विपाशा और सिन्धु नदी के मध्य का भाग टक्क या वाहीक कहा जाता था। शाकल या स्यालकोट टक्कदेश की राजधानी थी, जिसमें मद्र और आरट्ट देश भी सम्मिलित थे। राजतरंगिणी ने टक्क देश की स्थिति को चन्द्रभागा या चिनाब के तट पर माना है। राजशेखर के मतानुसार टक्कदेशवासी अपभ्रंश-भाषा का प्रयोग करते थे। कुवलयमाला-कथा के अनुसार वाहीक या पंचनद देश टक्क कहा जाता था। महाराज हर्षवर्धन के पश्चात् टक्कवंशी राजाओं के अधिकार हो जाने से यह टक्क या टाँक कहलाने लगा था।

६६. **तंगण**—राजशेखर ने इस जनपद का उल्लेख उत्तरापथ में किया है।

प्रसिद्ध ऐतिहासिक श्रीनन्दूलाल दे के मतानुसार यह प्रदेश रामगंगा नदी से सरयू के ऊपरी भाग तक फैला हुआ है। पाण्डुकेश्वर में प्राप्त उत्तर गुप्तकालीन शिलालेखों में तंगण देश का नाम मिलता है। यह गढ़वाल के उत्तर का प्रदेश है। यहाँ नाटे कद के टाँगन घोड़े प्रसिद्ध हैं।

६७. **ताप्ती**—गुजरात की प्रसिद्ध नदी तपती या तापी। यह ऋक्ष-पर्वत की सतपुड़ा श्रेणी से निकलकर सूरत नगर के पास समुद्र में गिरती है। इसकी लम्बाई ४६० कोस है।

६८. **ताम्रपर्ण**—भारतवर्ष के नौ खंडों में एक। यह सीलोन का प्रदेश है।

६९ **ताम्रपर्णी**—यह दक्षिण की प्रसिद्ध नदी मलयाचल के अगस्तिकुण्ड से निकलकर मद्रास के तिनेवेली जिले में पूर्वाभिमुख होकर पूर्वसमुद्र (बंगाल की खाड़ी) में गिरती है।

७०. **ताम्रलिप्तक**—यह बंगाल का प्रसिद्ध स्थान तमलुक है। बंगाल के मिदनापुर जिले में रूपनारायण के पश्चिमी तट पर स्थित है।

७१. **तुंगभद्रा**—दक्षिण देश की प्रसिद्ध नदी, जो कृष्णा नदी की सहायक है।

७२. **तुरुष्क**—पूर्वी तुर्किस्तान। राजशेखर ने इसे उत्तरी भारत के जनपदों में लिखा है। इसे चीनी तुर्किस्तान कहते हैं। यहाँ उइगुर—तुर्क बसे थे, जो बौद्ध धर्मानुयायी और भारतीय संस्कृति के रक्षक थे। इनके अनेक सांस्कृतिक भग्नावशेष चीनी तुर्किस्तान में मिले हैं। यह भारत का एक जनपद था और यह प्रदेश बहुत काल से भारतीय उपनिवेश था।

७३. **तुषार**—राजशेखर ने इस जनपद को उत्तरी भारत के देशों में लिखा है। राजतरङ्गिणी के सम्पादक स्टाइन ने वंक्षु नदी के तटवर्त्ती देशों में बलख और बदख्शान नामक जनपदों को तुषार या तुखार नाम से लिखा है (दे०, रा० त०, भा० १, पृ० १३६, स्टा० ए०)। सुप्रसिद्ध वंक्षु नदी तुषार, लम्पाक, पह्लव, पारद और शक देशों में बहती है। कनिष्क आदि सम्राट् इसी जाति के थे। इस जाति को तुषार या तुखार कहते हैं। चीनी भाषा में इसे यूहेची कहते हैं। यूनानी लेखक टाल्मी ने इन्हें 'थगोरोई' लिखा है। सम्भव है, यह 'ठाकुर' शब्द का अपभ्रंश हो।

७४. **तुषारगिरि**—हिमालय का एक शिखर, जो गंगोत्री के समीप है। राजशेखर ने इसी शिखर को सरस्वतीपुत्र सारस्वत का और गौरी की पुत्री साहित्य-विद्या का जन्मस्थान लिखा है।

७५. **तोषल**—यह कोशल (अवध) का दक्षिणी भाग है। धौली में प्राप्त अशोक के शिलालेख में तोशली का नाम आया है, जो सम्भवतः तोषल की राजधानी थी। राजशेखर ने भारत के पूर्वभाग में इसकी स्थिति का उल्लेख किया है।

७६. **त्रवण**—यह पश्चिमी भारत का जनपद है। राजशेखर ने सुराष्ट्र और त्रवण-देशवासियों की भाषा अपभ्रंश कही है।

७७. दक्षिण देश—दक्षिण भारत, जिसके उत्तर में नर्मदा और दक्षिण में कन्याकुमारी अन्तरीप है।

७८. दक्षिणापथ—दक्षिणदेश का ही नाम है।

७९. दंडक—यह रामायण में वर्णित दण्डकारण्य या दण्डक वन नहीं हो सकता; क्योंकि राजशेखर ने उसे महाराष्ट्र के अन्तर्गत बताया है। कुछ विद्वानों का मत है कि यह चोल और कांची के मध्यवर्त्ती 'तोंडै मंडल' या 'डिंडीवनम्' का नाम हो। यह भी सम्भव है कि राजशेखर ने महाराष्ट्र के अतिरिक्त उसी दण्डकारण्य को लक्ष्य करके लिखा हो, जो रामायण में प्रसिद्ध है।

८०. दर्दुर—कालिदास ने रघुवंश के चतुर्थ सर्ग में दक्षिण दिशा के मलय और दर्दुर नामक दो पर्वतों का वर्णन ताम्रपर्णी नदी के समीप किया है। इस दर्दुर पर्वत के परिचय में भी कठिनाई है, किन्तु मद्रास प्रान्त के नीलगिरि पर्वत को दर्दुर मानकर ऐतिहासिक विद्वानों ने समस्या का समाधान किया है। राजशेखर ने इस दर्दुर नामक पर्वत की स्थिति पूर्वीय भारत में लिखी है। अनुमानतः, विन्ध्य पर्वत के पूर्वी भाग में अवस्थित देवगढ़ नामक शिखर को दर्दुर मानकर संगतिकरण हो सकता है।

८१. दशपुर—मालवा-प्रान्त का मन्दसौर नगर प्राचीन दशपुर है। यहाँ के ब्राह्मण आज भी दसौरी या दसौरा के नाम से प्रसिद्ध हैं। दसौरा शब्द दशपुर का अपभ्रंश है। कालिदास ने मेघदूत में दशपुर का वर्णन किया है। कुछ लोग चर्मण्वती नदी के तटपर स्थित धौलपुर को दशपुर मानते हैं।

८२. दसेरक—अभिधानचिन्तामणि (४. २३) में हेमचन्द्र ने लिखा है—**मरुवस्तु दसेरकाः**। अभिधानचिन्तामणि की टीका में, लिखा है कि मरु और साल्व, ये पश्चिम दिशा के देश हैं। राजशेखर ने भी इसे पश्चिम दिशा का प्रदेश लिखा है। दशेरक सिन्धु-मरु का भू-भाग है। इसमें ऊँटों की उत्पत्ति अत्यधिक मात्रा में होती है, इसीलिए ऊँट का नाम दासेरक है। वायुपुराण में इसका नाम दशेरुक लिखा है। महाभारत के भीष्मपर्व में दासेरक गणों के नाम हैं (दे० ४६, ५२, ८)।

८३. देवसभा—राजशेखर के मतानुसार देवसभा पश्चिमीय भारत का प्रदेश है। अनुमानतः, देवास रियासत या उदयपुर के धेवार झील के प्रदेश को देवसभा कहा जा सकता है। हमारी समझ में देवास देवसभा का विकृत रूप है। धेवर झील के प्रदेश से सरस्वती और साबरमती नदियाँ निकलकर पश्चिम भारत की ओर जाती हैं।

कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में चन्दन के भिन्न-भिन्न प्रकारों में 'देवसभेय' नामक चन्दन की चर्चा की है, जो सम्भवतः देवसभा पर्वतों में उत्पन्न होता है। राजशेखर ने देवसभा पर्वत और उसके उपत्यका-प्रदेश दोनों को एक ही नाम से उल्लिखित किया है। राजशेखर भी देवसभा को चन्दन का उत्पादक पर्वत मानता है।

८४. देविका—उत्तर भारत की एक नदी। यह वर्त्तमान 'डीग' नदी का प्राचीन नाम मालूम होता है। यह नदी रावी की सहायक नदी है, जो मध्यप्रदेश में

बहती है। यह जिला स्यालकोट से होती हुई और जिला गुजराँवाला का स्पर्श करती हुई कालाशाह—काकू से आगे टपियाला ग्राम के पास से बहती है। इस नदी को आज भी द्योका कहते हैं। नीलतमपुराण में लिखा है—

यैव देवी उमा सैव देविका प्रथिता भुवि।
मुद्राणामनुकम्पार्थं भवद्भिरवतारिता॥

८५. द्रविड—द्रविड या द्रमिल दक्षिण भारत का साधारण नाम है। यह नाम किसी जनपद-विशेष का नहीं है। गौड देश के समान ही द्रविड देश भी साधारणतया दक्षिण देश का नाम है। कृष्णा और पोलार नदियों के मध्य भाग का देश द्रविड देश कहलाता है, जिसकी राजधानी किसी समय कांची थी।

८६. द्रमिल—यह द्रविड देश का नाम है (दे॰ द्रविड)।

८७. द्रोणाचल—यह कूर्मांचल श्रेणी का एक पर्वत है, जिसे आजकल दूनागिरि कहते हैं। यह अल्मोड़े जिले के रानीखेत से १६ मील की दूरी पर है।

८८. नर्मदा—राजशेखर ने इसे दक्षिण भारत की नदियों में लिखा है। यह विन्ध्य-पर्वतश्रेणी के अमरकंटक या मेकल नामक शिखर से निकलकर भरुकच्छ (भड़ोच) के पास अरब समुद्र में गिरती है।

८९. नागद्वीप—भारत के नौ खंडों में एक, जो पश्चिमी भारत में है।

९०. नाशिक्य—प्रसिद्ध नाशिक पंचवटी है। यह गोदावरी के तट पर स्थित है। महाभाष्य में पतंजलि ने इसका नामोल्लेख किया है। इसके समीप त्रिरश्मि पर्वत पर पांडुलेना गुफा है। यहाँ आंध्रों, क्षत्रपों और आभीरों के शिलालेख अब भी मिलते हैं।

९१. निषध—जम्बूद्वीप या एशिया के प्रसिद्ध पर्वतों में एक। इसके साथ रम्यक वर्ष का सम्बन्ध है।

९२. नीलगिरि—यह जम्बूद्वीप या एशिया के प्रसिद्ध पर्वतों में है। इसके साथ रम्यक वर्ष का सम्बन्ध है। यह नीलगिरि, महामेरु से उत्तर की ओर है।

९३. नेपाल—राजशेखर ने नेपाल पर्वत और नेपाल देश दोनों को पूर्वीय भारत में सम्मिलित किया है। यह प्रसिद्ध है।

९४. पयोष्णी—दक्षिण भारत की एक नदी जिसे आजकल पूर्णा कहते हैं। यह ताप्ती की सहायक नदी है।

९५. पल्लव—दक्षिण भारत के कुछ भाग पर पल्लव-वंश का शासन पाँचवीं शताब्दी से नवीं शताब्दी तक रहा है। काँची पल्लव-वंश की राजधानी थी। कांची के चारों ओर का प्रदेश पल्लव-प्रदेश कहा जाता था। राजशेखर ने कांची को एक स्वतन्त्र जनपद माना है। वायुपुराण में इसका नाम आया है। उसके अनुसार पह्लव देश उत्तर भारत में था।

९६. पश्चाद्देश—राजशेखर ने पश्चिमी भारत को पश्चाद्देश कहा है।

इसमें सिन्ध, पश्चिमी राजपूताना, कच्छ, गुजरात तथा नर्मदा तट का नीचे का भाग सम्मिलित था। इसकी पूर्वीय सीमा पर देवसभा नाम का पर्वत है।

९७. **पांचाल**—पांचाल नाम मध्यदेश का है। थानेसर से प्रयाग तक और हिमालय की उपत्यका से यमुना तक फैला हुआ यह प्रसिद्ध देश है, जो उत्तर और दक्षिण दो भागों में विभक्त है। उत्तर पांचाल की राजधानी अहिच्छत्रा और दक्षिण की कांपिल्य थी। इन दोनों भागों को गंगा नदी पृथक् करती है। राजशेखर ने पांचाल को 'अन्तर्वेदी' नाम से भी लिखा है। राजशेखर के समय पांचाल की राजधानी, सभ्य और सुशिक्षित नगर कान्यकुब्ज या कन्नौज थी। गंगा के उत्तरप्रदेश को उत्तर-पांचाल कहते हैं। इसकी राजधानी कांपिल्य से ३५ मील उत्तर अहिच्छत्रा थी। इसे आजकल 'अहिच्छत्ता' कहते हैं।

९८. **पाटलिपुत्र**—मगध की प्रसिद्ध राजधानी पटना नगर।

९९. **पांड्य**—मद्रास के वर्त्तमान मदुरा और तिन्नीवेली जिलों का प्राचीन नाम पांड्य है। कालिदास ने रघुवंश के चतुर्थ सर्ग में पांड्य की राजधानी का नाम उरगपुर लिखा है। यह वर्त्तमान उरयूर स्थान है, जो त्रिचनापल्ली जिले में है। उरयूर नाम उरगपुर का अपभ्रंश प्रतीत होता है। कुछ लोग उरगपुर का अर्थ नागपुर करते हैं, जो इतिहास-विरुद्ध है। कुछ लोग मद्रास से १६० मील दक्षिण की ओर स्थित नागपट्टम् को कालिदास का नागपुर या उरगपुर मानते हैं। दक्षिण का प्रसिद्ध रामेश्वर-मन्दिर भी पांड्यदेश के अन्तर्गत है। आजकल के द्रविड प्रान्त में चेर, चोल और पांड्य तीनों सम्मिलित हैं।

१००. **पारियात्र**—यह कुमारीद्वीप या भारतवर्ष का एक कुलपर्वत है। यह सम्भवतः विन्ध्य-पर्वतमाला का एक भाग है, जो कच्छ की खाड़ी की ओर है। कुछ ऐतिहासिक विद्वानों के मत से यह हिमालय की शिवालक-पर्वतमाला का नाम है।

१०१. **पाल**—राजशेखर ने दक्षिणापथ में पालमंजर का उल्लेख किया है। यह संदिग्ध है कि यहाँ पाल और मंजर पृथक् देश हैं या एक ही। डॉ० भंडारकर ने पाल को महाड़ के समीप माना है (दे० डॉ० भंडारकर : हिस्ट्री ऑव डेक्कन ८)।

१०२. **पुण्ड्र**—यह पुण्ड्रवर्धन नाम से प्रसिद्ध है। यह पूर्व बंगाल के मालदा जिले में है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में भी इस देश का नाम आया है। वर्त्तमान बोगरा जिले का महास्थानगढ़ नामक ग्राम पुण्ड्र-जनपद में था। इस ग्राम में अशोक का एक शिलालेख मिला है। उसमें पुण्ड्रनगर के महामात्र के लिए आज्ञा दी गई है। कौटिल्य अर्थशास्त्र (अ० ३२) में लिखा है कि पुण्ड्र देश का वस्त्र श्याम और मणि के समान स्निग्ध वर्ण का होता है। महाभारत (सभापर्व, ७८, ९३) में पुण्ड्र के राजाओं का दुकूल आदि लेकर महाराज युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में उपस्थित होना लिखा है। यादवप्रकाश-कोशकार के अनुसार **पुण्ड्रास्तु वरेन्द्रा-पुण्ड्रलक्षणाः**, अर्थात् वरेन्द्र पुण्ड्र था। पूर्णिया जिले का नाम भी पुण्ड्र में ही आता है।

१०३. **पूर्वदेश**—पूर्वीय भारत। बनारस से आसाम और बर्मा तक का बृहत् भू-भाग पूर्वदेश कहा जाता है।

१०४. **पृथूदक**—पूर्वी पंजाब के कर्नाल जिले का प्रसिद्ध पिहोवा या पृथूदक तीर्थ। यह सरस्वती नदी के तटपर बसा है। राजशेखर ने इसे उत्तरापथ का जनपद माना है। वर्त्तमान पिहोवा सरस्वती के उत्तरी भाग में है। यह थानेसर से पश्चिम ४० मील की दूरी पर है।

१०५. **प्रयाग**—भारत का प्रसिद्ध तीर्थस्थान। जहाँ गंगा, यमुना और सरस्वती (त्रिवेणी) का संगम होता है। यह मध्यदेश की अन्तिम पूर्वीय सीमा है।

१०६. **प्राग्ज्योतिष**—आसाम प्रान्त की राजधानी कामरूप या कामाक्षा। कालिदास ने रघुवंश के चतुर्थ सर्ग में कामरूप और प्राग्ज्योतिषपुर को एक ही माना है। राजशेखर ने पर्वत का नाम कामरूप लिखा है। इसी पर्वत के नाम से देश का नाम भी कामरूप हुआ। प्राग्ज्योतिष के नाम से यह प्रतीत होता है कि ज्योतिष नाम के दो नगर थे। प्राग्ज्योतिष पूर्व दिशा का कामाक्षा है और उत्तर ज्योतिष अमर पर्वत के समीप है। महाभारत (सभापर्व, ३५।११) में इसका नाम आया है। रामायण (वालकांड, ३६।६) में प्राग्ज्योतिष की स्थापना का उल्लेख है।

१०७. **बर्बर**—राजशेखर ने इसे उत्तरी भारत के जनपदों में लिखा है। पुराणों के अनुसार भी यह देश उत्तर या उत्तर पश्चिम माना गया है। कनिंघम के अनुसार यह सिन्धु नदी का तटवर्त्ती 'गम्बूरा' नामक स्थान है। यह चन्दन का उत्पत्तिस्थान है। प्राचीन ग्रन्थों में बार्बरिक चन्दन का नाम आता है। यह बर्बर देश सिन्धु नदी के पश्चिम तट पर स्थित बर्बरीक, बर्बरी और बर्बरीकम् नाम से भारत की पश्चिमोत्तर दिशा में स्थित है। राजशेखर के मतानुसार यह देश उत्तर दिशा में है। ऐसी स्थिति में यह बलूचिस्तान का उत्तरी भाग हो सकता है।

१०८. **बाह्लवेय**—राजशेखर ने उत्तर दिशा के जनपदों में इसकी गणना की है। यह सम्भवतः मुलतान के समीप का भाटिया नामक स्थान है। भारतीय और अरब इतिहासकारों ने भाटिया को मुलतान के पास एक सुदृढ किले के रूप में वर्णित किया है, जो सिन्धु नदी के तटपर स्थित था। कनिंघम के मतानुसार वाहिया या वहारिया मुलतान और अरोर या अलोर के बीच था।

१०९. **वाह्लीक**—प्राचीन ग्रन्थों में वाह्लीक और वाहीक नामों में बहुत गड़बड़ी देखी जाती है। वाहीक पंजाब और पंचनद का भाग था तथा वाह्लीक भारत की उत्तर-पश्चिम सीमा का देश था। यह कम्बोज, लम्पाक आदि के पास था। वाह्लीक देश की हींग और केसर प्रसिद्ध है। कोषों में हींग और केसर का नाम ही वाह्लीक है। वाह्लीक वाहीक से भिन्न वर्त्तमान बदख्शाँ का एक भाग होना चाहिए। वाह्लीक के वैद्य कांकायन का नाम आयुर्वेद में अत्यधिक सम्मान के साथ लिया जाता है। वर्त्तमान वलख वाह्लीक था।

११०. बिन्दुसर—यह हिमालय का एक गुप्त सरोवर है। यहीं से गंगानदी का उद्गम होता है। यह प्रसिद्ध गंगोत्री के स्थान से दो मील दक्षिण की ओर है। यहीं से चक्रवर्त्ती-क्षेत्र प्रारम्भ होता है।

१११. बृहद्गृह—राजशेखर ने इसे पूर्व दिशा के पर्वतों में लिखा है। यह हिमालय की पूर्वीय श्रेणी में गौरीशंकरशृंग (एवरेस्ट माउण्ट) का नाम है। यह कुछ ऐतिहासिकों का मत है।

११२. ब्रह्म—पूर्वदिशा का वह देश, जिसे वर्त्तमान अपर और लोअर बर्मा कहा जाता है।

११३. ब्रह्मशिला—यह कान्यकुब्ज जनपद की पूर्वीय सीमा पर स्थित एक स्थान है। यह सम्भवतः गया की ब्रह्मशिला पहाड़ी है।

११४. ब्रह्मोत्तर—यह पूर्व दिशा का जनपद है, जो बर्मा का उत्तरीय भाग या अपर बर्मा है।

११५. ब्राह्मणवाह—राजशेखर ने इसे उत्तरीय देश के जनपदों में लिखा है। कनिंघम के मतानुसार ब्राह्मण नामक नगर अलेक्जेण्डर द्वारा आक्रान्त हुआ था। ग्रीक-लेखक हरभवालिया ने इसका उल्लेख किया है। इसका संस्कृत नाम ब्राह्मणस्थल था। मुसलमानों ने इसका नाम ब्राह्मणाबाद रखा। इसका वास्तविक नाम ब्राह्मणवाह था। यह सिन्धु नदी के पूर्वीय तट पर स्थित था।

११६. भादानक—भादानक देश भारत की किस दिशा में है, इसकी चर्चा राजशेखर ने नहीं की है। भादानक, टक्क और मरु—इन तीन देशों का नाम भाषाओं के प्रसंग में आया है कि किस देश के व्यक्ति किस भाषा का अधिक प्रयोग करते हैं। इसी प्रसंग में अपभ्रंश-भाषा बोलनेवाले देशों में इन तीन देशों के नाम आये हैं। इनमें मरु शब्द का प्रयोग तो राजस्थान या मारवाड़ के लिए किया गया है, किन्तु भादानक देश के सम्बन्ध में ऐतिहासिक विद्वानों का मतभेद है।

पाली-भाषा की पुस्तकों में भादीय या भादी नगर का नाम आता है। इस नगर की यात्रा जैनसम्प्रदाय के अन्तिम तीर्थङ्कर महावीर ने की थी। अतः, नन्दूलाल दे का मत है कि बिहार के भागलपुर नगर से आठ मील दक्षिण भादिया या भदरिया गांव भादानक था। किन्तु, राजशेखर का भादानक इससे भिन्न राजस्थान और टक्क देश के आसपास कहीं होना चाहिए, जो उत्तरीय भारत का एक देश होगा। महाभारत (सभापर्व, अध्याय ३२) में भाटधान या भादानक जनपद का नाम आता है, जो उत्तर भारत में था। यह विनशन (थानेसर) से सतलज के मध्य का भाग होना चाहिए, जो भाषा की दृष्टि से राजस्थान से मिलता-जुलता है। भटिंडा, पेप्सू, अम्बाला आदि इसमें आ सकते हैं। यह भी सम्भव है कि मुलतान के आसपास का स्थान या उससे उत्तर का प्रदेश हो, जहाँ 'भाटी' लोगों का राज्य था।

११७. भृगुकच्छ—गुजरात का प्रसिद्ध भड़ोच या ब्रोच जनपद ही भृगुकच्छ है। यूनानी लेखक 'टाल्मी' ने इसे 'बारिगज' लिखा है।

११८. भैमरथी—दक्षिण देश की प्रसिद्ध नदी। भीमा का जहाँ कृष्णा के साथ संगम होता है, वहाँ इसका नाम भैमरथी हो जाता है।

११९. मगध—विहार या दक्षिणी विहार। इसकी प्राचीन राजधानी गिरिव्रज थी, जिसे आजकल राजगृह भी कहते हैं। यहाँ पाँच पर्वत हैं, जिनके कारण इसका नाम गिरिव्रज कहा जाता है। ये पाँच पर्वत—विपुलगिरि, रत्नागिरि, उदयगिरि, शोणगिरि और वैभारगिरि या व्याहारगिरि हैं। इसकी दूसरी राजधानी पाटलिपुत्र है। प्राचीन साहित्य में मगध का नाम कीकट भी लिखा है। महाभारत में मगध का नाम कीकट आया है। पुंड्र आदि देशों के समीप का मगध-प्रदेश शूद्र प्रकृति का हो गया था, अतः उसका नाम कीकट रखा गया। राजगृह आदि नगर कीकट में थे (वायुपु०, १०८, ७३)। निरुक्तकार यास्क ने कीकट को अनार्य-निवास या अनार्य-देश लिखा है (दे० नि०, ६, ३२)।

१२०. मंजर—देखिए, पालदेश का विवरण।

१२१. मध्यदेश—इस देश की सीमा इस प्रकार है—पश्चिम में सरस्वती (कुरुक्षेत्र), पूर्व में प्रयाग, दक्षिण में विन्ध्य और उत्तर में हिमालय। अन्तर्वेदी और पांचाल भी इसी देश के आन्तरिक भागों के नाम हैं।

१२२. मरु—राजपूताना या मारवाड़।

१२३. मलद—शाहाबाद या आरा जिले का एक भाग, जो विहार-प्रान्त में है। राजशेखर ने इसे पूर्व भारत के जनपदों में लिखा है। कुछ लोग बंगाल-प्रदेश के मालदह जिले को मलद मानते हैं।

१२४. मलय—दक्षिण देश की पर्वतश्रेणियों का वह प्रदेश, जो कावेरी के दक्षिण तक फैला है। मैसूर से ट्रावनकोर तक फैली हुई पर्वतमाला का नाम मलयश्रेणी है। मैसूर की दक्षिण-पूर्व सीमा के घाट का ही नाम सम्भवतः दर्दुर हो, जिसे कालिदास ने मलय के साथ लिखा है (दे० रघुवंश, सर्ग ४)। दर्दुर का बम्बई के 'दादर' क्षेत्र से भी मिलान किया जा सकता है। किन्तु, राजशेखर का दर्दुर पूर्वी भारत की पर्वतश्रेणी है।

१२५. मल्लवर्त्तक—राजशेखर ने पूर्वी भारत के जनपदों में इसकी गणना की है। यह मालवा या मल्लदेश (मुलतान) नहीं कहा जा सकता; क्योंकि यह पूर्वी भारत का प्रदेश नहीं है। यह मल्ल पर्वत के आसपास का प्रदेश है, जो मल्लपर्वत के नाम से प्रसिद्ध था। यह मल्लवर्त्तक पार्श्वनाथ हिल के नाम से प्रसिद्ध है। अतः, यह देश विहार के हजारीबाग और मानभूमि जिलों का भू-भाग है। महाभारत के अनुसार दो मल्लराष्ट्र थे। दक्षिण मल्ल भोगवान् पर्वत के समीप था (दे० सभापर्व, ३२, १२)। भीष्मपर्व (९, ४४) में भी मल्लराष्ट्र का नाम आता है। जैनग्रन्थों के अनुसार पावा और कुशीनगर इसकी राजधानी थे।

१२६. महाराष्ट्र—इसे आजकल मराठा प्रदेश कहते हैं। यह महाराष्ट्र प्रदेश

गोदावरी के ऊपरी भाग से कृष्णा नदी तक का विस्तृत भू-भाग है। इसे रामायण में दंडकारण्य कहा गया है (दे० भंडारकर का दक्षिण का इतिहास, २)।

१२७. **मही**—एक नदी, जो मालवा प्रदेश से निकलकर कच्छ की खाड़ी में गिरती है। मही और नर्मदा के मध्य भाग का नाम माहेय है।

१२८. **महेन्द्र**—राजशेखर ने महेन्द्र को दक्षिण दिशा का पर्वत लिखा है। कालिदास ने रघुवंश में इसे कलिंग देश का पर्वत माना है। राजशेखर ने इसे दक्षिण पर्वतों में लिखा है और कलिंग को पूर्व जनपदों में लिखा है। गंजाम जिले के पास महेन्द्र पर्वत, कलिंग देश की ऊपरी सीमा बनता है। महानदी और गोदावरी के मध्य का पूर्वी घाट महेन्द्रमाला से व्याप्त है।

१२९. **महोदय**—कान्यकुब्ज या कन्नौज का नाम है। इसका नाम गाधि-नगर या गाधिपुर और महोदय भी है। राजशेखर के समय यह देश अतिसमृद्ध और सभ्य था।

१३०. **मालव**—मालव या अवन्तिदेश। इसकी राजधानी उज्जयिनी थी। इसी का पूर्वी भाग दशार्ण देश कहा जाता था। इसकी राजधानी विदिशा या भेलसा कही जाती थी। आजकल के उज्जयिनी, धौलपुर (दशपुर) और धरा (धार) मालव देश के अन्तर्गत थे। वात्स्यायन कामसूत्र-जयमंगला टीका के अनुसार उज्जयिनी का उत्तर-पश्चिम देश अपर-मालव कहलाता था। महाभारत में इसे प्रतीच्य-मालव कहा गया है (दे० भीष्मपर्व, ११७, ३३, ११६, ८५)।

१३१. **माल्यशिखर**—पश्चिमी भारत का एक पर्वत। रामायण में वर्णित एक माल्यवान् पर्वत प्रसिद्ध है, जहाँ सुग्रीव की प्रार्थना पर श्रीरामचन्द्र ने वर्षाकाल व्यतीत किया था। परन्तु, यह माल्यवान् दक्षिणापथ का पर्वत है। राजशेखर का यह माल्य-शिखर मालवा के समीप-स्थित विन्ध्य-पर्वतमाला की एक चोटी प्रतीत होता है।

१३२. **माहिषक**—नर्मदा के निचले भाग का वह प्रदेश, जिसकी राजधानी माहिष्मती नगरी थी।

१३३. **माहिष्मती**—वर्त्तमान महेश्वर नामक स्थान माहिष्मती नगरी है, जो इन्दौर से ४० मील दक्षिण नर्मदा के तट पर अवस्थित है। राजशेखर ने इसे दक्षिणापथ के जनपदों में लिखा है।

१३४. **मुरल**—कालिदास ने रघुवंश के चतुर्थ सर्ग में सह्य पर्वत और अपरान्त देश के निकट मुरला नाम की नदी का वर्णन किया है। केरल से अपरान्त तक सह्य पर्वत के आसपास फैले हुए भू-भाग का नाम मुरल है। यह मुरला नदी के तटपर बसा हुआ एक जनपद है। सम्भवतः, यह मिरज देश है, जिसके भीतर बहती हुई मुलमुधा या मुरला नदी भीमा नदी के साथ संगम करती है। कुछ ऐतिहासिक केरल देश की काली नदी को मुरला मानते हैं। भवभूति ने भी उत्तररामचरित में इसका वर्णन किया है।

१३५. **मेकल**—विन्ध्य-पर्वतश्रेणी का एक भाग, जिसे अमरकंटक कहते हैं।

यहाँ से नर्मदा नदी का उद्गम होता है। इसी अमरकंटक का नाम मेकल है और इससे प्रसूत नर्मदा नदी का नाम मेकलकन्यका।

१३६. **मेरु**—इसे महामेरु कहते हैं। यह जम्बूद्वीप के मध्य में अवस्थित है। यह चारों ओर इलावृत्त वर्ष से घिरा हुआ है।

१३७. **यमुना**—प्रसिद्ध यमुना नदी (दे० कलिन्द)।

१३८. **यवन**—राजशेखर ने भारत के पश्चिमी भाग में यवन देश का अस्तित्व माना है। यह या तो ईरान के लिए प्रयुक्त हुआ है या पश्चिमोत्तर प्रदेश में रहनेवाले यूनानियों के उपनिवेश-क्षेत्र के लिए, जो इस राजशेखर के समय केवल इतिहास की वस्तु रह गया था।

१३९. **रत्नवती**—मलय-पर्वतमाला की एक नगरी। इसका वर्णन एक कथानक में आया है।

१४०. **रमठ**—राजशेखर के मतानुसार उत्तरीय भाग में रमठ देश है। कनिंघम के अनुसार यह रोमक पर्वत का समीपवर्त्ती भू-भाग है। सिन्धु नद के उत्तर यह समवान् या रौमक पर्वत है, जो साल्ट रेंज कहा जाता है। इसे नमक का पहाड़ कहते हैं। इसके समीप का देश रमठ कहा जाता है। रामठ नाम हींग का है। रमठ देश में उत्पन्न होने के कारण ही इसका नाम रामठ है। अतः, यह निश्चय ही उसी दिशा में है।

१४१. **रावणगंगा**—राजशेखर ने इसे दक्षिण दिशा की नदी माना है, किन्तु इसके सम्बन्ध में कुछ पता नहीं चलता कि यह वर्त्तमान समय में किस नाम से प्रसिद्ध है।

१४२. **लंका** लंका के सम्बन्ध में ऐतिहासिक विद्वानों का मतभेद है। वर्त्तमान समय में सिंहलद्वीप या सीलोन को लंका माना जाता है। राजशेखर के मत से सिंहलद्वीप लंका से पृथक् माना गया है। बालरामायण नाटक के दशम अंक में लंका-विजय करके पुष्पकविमान द्वारा लौटते हुए श्रीरामचन्द्र को विभीषण कहता है कि **पश्यस्यग्रे जलधिपरिखं मण्डलं सिंहलानाम्**। अतः, यह लंका से आगे और कुमारीद्वीप के पहले था। दूसरे, लंका का सीधा रास्ता रामेश्वरम् से न होकर त्रावंकोर से ठीक पड़ता है। अतः, मेडागास्कर नामक वर्त्तमान द्वीप को लंका माना गया है। यहाँ सोने की खानें भी मिलती हैं। इससे भी सिद्ध होता है कि सोने की लंका सम्भवतः यही हो। ऐसा भी ऐतिहासिकों का मत है। यह मत राजशेखर से मिलता है।

१४३. **लाट**—यह देश दक्षिणी गुजरात और खानदेश को मिलाकर लाट कहा जाता था। माही और महोवा के निचले भू-भाग लाट देश में थे। लाटदेश-वासी संस्कृत बोलने में मन्द और प्राकृत-भाषण में प्रौढ होते हैं। राजशेखर ने लाट देश का पर्याप्त वर्णन किया है। वर्त्तमान भड़ोच, बड़ौदा, अहमदाबाद और खेड़ा के जिले लाट देश में थे।

१४४. **लम्पाक**—राजशेखर ने लम्पाक जनपद का अस्तित्व उत्तरीय भारत में लिखा है। कनिंघम के मतानुसार यह हुएनत्सांग का 'लोपो' नगर, टाल्मी का 'लम्बाट्ट' नगर और वर्त्तमान समय का 'लमगान' नामक नगर है। यह लम्पाक-जनपद काबुल नदी

के उत्तरीय तट पर अज्ञीनगर से पश्चिम कुनार नदी से पूर्व और स्नो-पर्वत से उत्तर है। यह पेशावर-काबुल के बीच जलालाबाद (नगरहार) से उत्तर-पश्चिम की ओर पड़ता है। यत्र-तत्र लम्पाक नगरहार नाम भी मिलता है। लम्पाक नामक ज्यौतिष का एक प्रसिद्ध ग्रन्थ है। कवियों के वर्णन में भी चन्द्रभागा के ऊपरी देशों में लम्पाक का होना प्रतीत होता है, जो उचित नहीं है।

१४५. **लोहितगिरि**—यह पूर्व भारत का एक पर्वत है, जो हिमालय-पर्वत-माला की पूर्वी श्रेणी में है। यहीं लौहित्य प्रदेश है और एक लोहित नदी बहती है। यह असम प्रदेश के पूर्वोत्तर भाग में स्थित और आजकल 'नेफा' या पूर्वोत्तर सीमान्त प्रदेश का एक डिविजन 'लोहित' नाम से प्रसिद्ध है। सन् १९६२ ई० के अक्टूबर मास में जो चीनी आक्रमण हुआ, उसके कारण यह प्रदेश बहुत प्रसिद्ध हो गया।

१४६. **लौहित्य**—ब्रह्मपुत्र नद का नाम है। यह लोहितगिरि या लोहित-सरोवर से निकलकर तिब्बत की सीमा पर पूर्व की ओर बहता हुआ और हिमालय की परिक्रमा करके दक्षिण की ओर आसाम से होता हुआ बंगाल में गंगा से मिलता है और सहस्रमुख होकर बंगाल की खाड़ी में गिरता है। इसकी लम्बाई १८०० कोस है।

१४७. **वंग**—बंगाल प्रदेश। इसे समतट देश भी कहते हैं। किसी समय टिपरा और गारो पर्वत तक इसकी सीमा थी।

१४८. **वंजुला**—यह वंजुला या मंजुला गोदावरी की सहायक नदी है। इसका उद्गम पश्चिमी घाट या सह्य-पादपर्वत से होता है। वंजुला नाम बेंत का है। सम्भव है, इसमें बेंत उत्पन्न होने से वेत्रवती के समान इसका नाम वंजुला पड़ गया हो।

१४९. **वत्सगुल्म**—यह विदर्भ प्रान्त का एक नगर है। कर्पूरमंजरी में इसकी चर्चा की गई है। महाभारत के वनपर्व में वंशगुल्म नामक स्थान का वर्णन है, जहाँ से नर्मदा का स्रोत निकला है। कामसूत्र में इसका नाम वत्सगुल्मक कहा गया है। कामसूत्र की टीका 'जयमंगला' में लिखा है—'दक्षिणापथ में वत्स और गुल्म नाम के दो सहोदर राजपुत्र थे। उनके द्वारा शासित देश का नाम वत्सगुल्म है।' बृहत्कथामंजरी में भी लिखा है—

अभूतां दाक्षिणात्यस्य द्विजातेः सोमशर्मणः।
वत्सगुल्माभिधौ पुत्रौ' ··· ··· ···॥ (बृ० क० मं०, १, ३, ४)

१५०. **वरुण**—भारत के नौ भागों में एक भाग का नाम। यह सम्भवतः वर्त्तमान वोर्नियो है। पुराणों में इसे वारुणद्वीप भी कहा है।

१५१. **वर्णा**—राजशेखर ने दक्षिण भारत की नदियों में इसका नाम लिखा है। यह सह्य पर्वत से निकलती है।

१५२. **वल्लार**—यह दक्षिण भारत के वल्लाल-वंश द्वारा शासित भू-भाग वल्लार कहा जाता है। मद्रास प्रान्त में वंकटगिरि, चित्तूर और वेल्लौरी जिलों का यह सम्मिलित भू-भाग है।

१५३. **वल्हव**—उत्तरीय भारत के देशों में इसकी गणना की गई है। यह

सम्भवतः राजतरंगिणी में वर्णित वल्लपुर या वर्त्तमान वल्लार है। यह कश्मीर के दक्षिण-पूर्व की ओर है।

१५४. **वानायुज**—राजशेखर द्वारा यह उत्तर भारत में उल्लिखित किया गया है। यह अरव देश है। कालिदास ने वनायु देश के घोड़ों की चर्चा रघुवंश में की है। कौटिल्य ने भी अर्थशास्त्र में घोड़ों के लिए इस देश को उत्कृष्ट माना है।

१५५. **वानवासक**—यह उत्तर कनारा देश है। टाल्मी ने इस देश का नाम 'पनाउसी' लिखा है। यह वरदा नदी के वायें तट पर वसा है, जो वरदा तुंगभद्रा की सहायक नदी है। वनवासी कदम्ब-वंश के राजाओं की राजधानी थी। इसके प्रवर्त्तक राजा का नाम मयूरध्वज था।

१५६. **वामनस्वामी**—वामनस्वामी का यह मन्दिर कन्नौज के पश्चिमी भाग में है। पद्मपुराण के सृष्टिखंड में लिखा है कि अयोध्या के राजा रामचन्द्र ने महोदय या कान्यकुब्ज नगर में विष्णु के अवतार वामनस्वामी का मन्दिर स्थापित किया था (दे० नन्दूलाल दे का भौगोलिक कोष, पृ० ८६)।

१५७. **वाराणसी**—प्रसिद्ध नगरी काशी या बनारस। बनारस के समीप का भू-भाग इसी नाम से प्रसिद्ध था।

१५८. **वार्त्तघ्नी**—राजशेखर ने पश्चिमी भारत की नदियों में इसका उल्लेख किया है। वह सम्भवतः सावरमती की सहायक नदी वात्रक है, जो खेड़ा के पास सावरमती से मिलती है।

१५९. **वाहीक**—यह व्यास और सतलज के मध्य का भूभाग है, जो कैकयदेश के उत्तर में है। त्रिकांडशेषकोष के अनुसार यह त्रिगर्त्त देश का नाम है। वाह्लीक, वाहीक या जर्त्तीक के नाम से यह देश प्रसिद्ध है। महाभारत (कर्णपर्व, अ० ४४) में लिखा है कि ये वाहीक बलख की ओर से भारत में आये और उन्होंने रावी के पश्चिम शाकल या स्यालकोट को अपनी राजधानी बनाया। कनिंघम ने अपने नोट (पृ० ६८३) में इसकी पुष्टि की है। कैयट ने इन्हें बहिस् लिखा है और इनसे गौ की उपमा देते हुए 'गौर्वाहीकः' शब्द का प्रयोग किया है।

१६०. **वाहीक**—यह पंचनद देश का नाम है। इसे आरट्ट और टक्क भी कहते हैं। कुवलयमालाकथा में इसे टक्क देश लिखा है। राजशेखर ने भी इसे टक्क लिखा है। महाभारत के टीकाकार नीलकंठ ने इस देश का परिचय लिखा है—**पञ्चानां सिन्धुषष्ठानां नदीनां यत्र सङ्गमः। वाहीका नाम ते देशाः।** महाभारत, महाभाष्य और अष्टाध्यायी में वाहीक देश के अनेक नगरों और ग्रामों के नाम आते हैं। कैयट ने वाहीकों की उपमा गौ से दी है। सरस्वतीकण्ठाभरण में इन्हें बाहरी कहा गया है : **बहिर्भवो वाहीकः।** शतपथब्राह्मण में लिखा है कि रुद्र का शर्व नाम पूर्व देश में और भव नाम वाहीकों में प्रचलित है (दे० स० कं०, १. ७. ३. ८)। भरत-नाट्यशास्त्र के अनुसार वाहीक लोग उदीच्य भाषा का प्रयोग करते थे। मध्यदेशवासी वाहीकों को प्रायः अनार्य-वृत्ति का समझते थे।

१६१. **वितस्ता**—पंजाब की प्रसिद्ध झेलम नदी।

१६२. **विदर्भ**—यह बरार और खानदेश के कुछ भाग को मिलाकर एक भू-भाग का नाम था। कालिदास ने विदर्भ और क्रथकैशिक दोनों देशों को एक ही लिखा है। यह भारत का प्राचीन और प्रसिद्ध राज्य है। समय-समय पर इसकी सीमाओं और राजधानियों में प्रायः परिवर्त्तन होता रहा है। कुन्तल देश के उत्तरीय भाग से और कृष्णा के तट से नर्मदा के मध्य का भाग विदर्भ था। वर्त्तमान समय में इसका व्यापक नाम महाराष्ट्र है। वरदा नदी विदर्भ को दो भागों में विभक्त करती है। उत्तरी भाग का प्रधान स्थान अमरावती और दक्षिण भाग का प्रतिष्ठान या पैठन है।

१६३. **विदेह**—विहार प्रान्त का तिरहुत जनपद, जिसकी राजधानी मिथिला थी। यह देश मगध के उत्तर में है। यह उत्तर की ओर से नेपाल से सुरक्षित है। सीतामढ़ी, जनकपुर और सीताकुंड तिरहुत का उत्तरी भाग और चम्पारन का पश्चिमोत्तर भाग प्राचीन विदेह में था। यह भारत का अति प्राचीन और प्रसिद्ध प्रदेश है। इसका प्राचीन नाम तीरभुक्ति भी है, जिसका अपभ्रंश तिरहुत है। यह नाम प्रायः गुप्तों के समय मिला है।

१६४. **विनशन**—जहाँ सरस्वती नदी लुप्त हुई। यह स्थान थानेसर से पश्चिम की ओर है।

१६५. **विन्ध्य**—प्रसिद्ध विन्ध्य पर्वत या विन्ध्य-पर्वतमाला की वह शाखा, जिसका नाम सतपुड़ा है। यह ताप्ती और नर्मदा का मध्य भाग है।

१६६. **विपाशा**—पंजाब की एक प्रसिद्ध नदी। यह कुल्लू के ऊपर व्यासकुंड से निकलकर पंजाब के मैदानों में आकर सतलज से मिलती है। इसका प्रसिद्ध नाम व्यास है।

१६७. **विशाला**—अवन्तिदेश की प्रधान नगरी का एक नाम, उज्जयिनी।

१६८. **वेणा**—कृष्णा नदी की एक सहायक नदी (दे० वर्णा)।

१६९. **वैदिश**—भोपाल राज्य में वेत्रवती या बेतवा नदी के तटपर भिलसा के नाम से प्रसिद्ध विदिशा नगरी के आसपास का भू-भाग वैदिश कहलाता है। यह विदिशा या भेलसा नगरी भोपाल से २६ मील दक्षिण-पूर्व है। यह दशार्ण देश की राजधानी थी। सम्राट् पुष्यमित्र का पुत्र अग्निमित्र अपने पिता के समय इसी नगर में राज्यपाल (गवर्नर) के रूप में निवास करता था। कालिदास के मालविकाग्निमित्र नाटक में इसकी चर्चा है। बाणभट्ट की कादम्बरी का प्रधान नायक शूद्रक विदिशा का राजा था।

१७०. **बोक्काण**—यह हिन्दुकुश पर्वत का बदख्शान नगर है। कनिंघम ने इसे अफगानिस्तान माना है। यह मत प्रामाणिक मालूम होता है। बदख्शान सम्भवतः वाह्लीक देश का नाम था।

१७१. **शक**—शक लोगों ने भारत में प्रवेश कर जहाँ सर्वप्रथम अपना स्थान बनाया, उसे शकस्थान कहते हैं। यह पंजाब का प्रसिद्ध नगर स्यालकोट है। भारत में प्रथम आनेवाले ग्रीक राजा दमित्रस्, मिहिरकुल और हूण सभी पहले-पहल इसी देश में आये तथा यह परम्परा पाँचवीं शताब्दी तक प्रचलित रही। दरद देश से पश्चिम की ओर वक्षु

(आक्सस) या चक्षु (जिहुँ) नदी के तट पर शकों का निवास था। पुराणों में इस देश को शकद्वीप कहा है। नन्दूलाल दे के भौगोलिक कोष में पुराणों के शकद्वीप की यूनानी के लेखक टाल्मी के सीथिया से अपूर्व तुलना की गई है। टाल्मी का वर्णन पुराणों के लेखों से अत्यधिक मिलता है। यवन और काम्बोजों के समान शक कभी आर्य थे। वे ब्राह्मणादर्शन से म्लेच्छ हो गये। महाभाष्य में **शकयवनम्** समास से आर्यावर्त्त से निर्वासित शूद्रों का ग्रहण है। चरकसंहिता में लिखा है कि शक लोग यवनों के समान मांस, गेहूँ और माध्वीक का सेवन करते थे।

१७२. **शतद्रु**—पंजाब की प्रसिद्ध नदी है। यह सतलज के नाम से प्रसिद्ध है।

१७३. **शिप्रा**—मालवा की प्रसिद्ध नदी, जिसके तट पर उज्जयिनी नगरी बसी है। कालिदास ने अपने मेघदूत में शिप्रा का वर्णन किया है।

१७४. **शुक्तिमान्**—यह हिमालय पर्वत की श्रेणी का एक भाग है, जो भारत के कुल पर्वतों में एक है। नेपाल की हिमालय स्थित शाखा का नाम शुक्तिमान् है।

१७५. **शूरसेन**—शूरसेन राज्य की राजधानी मथुरा थी। राजशेखर ने इसे उत्तर दिशा के देशों में उल्लिखित किया है और शूरसेन के किसी कुविन्द नामक राजा की भी चर्चा की है। इसके अन्तःपुर में ट, ठ, ड, ढ, ख और घ आदि कठोर अक्षरों का उच्चारण वर्जित था। विविधतीर्थकल्प में लिखा है कि शूरसेन जनपद में पाँच स्थल और बारह वन थे।

१७६ **शृङ्गवान्**—यह महामेरु के उत्तर की ओर तीसरा पर्वत है, जो उत्तर कुरुवर्ष का पर्वत है।

१७७. **शोण**—पूर्वदेश का प्रसिद्ध नद शोण, जो गोंडवाना से निकलकर पटना से पश्चिम मनेर के समीप गंगा से मिलता है।

१७८. **श्रीपर्वत**—राजशेखर ने दक्षिण भारत में इस पर्वत का उल्लेख किया है। यह प्रसिद्ध श्रीशैल भारत के विख्यात तीर्थों में है। इसमें द्वादश ज्योतिर्लिङ्गों में एक मल्लिकार्जुन शिव का मन्दिर है : **श्रीशैले मल्लिकार्जुनम्**। यह स्थान सेंट्रल रेलवे के कृष्णा स्टेशन से ५० मील दूर कुरुनुल नगर के समीप है[1]।

१७९. **श्वभ्रवती**—यह गुजरात की प्रसिद्ध साबरमती नदी है। श्वभ्रवती का अपभ्रंश साबरमती है। यह उत्तरी गुजरात से चलकर कच्छ की खाड़ी में गिरती है।

१८०. **श्वेतगिरि**—यह महामेरु से उत्तर दूसरा पर्वत है, जिसपर हिरण्यवर्ष स्थित है।

१८१. **सरयू**—उत्तरप्रदेश की प्रसिद्ध नदी सरयू, जिसके तटपर अयोध्या स्थित है। यह नदी कुमाऊँ की शैलमाला से निकलकर छपरा के पास गंगा से संगम करती है।

---

१. इसका वर्णन भवभूति ने 'मालतीमाधव' में किया है। उस समय के साहित्य में यह तन्त्र-मन्त्र का प्रधान क्षेत्र माना जाता था। नागार्जुन ने वहीं सिद्धि प्राप्त की थी। प्रसिद्ध चौरासी सिद्धों के पदों में भी इसका वर्णन आता है।

१८२. **सरस्वती**—राजशेखर ने दो नदियों का नाम सरस्वती रखा है, उनमें एक उत्तर भारत की सरस्वती है और दूसरी पश्चिम भारत की। उत्तर भारत की सरस्वती थानेसर और पृथूदक (पिहोवा) के पास बहती हुई विनशन में लुप्त हो जाती है। पश्चिमी सरस्वती बड़ौदा के पट्टन के समीप बहती है। इसकी एक छोटी शाखा कच्छ की ओर जाती है। उदयपुर के पास घेवर झील से इस सरस्वती का उद्‌गम होता है।

१८३. **सहुड़**—राजशेखर ने इसे उत्तरी भारत के जनपदों में लिखा है। यह पश्चिमी अफगानिस्तान का एक भाग है। इसे वर्त्तमान समय में 'सफेदकोह' और 'सब्ज बाजार' नाम से कहा जाता है।

१८४. **सह्य**—दक्षिण भारत के प्रसिद्ध पर्वतों में है, जो पश्चिमी घाट में स्थित है। उसके दक्षिण की ओर कावेरी और उत्तर की ओर गोदावरी बहती है।

१८५. **सिन्धु**—भारत के उत्तरी भाग में सिन्ध के नाम से प्रसिद्ध है। इसे अँगरेजी में इण्डस् कहा जाता है। इसकी शाखाएँ अनेक नामों से प्रसिद्ध हैं। महाभारत-काल में सिन्धु नाम का महाजनपद था। इसके अन्तर्गत दस राष्ट्र और थे।

१८६. **सिंहल**—प्रसिद्ध सीलोनद्वीप का नाम सिंहल है। राजशेखर के मत से यह लंका के अतिरिक्त एक द्वीप है (दे० लंका)।

१८७. **सौराष्ट्र**—भारत की पश्चिम दिशा का प्रसिद्ध काठियावाड़ जनपद और गुजरात प्रदेश का कुछ भाग सौराष्ट्र के नाम से कहा जाता है। द्वारका नगरी इसी देश की राजधानी थी। इसे आनर्त्त देश भी कहते हैं। कुछ दिनों तक वलभी भी इसकी राजधानी थी।

१८८. **सुह्म**—राजशेखर ने पूर्वी भारत के जनपदों में इसकी गणना की है। कालिदास ने रघुवंश के चतुर्थ सर्ग (३५, ३८ श्लोक) में इस देश की चर्चा कपिशा नदी के समीप की है। यह वंग और उत्कल देश के मध्य में स्थित बंगाल की खाड़ी के समीप का देश है। इसकी राजधानी ताम्रलिप्ति या प्रसिद्ध तामलुक थी। प्राचीन ग्रन्थों में इसके चार नाम पाये जाते हैं—ताम्रलिप्त, दामलिप्त, ताम्रलिप्ति या तमालिनी। यह वर्त्तमान तामलुक, कपिशा या कसया के दक्षिण तट पर अवस्थित है। प्राचीन समय में यह भारतीय व्यापार का प्रसिद्ध बन्दरगाह था। इसके निवासी सुम्हराढ़ कहे जाते हैं, जो पश्चिम बंगाल के निवासी हैं। वर्त्तमान मिदनापुर, हुगली और बर्दवान आदि जिले सुह्म में थे।

१८९. **सूर्पारक (शूर्पारक)**—राजशेखर के मतानुसार यह देश दक्षिण भारत में है, जो थाना (ठाणा) जिले का प्रसिद्ध सोपारा नामक जनपद है। यह बम्बई से दक्षिण ३७ मील और वासिम से दक्षिण पूर्व ४ मील है। प्राचीन समय में यह विस्तृत जनपद, एक राज्य रहा होगा। सूर्पारक कोंकण का एक प्रदेश है। मंख ने श्रीकण्ठचरित (२५, १००) में लिखा है, वहाँ जमदग्नि का निवासस्थान है। महाभारत (आरण्यक पर्व) में भी लिखा है :
वेदी शूर्पारके तात जमदग्नेर्महात्मनः।

१९०. **सौम्य**—पृथ्वी के नौ खंडों में एक। यह भारत के दक्षिण-पश्चिम की ओर है।

१९१. **हंसमार्ग**—इसे कालिदास ने मेघदूत में हंसद्वार या क्रौंचरन्ध्र लिखा है। पुराणों के अनुसार परशुराम ने अपने बाण से क्रौंच पर्वत का भेदन किया था। अतः, कालिदास ने इसे **भृगुपतियशोवर्त्म** लिखा है। यह कुमाऊँ से कैलास के मार्ग में आनेवाला प्रसिद्ध नीतिदर्रा है, जो भारत को तिब्बत से मिलाता है।

१९२. **हारहूरव (हारहूर)**—राजशेखर ने इसकी गणना उत्तरप्रदेश के जनपदों में की है। यह सिन्धु नदी और झेलम का मध्य भू-भाग प्रतीत होता है। यह गंडगढ़ पर्वत और नमक के पर्वतों के आसपास का स्थान है। कनिंघम का भी यही मत है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में हारहौर सुरा का वर्णन है। महाभारत के आरण्यक पर्व (अ० ४८) में इसका नाम हारहूण है—

पह्लवान् दरदान् खर्वान् किरातान् यवनान् शकान्।
हारहूणांश्च चीनांश्च तुषारान् सैन्धवाँस्तथा।
जागुडान् रमठान् मुण्डान् स्त्रीराज्यानथ तङ्गणान्॥ (२०—२१)

अन्यत्र हारपूरिक या हारहूरिक नाम भी मिलता है।

१९३. **हस्तिनापुर**—कुरु देश की प्रसिद्ध राजधानी, जिसे हास्तिन नाम के राजा ने बसाया था। यह गंगा के दक्षिण तट पर, मेरठ से २२ मील दूर उत्तर-पूर्व कोण में और दिल्ली से ५६ मील दक्षिण-पूर्व आज भी खंडहरों के रूप में विद्यमान है।

१९४. **हिडिम्बा**—राजशेखर ने हिडिम्बा नदी का उल्लेख पश्चिमी भारत की नदियों में किया है। इसे विन्ध्य से निकलनेवाली चर्मण्वती या चम्बल नदी माना जा सकता है। यह पश्चिम भारत में बहती हुई इटावा के पास एकचक्रा में यमुना से मिलती है। महाभारत के मतानुसार एकचक्रा नदी हिडम्ब वन के समीप है। यहीं भीमसेन ने हिडिम्ब को मारकर हिडिम्बा से विवाह किया था। यह चर्मण्वती नदी हिडिम्ब वन के समीप बहती है। सम्भवतः, इसके नामकरण का यही कारण हो।

१९५. **हिमवान्**—भारत का प्रसिद्ध पर्वत हिमालय।

१९६. **हिमालय**—भारत का प्रसिद्ध पर्वत।

१९७. **हूण**—राजशेखर ने इसे उत्तरी भारत का एक प्रदेश लिखा है। कालिदास ने रघुदिग्विजय में भी इस देश का नामोल्लेख उत्तर की ओर ही किया है और उन्होंने पारसीक या पर्शिया से इसके मार्ग का वर्णन किया है, जो वंक्षु (ऑक्सस) नदी को पार करने पर प्राप्त होता है।

१९८. **हुडुक्क**—यह उत्तर देश के जनपदों में एक है, जो कश्मीर का उत्तरी भू-भाग प्रतीत होता है। हुएनत्सांग जब पश्चिम से कश्मीर की घाटी की ओर गया, तब उसने 'हू-से-किया-लो' नगर में प्रवेश किया, जो हुष्कर (हुष्कपुर) कहा जाता था। राजतरंगिणी में वराह या वारामूला के समीप हुष्कपुर का वर्णन किया है। आज भी वेहट नदी के पूर्वतट पर 'हुष्कपुर' या 'उष्कर' नामक गाँव स्थित है, जो राजशेखर के

हुडुक जनपद का प्रतिनिधित्व करता है। सम्भव है, यह समूचे कश्मीर का नाम हो; क्योंकि उत्तरी भारत के देशों में राजशेखर ने कश्मीर का नाम नहीं लिखा है।

१६६. **हेमकूट**—यह एक वर्षपर्वत है, जो महामेरु के दक्षिण ओर का दूसरा पर्वत है। यह किंपुरुष वर्ष का प्रधान पर्वत है। यह पर्वत हिमवान्, हिमालय तथा भारत के उत्तर की ओर स्थित है। श्रीनन्दूलाल दे इसे नेपाल का पर्वत मानते हैं। कुछ ऐतिहासिक विद्वानों के मत से यह तिब्बत कहा जा सकता है।

परिशिष्ट-३

काव्यमीमांसा में उद्धृत ग्रन्थ और आचार्य

काव्यमीमांसा में जिन ग्रन्थों से उदाहरण दिये गये हैं, उनके नामों का उल्लेख राजशेखर ने नहीं किया है; किन्तु जिनका पता लग सका है, उनके नाम यहाँ दिये जाते हैं—

१. ऋग्वेद, २. यजुर्वेद, ३. शतपथब्राह्मण, ४ ऐतरेय ब्राह्मण, ५ निरुक्त, ६. पातंजल महाभाष्य, ७. रामायण, ८. महाभारत, ९. गीता, १०. रघुवंश, ११. कुमारसम्भव, १२. विक्रमोर्वशीय, १३. शाकुन्तल, १४. किरातार्जुनीय, १५. जानकीहरण, १६. कादम्बरी, १७. शिशुपालवध, १८. हयग्रीववध, १९. मालतीमाधव, २०. सूर्यशतक, २१ वेणीसंहार, २२ महानाटक, २३ महिम्नःस्तोत्र, २४. बालरामायण, २५. बालभारत एवं २६ विद्धशालभञ्जिका।

राजशेखर ने जिन साहित्यकारों एवं आलंकारिक आचार्यों के मत काव्यमीमांसा में उद्धृत किये हैं, उनके नाम ये हैं—

१. सुरानन्द, २. श्यामदेव, ३. वामन, ४. उद्भट, ५. आपराजिति, ६. द्रौहिणि, ७. रुद्रट, ८. कालिदास, ९. वाक्पतिराज, १०. अवन्तिसुन्दरी, ११. आनन्दवर्द्धन, १२. बौद्ध आचार्य पाल्यकीर्त्ति और १३. मंगल।

इनमें वामन, उद्भट, आनन्दवर्द्धन और रुद्रट प्रसिद्ध साहित्यकार हैं। कुछ विद्वानों के मत उनकी रचनाओं के अनुकूल वाक्यों द्वारा तर्कित किये गये हैं। अलंकारशास्त्र के प्रसिद्ध और सर्वप्राचीन विद्वान् भामह तथा दण्डी का नाम नहीं दिया गया है; यद्यपि उनके अनुयायियों के मत और भामह के अनेक विचारों पर स्पष्टरूपेण मीमांसा की गई है। अनेक विषयों के सूत्र उन्हें भामह द्वारा ही प्राप्त हुए हैं। उनके मतों का उल्लेख 'आचार्याः' के रूप में प्रायः प्राप्त होता है।

इसके अतिरिक्त वायुपुराण, ब्रह्माण्डपुराण, विष्णुधर्मोत्तरपुराण आदि के आधार लिये गये हैं। पाल्यकीर्त्ति, मंगल आदि जैन विद्वानों के उद्धरण भी दिये गये हैं।

भरत-नाट्यशास्त्र, वात्स्यायन-कामशास्त्र और कौटिलीय-अर्थशास्त्र के नामों का उल्लेख तो नहीं किया गया; किन्तु उनके भाव, उनकी शैली और कहीं कहीं उन ग्रन्थों के पूरे वाक्य भी उद्धृत किये गये हैं।

●

परिशिष्ट-४

ऐतिहासिक प्रकाश

राजशेखर की काव्यमीमांसा के अध्ययन से संस्कृत-साहित्य-सम्बन्धी कुछ ऐसी समस्याओं का समाधान होता है, जो कुछ दिनों से विद्वानों के लिए सन्देह का स्थान बनी हुई थीं। यहाँ हम संक्षेपतः उनकी चर्चा कर देना आवश्यक समझते हैं।

महाकवि भवभूति संस्कृत के प्रसिद्ध नाटककार हैं। उन्होंने महावीरचरित, उत्तररामचरित और मालतीमाधव नामक तीन नाटक लिखे हैं। इन तीनों का अभिनय उन्होंने भगवान् कालप्रियनाथ की यात्रा के अवसर पर कराया है। अतः, ऐतिहासिक विद्वानों में यह सन्देह का विषय बन गया कि कालप्रियनाथ कौन हैं? इन नाटकों के कतिपय टीकाकारों ने उज्जयिनी के महाकाल की ओर संकेत किया है। किसी ने विदर्भ देश के पद्मपुर नामक ग्राम के आसपास कालप्रियनाथ का अस्तित्व मान लिया है। इसका कारण यह है कि भवभूति ने अपना निवासस्थान नहीं लिखा है। दूसरे, ऐसे महाविद्वान् का उज्जैन जैसे विद्यानगरी के किसी राजा का आश्रित होना आवश्यक है। इस कल्पना के आधार पर भवभूति का उज्जयिनी के साथ आनुमानिक सम्बन्ध जोड़ा गया है। ऐसी स्थिति में कन्नौज के राजा यशोवर्मा के साथ भवभूति का या उनके नाटकों का सम्बन्ध जोड़ने में कोई तुक नहीं बैठता। अतः, ऐतिहासिकों के लिए यह एक समस्या थी।

राजशेखर के एक प्रकरण से इस समस्या का सुन्दर और समीचीन समाधान होता है। राजशेखर भी भवभूति के एक-दो शतकों के अनन्तर कन्नौज के राजा महेन्द्रपाल के गुरु रहे और उन्होंने भी अपनी नाट्य-रचनाएँ वहीं कीं। इतना ही नहीं; वे कन्नौज के परम भक्त थे। उन्होंने यहाँ की स्त्रियों के वेष-विन्यास को सारे भारत के लिए आदर्श माना है और यहाँ के काव्यपाठ की सबसे अधिक प्रशंसा की है। भौगोलिक वर्णन में उन्होंने प्रसंगानुसार कन्नौज की चौहद्दी का वर्णन करते हुए ब्रह्मशिला, वामनस्वामी, गाधिपुर और कालप्रियनाथ की चर्चा की है। वामनस्वामी का मन्दिर प्राचीन पुराणों में वर्णित है और वह कन्नौज के पास है। इसी प्रकार कालप्रियनाथ भी कन्नौज के एक भाग में थे। यह सर्वथा सम्भव है कि शिवरात्रि आदि के अवसर पर यहाँ विशाल मेला लगता होगा और उसी को लक्ष्य करके भवभूति ने अभिनय प्रदर्शन कराया हो और उनके स्वामी यशोवर्मा का उत्सव में पूर्ण सहयोग हो।

अतः भवभूति के द्वारा वर्णित कालप्रियनाथ उज्जैन या विदर्भ के कोई कल्पित कालप्रिय नहीं कन्नौज के कालप्रियनाथ हैं, यह निर्विवाद कहा जा सकता है। इस प्रकार, भवभूति के नाटकों की रचना का यशोवर्मा के समय उसके राज्य में होना संगत हो जाता है। काव्यमीमांसा में इसी प्रकार अन्य अनेक विचारणीय ऐतिहासिक स्थल हैं, जिनपर विस्तृत विमर्श करने का अवसर है। विस्तार-भय से यहाँ उनका उल्लेख नहीं किया गया।

●

अनुक्रमणिका

अनुक्रमणिका में (टि०) संकेत से टिप्पणी समझना चाहिए और उल्लिखित पृष्ठ-संख्याओं की टिप्पणी में शब्द को ढूँढ़ना चाहिए।

ह